ॐ तत्सत् ।

योगदर्शन ।



सूत्र, सूत्र का भाषानुवाद और भाषा भाष्य सहित ।



श्रीभारतधर्ममहामण्डल के शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा
श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णादानभंडार
के लिये प्रकाशित ।



काशी

द्वितीयावृत्ति ।



गणपति कृष्ण गुर्जर द्वारा—
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबड़ बनारस सिटी,
में मुद्रित ।

सन् १९२० ईस्वी ।

[मूल्य २) दो रुपया

572

ॐ तत्सत् ।

श्रीयोगदर्शन

सूत्र, सूत्रका भाषानुवाद और भाषाभाष्य सहित ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा
श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णादानभंडार
के लिये प्रकाशित ।

काशी

द्वितीयावृत्ति ।

गणपति कृष्ण गुर्जर द्वारा
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबड, बनारस सिटी में
मुद्रित ।

 सन् १९२० ई० [मूल्य २)

श्रीमहामण्डलके प्रधान पदधारिगण ।

प्रधान सभापतिः—

श्रीमान् महाराजा बहादुर दर्भंगा ।

सभापति प्रतिनिधिसभाः—

श्रीमान् महाराजा बहादुर काश्मीर ।

उपसभापति प्रतिनिधिसभाः—

श्रीमान् महाराजा बहादुर टीकमगढ़ ।

सभापति मन्त्री सभाः—

श्रीमान् महाराजा बहादुर गिद्धौड़ ।

प्रधान मंत्री प्रतिनिधि सभाः—

श्रीमान् आनरेबल के. भी. रंगस्वामी आयङ्गर,
जमींदार श्रीरंगम् ।

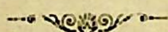
—:०:—

अन्यान्य समाचार जाननेका पता—

जनरल सेक्रेटरी ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल,

महामंडल भवन, जगत्‌गंज, बनारस ।



सूचना ।

श्रीभारतधर्म्म महामण्डलसे सम्बन्धयुक्त आर्य्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्, आर्य्यमहिला पत्रिका, आर्य्यमहिला महाविद्यालय, उपदेशक महाविद्यालय, समाजहितकारी कोष, महामण्डल मेगजीन (अंगरेजी), निगमागमचन्द्रिका, निगमागम बुक्‌डिपो, श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दानभण्डार, शास्त्रप्रकाशक विभाग, एरियन बोरो आदि विभागोंसे तथा श्रीभारतधर्म्म महामण्डलसे पत्र व्यवहार करनेका पताः—

श्रीभारतधर्म्म महामण्डल प्रधान कार्य्यालय,

महामण्डल भवन, जगत्‌गंज, बनारस ।

श्रीपतञ्जलये नमः ।

श्रीयोगदर्शनके हिन्दीभाष्यकी प्रस्तावना ।

मनुष्य समाजमें जिस प्रकार शिल्पोन्नतिसे उसके बहिर्जगत्की उन्नति जानी जाती है उसी प्रकार दर्शनशास्त्रकी उन्नतिसे उसके अन्तर्जगत्की उन्नति समझी जाती है। जिस मनुष्यसमाजने जब जितना शिल्पोन्नतिसाधन किया है वह मनुष्यसमाज उस समय उतनेही परिमाणसे बहिर्जगत्सम्बन्धीय उन्नतिके पथमें अग्रसर हुआ है। शिल्पकी उन्नतिके साथही साथ मनुष्य समाजमें पदार्थ-विज्ञान (सायेन्स) की उन्नति हुआ करती है। पदार्थविज्ञान कभी भी सर्वोच्च स्थान अधिकार नहीं करता है तथापि उसकी उन्नतिके परिमाणके अनुसार ही मनुष्यसमाजमें बहिर्जगत्की उन्नतिका परिमाण अनुमित हुआ करता है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म अतीन्द्रिय अन्तर्राज्यके अर्थ दर्शनशास्त्रही एकमात्र अवलम्बन है। स्थूलराज्यसे अतीत अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण सूक्ष्मराज्य-रूप अनन्त पारावारके लिये दर्शनशास्त्रही ध्रुवतारास्वरूप है। सूक्ष्म-राज्यमें प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवाला साधक केवल दर्शनशास्त्रोंके साहाय्यसेही अन्तर्राज्य (सूक्ष्मराज्य) में प्रवेश करनेमें समर्थ होता है। जिस प्रकार स्थूलनेत्रविहीन व्यक्ति स्थूलजगत्का कुछ भी नहीं देखसक्ता, उसी प्रकार दर्शनशास्त्रको न जानने वाला व्यक्ति भी सूक्ष्मजगत्के विषयोंको कुछ भी नहीं समझ सकता; अतएव इन सब बातोंसे यह जानना चाहिये कि जो शास्त्र सूक्ष्मजगत्का वास्तविक तत्त्व समझा देवे उसीको दर्शनशास्त्र कहते हैं।

पृथिवीका इतिहास पढ़नेसे जाना गया है कि जब जो मनुष्य-जाति आध्यात्मिक जगत्में अग्रसर हुई है तबही उसमें दर्शनशास्त्रकी आलोचना प्रारम्भ हुई है। वैदिक धर्म्मावलम्बी मनुष्यसमाजमें जिस प्रकार दर्शनशास्त्रोंकी उन्नति हुई है, पृथिवीकी अन्य किसीभी जातिमें उस प्रकार उन्नति नहीं हुई है। सनातनधर्मावलम्बी मुनिगणने

योगसाधनके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करके तत्पश्चात् अन्तर्जगत्में प्रवेश करनेकी चेष्टा की थी। पूज्यपाद महर्षिगण ने पहिले तप और योगकी सहायतासे अन्तर्दृष्टि प्राप्त करके तब जगत्के कल्याणार्थ सूत्र बनाकर पृथक् पृथक् दर्शनशास्त्र प्रकाशित किये थे। उन्होंने पहिले अन्तर्राज्यमें आधिपत्य स्थापन करके पीछे जिज्ञासुगणके अर्थ उसके द्वारको उघाड़नेके अभिप्रायसे वैदिक दर्शनशास्त्र प्रणयन किये हैं; परन्तु पृथिवी की अन्यान्य शिक्षित जातियों में उस प्रकार होने की सम्भावना न होनेसे उन्होंने दूरसे अन्तर्राज्यका यत्‌किञ्चित् आभास पाकर उस विषयके वास्तविक सत्यको अन्वेषण करनेकी चेष्टा की है। पृथिवीकी सकल शिक्षित जातियाँ जिस प्रकार बहिर्जगत्का आश्रय ग्रहण करके सूक्ष्मजगत्में प्रवेश किया करती हैं, पूज्यपाद महर्षिगणने वैसा न करके प्रथम अन्तर्जगत्का विस्तारित ज्ञान प्राप्त करके तब सर्वसाधारणके कल्याणार्थ उसको बहिर्जगत्में प्रकाशित करनेका यत्न किया था। इसी कारण वैदिक दर्शनशास्त्र सात अङ्गोंमें विभक्त होकर सम्पूर्ण हुए हैं; परन्तु पृथिवीकी अन्यान्य शिक्षित जातियोंके दर्शनशास्त्र वैसे न होकर वैचित्र्यमय और असम्पूर्ण रहे हैं।

सृष्टितत्त्वकी पर्य्यालोचना करनेसे सहजही जाना जासक्ता है कि त्रिगुणमयी प्रकृतिके राज्य में सर्वत्रही तीन तीन विभाग विद्यमान हैं, यथाः—वात, पित्त और कफरूपिणी शरीररक्षाकी त्रिविधशक्ति, मनुष्यकी त्रिविध प्रकृति, त्रिविध कर्म इत्यादि। इसी प्रकार सात रीतिके भावोंके अवलम्बनसे सृष्टिराज्यके सप्तधातु, सप्तवर्ण, सप्तदिवस, सप्तऊर्द्ध्वलोक, सप्तअधोलोक, सप्तरत्न, सप्त-अज्ञानभूमि, सप्तज्ञान भूमि इत्यादि सप्तविध विभाग सकल स्थानोंमें ही परिलक्षित होते हैं। उक्तरीतिसे सप्तज्ञानभूमियोंको अतिक्रम करके क्रमशः परमपद लाभ करनेके अर्थ जिस वैदिकदर्शनविज्ञानका आविर्भाव हुआ है वह भी इन सप्तज्ञानभूमियोंके अनुसार ही सप्तभागोंमें विभक्त है। इन सात दर्शनोंमेंसे दो पदार्थवाददर्शन, दो सांख्यप्रवचनदर्शन और तीन मीमांसादर्शन हैं। आधुनिक पुस्तकोंमें जो षड्दर्शन नाम देखा जाता है वह केवल जैन और बौद्धोंके अनुकरणसे प्रचारित हुआ है; क्योंकि उनके दर्शनशास्त्र षड्दर्शन नामसे अभिहित होते थे इसीसे नास्तिकदर्शनके अनुकरणसे वैदिक षड्दर्शन

नाम प्रचारित हुआ था। किसी भी आर्षग्रन्थमें षड्दर्शन शब्द देखने में नहीं आता है। विशेषतः बहुत शताब्दियोंसे मीमांसादर्शनके सब सिद्धान्तग्रन्थ लुप्त होजानेसे मध्यमीमांसा दर्शनका एक भी सिद्धान्तग्रन्थ नहीं मिलता था। इन सब कारणोंसे ही अज्ञान-मूलक षड्दर्शन शब्द हमारे साहित्यमें क्रमशः प्रचलित हो पड़ा है। वास्तवमें न्याय और वैशेषिक ये दोनों पदार्थवादके दर्शन, योग और सांख्य ये दोनों सांख्यप्रवचन दर्शन और वेदोक्त कर्म, उपासना एवं ज्ञान, इन काण्डत्रयके अनुसार कर्ममीमांसा, दैवी-मीमांसा (भक्तिमीमांसा) तथा ब्रह्ममीमांसा, ये तीनों मीमांसा-दर्शन, इस प्रकार सप्त दर्शन स्वतःसिद्ध हैं।

दर्शनग्रन्थोंके अभाव और दार्शनिक शिक्षाके लोप होजानेसे सनातन धर्म्मकी वर्त्तमान दुर्गति हुई है। आजकल स्वधर्म्ममें अविश्वास, परधर्म्मग्रहणमें इच्छा, सदाचारवर्जन, पूज्यपाद महर्षिगणके आदेशोंका उपहास, वेद और पुराणों पर अश्रद्धा, साम्प्रदायिक विरोध, अलौकिक अन्तर्राज्य पर अविश्वास, परलोकके भयका राहित्य, देवदेवी और ऋषि पितरादिके अस्तित्वमें सन्देह, कर्म्म-काण्ड पर अनास्था, साधु और ब्राह्मणों पर अभक्ति, वर्णाश्रमधर्म्म की उपेक्षा, जगत्को पवित्र करनेवाले आर्य्यनारियोंके धर्म्मके मूलोच्छेदमें प्रवृत्ति, जप ध्यानादि साधनमार्ग पर अरुचि इत्यादि आर्य्यत्वनाशकारी जो प्रबलदोष उत्पन्न हुए हैं वे केवल वैदिक-दर्शनोंकी शिक्षाके अभावसे ही हुए हैं इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

न्यायदर्शनकी शिक्षा इस समय सम्पूर्णरूपसे नहीं होती है। पहिलेकी तरह इस समय प्राचीन न्याय की वास्तविक शिक्षापद्धति नहीं है, यह कहनेसे भी अत्युक्ति नहीं होगी। इस समय प्राचीन न्यायके स्थानमें नवीन न्यायका ही अधिक प्रचार देखा जाता है।

वैशेषिकदर्शनके उपयोगी आर्ष भाष्यके अभाव होनेसे उसकी चर्चा एक प्रकार उठ ही गई है ऐसा कहनेसे भी चल सक्ता है।

योगदर्शन पहिले तो कठिन शास्त्र है और उसके साथ अन्तर्जगत्का अतिघनिष्ठ सम्बन्ध होनेसे उसकी यथार्थरूपसे अध्ययन और अध्यापन की प्रथा एकवारही उठ गई है क्योंकि योगदर्शनके आचार्य्यको योगी होना आवश्यक है; किन्तु इस समय उस

प्रकारके वास्तविक योगीके अभाव होनेसे इस दर्शनकी यथार्थ शिक्षाका अभाव होपड़ा है।

सांख्यदर्शन की अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। इस समय कोई उसको आधुनिक दर्शन कहते हैं, कोई उसको प्रक्षिप्तविषयपूर्ण कह कर घृणा करते हैं और कोई कोई नास्तिक दर्शन कहकर उसका परिचय देते हैं। कई हज़ार वर्षोंसे उसका आर्ष भाष्य न मिलने से और आजकल जो उसका भाष्य मिलता है वह जैनधर्म्मावलम्बी आचार्य्यका बनाया हुआ होनेसे ही इस प्रकारकी विश्रृङ्खलताका कारण उपस्थित हुआ है। विज्ञानभिक्षु जैनाचार्य्य वा बौद्धाचार्य्य थे इसमें अब कोई सन्देह नहीं है; क्योंकि उन्होंने जिस भावसे सांख्यदर्शनको अपने भाष्य द्वारा प्रतिपादन करनेकी चेष्टा की है उससे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि वे सनातन धर्म्मावलम्बी नहीं थे। उन्होंने अप्रासङ्गिक रीतिसे वैदिकी हिंसाकी निन्दा, लौकिक और अलौकिक प्रत्यक्षविज्ञानको परिवर्तन करते हुए ईश्वरकी सिद्धिके सम्बन्धमें अनुमित सिद्धान्त का प्रतिपादन, शास्त्रोक्त देवतादिका खण्डन आदि जो किया है उसको पढ़नेसे ही निरपेक्ष दार्शनिक व्यक्तिमात्र ही एक वाक्यसे स्वीकार करेंगे कि वे सनातनधर्म्मके विरोधी अन्य किसी सम्प्रदाय के आचार्य्य थे। अबतक सांख्यदर्शन पर जो सब टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं उनके बनानेवालोंने जैनाचार्य्य विज्ञानभिक्षुके मतका अनुसरण करके ही वे सब बनाई हैं।

दर्शनशास्त्रका वास्तविक प्रचार करना होगा तो प्राचीन न्याय दर्शनका अधिक प्रचार और ऋषियोंके अभिप्रायानुसार भाष्यके साथ वैशेषिक दर्शनका प्रचार विशेष आवश्यक है। श्रीभगवान् व्यासकृत भाष्यको अवलम्बन करके योगी महापुरुषगणके द्वारा प्रणीत विस्तृत भाष्यके साथ योगदर्शन भी प्रचारित होना आवश्यक है। सांख्यदर्शनका भाष्य सूत्रकारके अभिप्रायके अनुसार तत्त्वज्ञानी व्यक्तियोंकी सहायतासे नूतनपद्धतिसे प्रणीत होकर प्रचारित होना आवश्यक है।

तीनों मीमांसादर्शनोंमें घोर विप्लव उपस्थित हुआ है। पूज्यपाद महर्षि जैमिनिकृत कर्म्ममीमांसादर्शन अति वृहत् होने पर भी यह असम्पूर्ण और एकदेशी है। जैमिनिदर्शनमें केवल वैदिक कर्म्म-

काण्डका विज्ञान सुन्दररूपसे वर्णित है किन्तु वर्त्तमान समयमें वैदिक यागयज्ञका प्रचार प्रायः लुप्त हो जानेसे इस दर्शनशास्त्र द्वारा इस समय हमारे किसी प्रकारके विशेष उपकारके सिद्ध होनेकी सम्भावना नहीं है।

धर्म्म क्या है, साधारण और विशेषधर्ममें भेद क्या है, वर्णधर्म क्या है, आश्रमधर्म्म क्या है, पुरुषधर्म्म क्या है, नारीधर्म्म क्या है, जन्मान्तरवादका विज्ञान क्या है, परलोकमें गति किस प्रकार होती है, संस्कारका रहस्य क्या है, षोडश संस्कारका विज्ञान क्या है, संस्कार-शुद्धिद्वारा किस प्रकार क्रियाशुद्धि होती है, उद्भिज्जादि योनियोंसे मनुष्ययोनिमें किस प्रकार जीव क्रमशः प्रवेश करता है, मनुष्य पुण्यकर्म्म करके किस प्रकार अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त होता है, कर्मके भेद कितने हैं, क्रियाशुद्धि द्वारा मनुष्य किस प्रकार मुक्त होता है इत्यादि कर्म्ममीमांसाका प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकारका मीमांसा दर्शनका सिद्धान्त ग्रन्थ बहुत कालसे लुप्त अवस्थामें था। इस समय श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके नेताओंके यत्नसे एक विस्तृत सूत्रग्रन्थ प्राप्त हुआ है और उसका भाष्य भी संस्कृत भाषा में बन रहा है।

कर्म्ममीमांसा यद्यपि लुप्त हुई थी तथापि उसका एक बृहत् ग्रन्थ पाया जाता था किन्तु दैवीमीमांसा (मध्यमीमांसा वा भक्ति-मीमांसा) का कोई ग्रन्थभी नहीं मिलता था। इस समय उसकाभी एक सिद्धान्तभूत सूत्रग्रन्थ मिला है और उसका संस्कृत भाष्य प्रणीत होकर प्रकाशित होगया है। भक्ति किसको कहते हैं, भक्तिके भेद कितने प्रकारके हैं, उपासनाके द्वारा मुक्ति किस प्रकार सम्भव है, भगवान्‌का आनन्दमय स्वरूप क्या है, भगवान्‌के ब्रह्म ईश और विराट्, इन तीन रूपोंमें भेद क्या है, भक्तिके प्रधान प्रधान आचार्य्य ऋषिगणके स्वतन्त्र स्वतन्त्र मत क्या हैं, सृष्टिका विस्तृत रहस्य क्या है, अध्यात्म सृष्टि क्या है, अधिदैव सृष्टिक्या है, अधिभूत सृष्टि क्या है, ऋषि किसको कहते हैं, देवदेवी किसको कहते हैं, पितृ किसको कहते हैं, उनके साथ जगत्‌का सम्बन्ध क्या है, अवतार कैसे होते हैं, अवतार कितने प्रकारके हैं, भक्तिके द्वारा मुक्ति किस प्रकार होसकती है, चार प्रकारके योगका लक्षण और उपासनाका भेद कितने प्रकारका है, उपासना और भक्तिके आश्रयसे साधक किस

प्रकार मुक्तिलाभ करनेमें समर्थ होता है, कर्म्ममीमांसाका अन्तिम लक्ष्य क्या है, दैवीमीमांसाका अन्तिम लक्ष्य क्या है एवं ब्रह्ममीमांसाका अन्तिम लक्ष्य क्या है इत्यादि विषय इस दर्शन शास्त्रमें वर्णित हैं। इसी दर्शनशास्त्रके लोप होनेसे योग और उपासना इन दोनोंकी एकता सिद्ध करनेके विषयमें उन्नत ज्ञानियोंको भी विमोहित होते हुए देखा गया है।

सप्तम ज्ञानभूमिका अन्तिम दर्शन ब्रह्ममीमांसा है उसको वेदान्त कहाजाता है। उसका अति उत्तम भाष्य श्रीभगवान् शङ्कराचार्य्य प्रणीत पाया जाता है; किन्तु इतने दिनतक दैवीमीमांसा दर्शनके लुप्त अवस्थामें रहनेसे और उपासकसम्प्रदायोंके अद्वैतवादको द्वैतवादमें परिणत करनेकी चेष्टा करनेसे वेदान्त विचारमें अनेक असुविधाएँ उत्पन्न हुई हैं। यदि मध्यमीमांसा बीचके समयमें विलुप्त न होती तो द्वैत और अद्वैतवादका विरोध कदापि संघटित न होता।

न्यायदर्शनका जो आर्ष भाष्य मिलता है वह अतीव विस्तृत है ही। वैशेषिकदर्शनका विस्तृत भाष्य संस्कृतमें प्रणीत होरहा है। योगदर्शनका विस्तृत भाष्य पूर्व लिखित रीतिका प्रणीत होगया है और उसका कुछ अंश विद्यारत्नाकर नामक संस्कृत मासिक पत्र में प्रकाशित हुआ है।

सांख्यदर्शनका संस्कृत भाष्यभी पूज्यपाद महर्षिगणके मतके अनुसार प्रणीत होगया है और उसका कुछ अंश उक्त पत्रमें प्रकाशित भी हुआ है, इस भाष्यको पढ़कर शिक्षित मण्डली विस्मित हुई है और सांख्यदर्शन आस्तिक दर्शन है यह सबही एकवाक्य होकर स्वीकार करते हैं। कर्म्ममीमांसा दर्शन सभाष्य संस्कृत भाषामें शीघ्र प्रकाशित होगा। दैवीमीमांसा दर्शन अर्थात् मध्यमीमांसा दर्शनका भाष्य सम्पूर्ण होगया है और उसके तीनपाद सभाष्य संस्कृत भाषामें उक्त पत्रिकामें प्रकाशित होचुके हैं। वेदान्तदर्शनका समन्वय भाष्य भी संस्कृतमें प्रकाशित होगा। प्राचीन आर्य्यगणका मत ठीक ठीक उद्धृत करके और अन्यान्य निम्नज्ञानभूमियोंके अधिकारोंको उन समस्त दर्शनोक्त ज्ञानभूमियोंके ठीक ठीक विज्ञानके अनुसार प्रतिपादन करके इस वेदान्त भाष्यको सर्वाङ्गसुन्दर करनेकी चेष्टा कीजायगी। इन सात प्रकारके दर्शनशास्त्रोंका

ठीक २ प्रचार और इनकी यथाविधि शिक्षा देनेके अर्थ इन सातों दर्शनोंके संस्कृत भाष्य प्रणयनका कार्य्य बहुत कुछ अग्रसर होगया है। इस समय हिन्दीभाषाके पाठकवर्गके अर्थ यह सब दर्शन ग्रन्थ सरलहिन्दी भाषामें विस्तृत भाष्यके साथ क्रमशः प्रकाशित करनेकी पूरी इच्छा है।

हमारे सुहृद्गणमेंसे अनेकोंने परामर्श दिया है कि ज्ञानभूमिके क्रमके अनुसार पहले न्याय और वैशेषिकादि दर्शन प्रकाशित होना उचित है; किन्तु हमने विचार करके देखा है कि जब इससे पहले ही से ये दर्शन हिन्दीमें सामान्य रूपसे प्रचारित हैं तब इनका विस्तृत भाष्यके साथ प्रचार यद्यपि आवश्यक है तथापि पहलेही इनको प्रकाश करनेसे पाठकोंका तादृश चित्तविनोद नहीं होगा, विशेषतः योगदर्शन सर्वअधिकारियोंका सुहृद् और सब दर्शनोंसे अविरुद्ध होनेसे उसी दर्शनके श्रीमहामण्डलद्वारा निर्मित संस्कृत भाष्यका विशुद्ध हिन्दी अनुवादग्रन्थ यह प्रकाशित किया गया है।

उपर्युक्त सात वैदिकदर्शनग्रन्थ प्रकाशनके साथ साथ हम योगके क्रियासिद्धांशसम्बन्धीय पाँच ग्रन्थ हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित करने की इच्छा करते हैं जिनमेंसे मन्त्रयोग संहिताका हिन्दी संस्करण प्रकाशित हो चुका है। उपासना की मूलभित्तिरूप योगका क्रियासिद्धांश चारभागोंमें विभक्त है, यथाः–मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इन चारों प्रणालियोंके अलग अलग अङ्ग, अलग अलग ध्यान और अलग अलग अधिकार निर्णीत हैं। नाम और रूपके अवलम्बनसे जो साधनप्रणाली निर्णीत हुई है उसको मन्त्रयोग कहते हैं। मन्त्रयोग सोलह अङ्गोंमें विभक्त है और उसके ध्यानको स्थूलध्यान कहते हैं।

स्थूलशरीरकी सहायतासे चित्तवृत्तिके निरोध करनेकी जो प्रणाली है उसको हठयोग कहते हैं। हठयोग सात अङ्गोंमें विभक्त है और हठयोगेका ध्यान ज्योतिर्ध्यान नामसे अभिहित होता है।

लययोग और भी अधिक उन्नत अवस्थाका साधन है। जगत्-प्रसविनी कुलकुण्डलिनी शक्ति जो सकल शरीरमें ही विद्यमान है उसी शक्तिको गुरूपदेशानुसार जाग्रत् करके और सहस्रारमें लय कर चित्तवृत्तिनिरोध करने की जो प्रणाली है उसको लययोग कहते हैं। लययोग नौ अङ्गोंमें विभक्त है और उसके ध्यानका नाम विन्दु ध्यान है।

योगप्रणालियोंमें सर्वश्रेष्ठयोगप्रणालीका नाम राजयोग है। उल्लिखित त्रिविध साधकोंको उन्नत अवस्थामें राजयोगकी सहायता लेनी ही पड़ती है। केवल विचारशक्ति द्वारा चित्तवृत्ति निरोध करनेकी जो प्रणाली है उसको राजयोग कहते हैं। राजयोग सोलह अङ्गोंमें विभक्त है और उसका ध्यान ब्रह्मध्यान नामसे अभिहित होता है। उपर्युक्त तीन योगप्रणालियोंकी समाधिको सविकल्प समाधि कहते हैं. किन्तु राजयोग की समाधिही निर्विकल्प समाधि है।

उपर्युक्त चार प्रकार की योगप्रणालीके अङ्ग और उपाङ्ग, वेद, आर्षसंहिता, पुराण एवं तन्त्रादिमें अनेक स्थानोंमें ही देख पड़ते हैं; किन्तु अधिकारानुसार इन प्रत्येककी क्रियाएँ अलग अलग और यथाक्रम किसी ग्रन्थमें भी नहीं मिलती हैं। प्राचीन समयमें गुरु और शिष्य-सम्प्रदायका अधिकार उन्नत था इसीसेही इस प्रकार साधनविभाग की आवश्यकता नहीं थी; किन्तु वर्त्तमान समयमें इन चारों साधनप्रणालियोंके अलग अलग सिद्धान्त ग्रन्थ न मिलनेसे योगी और उपासक सम्प्रदायोंमें घोर विप्लव उपस्थित हुआ है।

हमने मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता, ये चार सिद्धान्त ग्रन्थ पाये हैं। इनमें प्रत्येक साधनप्रणाली विस्तृत और सुन्दररूपसे वर्णित है। इन चारों ग्रन्थोंके अतिरिक्त गुरुलोग इनके अवलम्बनसे शिष्योंका किस प्रकार शिक्षा देवें इस विषयका योगप्रवेशिका नामक और एक ग्रन्थ है। उक्त पांचों ग्रन्थ प्रायः विद्यारत्नाकर नामक संस्कृत मासिक पत्रमें प्रकाशित किये गये हैं। क्रमशः हिन्दी अनुवादके साथ उनको प्रकाशित करेंगे।

उपर्युक्त सात दर्शनग्रन्थ और पांच योगग्रन्थ हिन्दीभाषामें प्रकाशित होनेसे हिन्दीके दार्शनिक जगत्की उन्नतिके विषयमें एक असाधारण परिवर्त्तन संसाधित होगा इसमें कुछ सन्देह नहीं है।

श्री १०८ पूज्यपाद गुरुमहाराजकी आज्ञानुसार अन्य ग्रन्थोंके समान इस ग्रन्थका भी स्वत्वाधिकार दीन दरिद्रोंके पालन पोषणार्थ श्री विश्वनाथ अन्नपूर्णादानभण्डारको दिया जाता है।

विजयादशमी
संवत् १९७७ विक्रमी } दयानन्द।

ओं नमः परमात्मने ।

योगदर्शन ।

भूमिका ।

सच्चिदानन्दमय, अनादि, अनन्त ब्रह्म सदा एकरूप हैं, पूर्णज्ञानरूप वे सदा निष्क्रिय और सृष्टिसे अतीत हैं, न तो उनको किसी प्रकारकी क्रिया स्पर्श कर सकती हैं, न उनमें कोई क्लेशोंकी सम्भावना है, भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कालमें वे सदा एक रूपसे ही वर्त्तमान हैं । इच्छा-अनिच्छा-रूप इच्छासे उन्हींकी इच्छामयी शक्ति द्वारा यह संसार उत्पन्न होता है, वर्त्तमान रहता है और पुनः उन्हींमें लयको प्राप्त हो जाता है । सृष्टिकी उत्पत्ति और सृष्टिकी स्थितिकी अवस्थामें वे सर्व्वशक्तिमान् परमात्मा अपने जिस अंश अथवा जिस भावमें सृष्टिको धारण करते हैं, उनकी उस सृष्टिकी ऐश्वर्य्यताके कारण उनकी उस अवस्थाका नाम ईश्वर है और जब सृष्टि नहीं रहती अथवा जिस अवस्थामें सृष्टि नहीं है, उनकी उस निष्क्रिय और प्रशान्त अवस्थाका नाम ब्रह्म है । 'अहं ममेतिवत्' अर्थात् मैं और मेरी शक्ति ऐसा कहनेमें जिस प्रकार शक्तिमान् और शक्तिमें भेद नहीं रहता; ठीक ऐसे ही ब्रह्म और त्रिगुणमयी शक्तिमें पूज्यपाद महर्षियोंने कोई भी भेद नहीं है—ऐसा प्रमाणित किया है । संक्षेपसे यही समझना उचित है कि निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्मभावमें ब्रह्मशक्ति छिपी हुई अर्थात् साम्यावस्थामें रहती है और ईश्वरभाव अर्थात् सगुण ब्रह्मभावमें वही ब्रह्मशक्ति अपने त्रिगुणरूपको धारण करके प्रकट हो जाती है । लीलामय भगवान्की लीलामयी शक्तिके द्वारा जो संसार उत्पन्न हुआ है, सर्व्वशक्तिमान् श्रीभगवान्की सर्व्वशक्तिमयी इच्छारूपिणी उस महाशक्तिका नाम ही महाविद्या, प्रकृति और शक्ति है । जब सृष्टिक्रिया आरम्भ हुई अर्थात् निष्क्रियरूप शान्त अवस्थामें जब क्रियारूप सृष्टि हुई, तो

यह विचारनेके योग्य है कि जहां क्रियारूप कम्पन हुआ और जिस कारणरूपिणी शक्तिसे कम्पन हुआ, इनकी दो स्वतंत्र सत्ताएँ हुईं; सृष्टिकर्त्ता, कि जिनकी इच्छासे सृष्टिरूप क्रिया हुई, उनका नाम ईश्वर और उनकी इच्छारूपिणी शक्तिका नाम प्रकृति है। * जैसे समुद्रमें तरङ्ग उठनेसे समुद्रकी और तरङ्गोंकी स्वतंत्र स्वतंत्र सत्ता हो जाती है, उसी प्रकार ईश्वर-रूप समुद्र और जीव-रूप तरङ्गोंकी स्वतंत्र सत्ता हुई। गंभीर, प्रशान्त समुद्र-रूपी ईश्वरकी सत्तामें तो कोई भी भेद नहीं पड़ा, परन्तु अविद्याके कारण प्रत्येक तरङ्गने अपनी स्वतंत्र सत्ता मान ली। अविद्याके कारण जीवरूपी चैतन्यने जो अपनी स्वतंत्र सत्ता अनुभव करके, अहंकारके वशीभूत होकर स्वतंत्र केन्द्र स्थापन कर लिया, सो अल्पज्ञरूपी स्वतंत्र स्वतंत्र केन्द्र ही जीवका जीवत्व है। सर्व्वशक्तिमान् भगवान्के अधीन विद्यारूपिणी महाशक्ति रहकर सदा सृष्टि, स्थिति और लय क्रिया किया करती हैं; परन्तु जीवअवस्थामें इससे विरुद्ध बात बनी अर्थात् जीवमोहकारिणी अविद्याका प्रभाव जीवपर हुआ और जीव-रूपी चैतन्य अविद्याके अधीन होकर सृष्टिक्रियामें फँस गया। अब जीवरूपी चैतन्य अपने आपको प्रकृतिवत् मानने लगा। प्रकृति त्रिगुणमयी है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण हैं। अब जीव फँसकर अपने आपको त्रिगुणमय समझने लगा। जीवके इस फँसानेका कारण अनादि अविद्या है और अविद्याके कारणसे ही जीवने अल्पज्ञताको प्राप्त होकर अहंकारके वशीभूत हो अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापन कर ली, इसी अवस्था का नाम जीव है। जीव और ईश्वरमें भेद इस प्रकारसे है कि अविद्याके द्वारा दबा हुआ जीव कहाता है और विद्याको सम्पूर्ण रूपसे अपने अधीन बनाये रखनेसे वही ईश्वर कहाता है अर्थात् प्रकृतिके जो अधीन हो वह जीव और जिसके अधीन सदा प्रकृति रहती है वही ईश्वर है।

सर्वशक्तिमान् परमात्माने जब अपनी इच्छा—अनिच्छा—रूप

---

* प्रणव यहींके कार्य्यसे सम्बन्ध रखता है, जहां कोई कार्य्य है वहां अवश्य कम्पन होगा, जहां कोई कम्पन है वहां अवश्य कोई शब्द होगा; सृष्टिके आदि कारणरूप कार्य्यकी ध्वनि ही ओंकार है; योगी जब इस साम्यावस्था-प्रकृतिमें मन ले जाता है तब ही वह प्रणवध्वनि श्रवण करनेका अधिकारी हो सकता है।

इच्छासे विद्या-रूपिणी अपनी महाशक्तिके द्वारा इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि आरम्भ की तो, प्रथम आकाश, आकाशसे वायु, वायु से अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्तिकी; यही पञ्च तत्त्व कहाये और इन्हींसे सारे संसारकी सृष्टि बनी। प्रकृति त्रिगुणमयी है और आदिकारणरूपी अनादि-प्रकृतिसे ही इन पांचों तत्त्वोंकी सृष्टि हुई है इस कारण ये भी त्रिगुणात्मक हैं। इन पांचों भूतोंके मिले हुए सत्त्व-अंशसे अन्तःकरण और रज-अंशसे पञ्च प्राण उत्पन्न हुए। अन्तःकारणमें चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार हैं; जिनमेंसे चित्त और अहंकार दोनोंको मन और बुद्धिका अन्तर्विभाग समझना उचित है अर्थात् चित्त, मनका अन्तर्विभाग और अहंकार, बुद्धिका अन्तर्विभाग है; अन्ततः मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारका एकत्व-सम्बन्ध अन्तःकरण है। अन्तःकरण भी त्रिगुणात्मक होनेके कारण सूक्ष्मदर्शी योगियोंने अन्तःकरणके चार विभागोंको इस प्रकारसे माना है। यथाः-सत्त्वगुणसे बुद्धि, रजोगुणसे मन और तमोगुणसे चित्त और अहंकार प्रकट होते हैं। इस कारण योगदर्शन चित्तरूपी अन्तःकरणके तीन ही अङ्ग मानता है, यथा—मन, बुद्धि और अहंकार। इन पांचों भूतों में जो प्रत्येकका गुण है वही तन्मात्राएँ कहाती हैं अर्थात् आकाशका शब्द, वायुका स्पर्श, अग्निका रूप, जलका रस और पृथिवीका गन्ध; पांचों तत्त्वोंके ये पांचों गुण पञ्च-तन्मात्राएँ कहाये। इन पांचों तन्मात्राओं से सृष्टिकी सहायतामें विस्तारको प्राप्त होकर पञ्च-ज्ञान-इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं अर्थात् शब्दसे श्रोत्र, स्पर्शसे त्वक्, रूपसे चक्षु, रससे जिह्वा और गन्धसे घ्राण इन्द्रिय उत्पन्न हुईं, ये ही पांचों पञ्च-ज्ञान-इन्द्रियाँ कहाईं। प्रत्येक तत्वके स्वतन्त्र स्वतंत्र सत्त्वगुणसे पांचों ज्ञान-इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं, ऐसा समझना उचित है। इन्हीं पांचों तत्वोंके स्वतंत्र स्वतंत्र रजोगुणसे पांच कर्म्म-इन्द्रियाँ प्रकट हुईं अर्थात् आकाशके रज-अंशसे वाक्, वायुके रज-अंशसे पाणि, तेजके रज-अंशसे पाद, जलके रज-अंशसे उपस्थ और पृथिवीके रज-अंशसे पायु उत्पन्न हुए और ये ही पांचों पांच कर्म्म-इन्द्रियाँ कहाईं। इन्हीं पांचों भूतोंके विस्तारसे सृष्टि उत्पन्न हुई। जब ये भूतगण अलग अलग सूक्ष्मावस्थामें होते हैं तब ये ही अगोचर रहकर अपंचीकृत

महाभूत कहाते हैं और जब ये ही पांचों भूत आपसमें मिल जुलकर स्थूलताको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनमें तब आधा तो अपना अंश होता है और आधा और चारों भूतोंका अंश होता है। इस प्रकारसे ये पांचों भूत स्थूलताको प्राप्त होकर दृष्टिगोचर होते हुए पञ्चीकृत महाभूत कहाते हैं।

वेद और वेद-सम्मत सब शास्त्र एकवाक्य होकर यही कहते हैं कि परमात्मा ब्रह्म अर्थात् पुरुष और त्रिगुणमयी माया अर्थात् प्रकृति—इन दोनोंकी इच्छा और मेलसे ही सृष्टि उत्पन्न हुई है। चाहे कोई शास्त्र एक प्रकार वर्णन करे और चाहे दूसरा शास्त्र दूसरा प्रकार वर्णन करे; परन्तु सबोंका आशय एक ही है: सबोंने ही सर्वशक्तिमान् पूर्ण ब्रह्म पुरुषको निष्क्रिय और स्वतन्त्र माना है और त्रिगुणमयी प्रकृतिको ही सृष्टिका कारण माना है। सांख्यदर्शनने सृष्टिकी कारणरूपा प्रकृतिको चौवीस तत्त्वोंमें वर्णन किया है और उसी प्रकृतिके विस्तारको वेदान्तदर्शनने पञ्च कोष करके वर्णन किया है; जैसे सांख्य-शास्त्रने चौवीस तत्त्वोंसे उपराम होनेका नाम मुक्ति लिखा है, वैसे ही पञ्चकोषोंसे अलग होनेका नाम वेदान्त-शास्त्रने ब्रह्मसद्भाव कहा है; बात सब शास्त्रोंकी एक ही है; लक्ष्य सबोंका एक ही है; परन्तु केवल साधनविभाग अर्थात् मुक्तिपदपर पहुँचनेका उपाय सब शास्त्रोंने स्वतंत्र स्वतंत्र रीतिसे वर्णन किया है। प्रथम जब जीव-रूपी चैतन्य अविद्यामें फँसकर अपने आपको प्रकृतिवत् मानने लगा; तब वही कारण-शरीर बन गया और अन्तःकरण, पञ्चप्राणसहित पञ्चज्ञान-इन्द्रिय और पञ्च-कर्म-इन्द्रियां मिलकर सूक्ष्म शरीर कहाया और पञ्चीकरण विधिके अनुसार सूक्ष्म पञ्च तत्त्वोंसे उत्पन्न पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक स्थूल पञ्चभूतों के द्वारा स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ। यह स्थूल-शरीर जीवके देह-पातके पश्चात् यहीं पड़ा रहता है और सूक्ष्म-शरीर-विशिष्ट जीव ही जन्मान्तर प्राप्त करता है। स्थूल-शरीर केवल सूक्ष्म-शरीरका विस्तारमात्र है: जीव जो कुछ कर्म्म करता है, जो कुछ कर्म्म भोगता है और जो कुछ कर्म्म भविष्यत्में भोगनेके अर्थ होंगे उनका संस्कार संग्रह करता है: वह सब सूक्ष्म-शरीर द्वारा अन्तःकरणमें ही करता है। जब तक

अविद्याकी स्थिति है, तब तक जीवरूपी चैतन्य अपने आपको अन्तः-करण माने हुए है, जब तक उसका मानना है तब तक उस अन्तःकरणके काममें उसका फँसना भी रहेगा और जब तक यह भ्रममूलक सम्बन्ध रहेगा तब तक नाना सुखदुःख—रूपी कर्म्मोंमें फँसता हुआ जीव आवागमनरूपी चक्र—पथमें भ्रमता रहेगा।

"योग" शब्दका अर्थ जोड़ना है अर्थात् जीवरूप चतन्य जो अविद्यामें फँसकर परमात्मा परब्रह्मसे भिन्न हो रहा है, उसकी इस भिन्नताको दूर करके उसके पहले रूपमें उसको लाकर जहांसे निकला था वहीं पुनः पहुंचा देनेका नाम योग है; अर्थात् जीवात्माको परमात्मामें जोड़नेका नाम योग है। इस प्रकार जीवको मुक्तिपदमें पहुंचानेके अर्थ वेदों और शास्त्रोंमें जितने प्रकारके साधन वर्णन किये गये हैं वे सब चार विभागोंमें विभक्त हैं, यथा—मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। शास्त्रोक्त किसी मंत्रका जप और शास्त्रोक्त किसी रूपका ध्यान करते करते चित्त-वृत्ति-निरोध द्वारा मुक्तिपथ में अग्रसर होने का नाम मंत्रयोग है, शारीरिक क्रिया द्वारा चित्त-वृत्ति-का निरोध करके मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम हठयोग है, षट्चक्रके भेद द्वारा वहिर्मुखी शक्तिको ब्रह्माण्डमें लय करके मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम लययोग है और केवल बुद्धिकी सहायतासे ब्रह्मविद्या—विचार द्वारा चित्तवृत्तियोंसे उपराम होकर मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम राजयोग है *। जिस मूलभित्ति पर ये चारों साधन-मार्ग स्थित हैं उसका विवरण सातों दर्शन पुष्ट करते हैं, उन दर्शनोंमें से योगिराज महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनने साधन-मार्गके क्रिया-सिद्धांशको भली-भांति सार्वभौम दृष्टिसे वर्णन किया है। सूत्रकार महर्षिने अपने दर्शनग्रन्थको चार भागोंमें विभक्त किया है; प्रथम भागमें योग अर्थात् समाधिका वर्णन किया है, द्वितीय भाग में योगके अनुकूल और योगके प्रतिकूल गुणों और क्रियाओंका वर्णन किया है, तृतीय-में योगविभूतियोंका वर्णन किया है और चतुर्थ भागमें कैवल्य अर्थात् योग-साधनके लक्ष्यका वर्णन किया है।

---

* इन चार प्रकारके साधनोंका विस्तारित विवरण स्वतन्त्र स्वतन्त्र चार योगसंहिताओंमें द्रष्टव्य है।

सृष्टिकी क्रियासे लयकी क्रिया विपरीत है अर्थात् अनुलोमसे सृष्टि होती है और विलोमसे लय होता है। सृष्टिके समय ईश्वरसे प्रकृति, प्रकृतिसे महतत्त्व, महतत्त्वसे अहंतत्त्व, अहंतत्त्वसे मन और तदनन्तर पञ्चतन्मात्राएँ अर्थात् आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी और तत्पश्चात् इनके ही विस्तारसे समस्त संसार उत्पन्न हुआ है: परन्तु लय होते समय इससे वपरीत होगा अर्थात् संसारका भावान्तर होकर पृथिवी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें, और आकाशकी तन्मात्रा मनमें, मन अहंतत्त्वमें, अहंतत्त्व महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्व प्रकृतिमें और प्रकृतिके ईश्वरमें लय होनेपर ब्रह्मभावकी प्राप्ति होगी। योगशास्त्रमें यही सिद्ध किया गया है कि अन्तःकरण ही सृष्टि और लय करनेका कारण-स्थल है; अन्तःकरण-वृत्तिके साथ बहिर्जगत्का सम्बन्ध होनेसे सृष्टिका विस्तार होता है, वैसे ही अन्तःकरण-वृत्तियोंके निरोध करनेसे लयरूपी मुक्तिपदकी प्राप्ति होती है। अब विचारना उचित है कि सृष्टिमें अन्तःकरणकी कौन कौनसी वृत्तियां रहती हैं और योगशास्त्रोक्त मुक्तिपदके प्राप्त करनेके अर्थ उन वृत्तियोंमें किस किस प्रकारका फेरबदल होता है। सत्, असत् अर्थात् पाप, पुण्यके विचारसे वृत्तियोंके दो भेद हैं, यथा-क्लिष्ट और अक्लिष्ट। क्लिष्ट वृत्तियाँ वे कहाती हैं कि जिनके द्वारा जीव दुःखदायक पाप संग्रह करता है, यथा-काम, क्रोध, हिंसा, अहंकार और द्वेष आदि और अक्लिष्ट वृत्तियाँ वे कहाती हैं जिनसे जीव सुखदायक पुण्य संग्रह करता है, यथा-दया, मैत्री, सरलता, क्षमा और शीलता आदि। जैसे सत्, असत् भेदसे अन्तःकरणकी वृत्तियोंके दो भेद हैं, वैसे ही गुण भेदसे अन्तःकरणकी पांच भूमियाँ या अवस्थाएँ हैं। प्रथम, तमोगुणकी भूमि वह है कि जिस समय मनमें चैतन्य अर्थात् ज्ञानका भाग बहुत कम हो और मन अपने ही स्वभावसे नाचता हुआ कहींसे कहीं अपने आप ही उन्मत्त हुआ फिरता हो, जैसे बेलगामका घोड़ा; मनकी उस अवस्थाका नाम मूढ़ है। दूसरी, रजोगुणकी भूमि वह कहाती है कि जब मन किसी विशेष लक्ष्यके अवलम्बनसे बुद्धि-युक्त होकर सत्, असत् विचारमें प्रवृत्त होता है अर्थात् और कहीं न भटककर एक ही काममें लगा रहता है, मनकी इस

अवस्थाका नाम क्षिप्त है और तीसरी, सत्त्वगुणकी भूमि वह कहाती है कि जब अन्तःकरण इन सब वृत्तियोंसे अलग होकर ठहर जाता है अर्थात् न उसमें मनकी उन्मत्तता ही रहती है और न बुद्धिका विचार ही रहता है, इस शून्य अवस्थाका नाम विक्षिप्त है; यह विक्षिप्त भूमि जीवमें बहुत थोड़ी देरके लिये कभी कभी हुआ करती है। मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त अन्तःकरणकी स्वाभाविक भूमियाँ हैं अर्थात् जिस अन्तःकरणमें जो गुण अधिक होगा उसमें उसी प्रकारकी भूमि अधिक हुआ करेगी; तामसी अर्थात् आलसी पुरुषोंमें मूढ़ भूमि, राजसी अर्थात् कर्म्मठ पुरुषोंमें क्षिप्त भूमि और साधुगणमें विक्षिप्त भूमिकी स्थिति अधिक हुआ करती है। क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तिसे मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त भूमियोंका एक ही सम्बन्ध है अर्थात् सत्, असत्के भेदसे सत्त्व और तमोगुण—ये ही दोनों प्रधान हैं, बीचका रजोगुण एक सहायक मात्र है अर्थात् रजोगुण जब तमोगुणकी ओर चलने लगता है, उस समय अन्तःकरणमें क्लिष्ट अर्थात् पापजनक वृत्तियोंका उदय होता है, उसी प्रकार रजोगुण जब सत्त्वगुणकी ओर चलने लगता है तभी अन्तःकरणमें अक्लिष्ट अर्थात् पुण्यजनक वृत्तियोंका उदय हुआ करता है। योगशास्त्र यही सिद्ध करता है कि जब मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त भूमियोंमें पाप और पुण्य-जनक कोई भी वृत्तियां अन्तःकरणमें न उठे, तो उस वृत्ति-शून्य निरुद्ध अवस्थासे मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकारसे मुक्तिपदकी साधकरूपी निरुद्ध-अवस्थाके लाभ करनेके अर्थ योगशास्त्रने एक पंचम अवस्था बताई है, जिसका नाम एकाग्र है; यह एकाग्र अवस्था साधकगणमें ही उत्पन्न हो सकती है। जब अन्तःकरणमें केवल ध्याता अर्थात् ध्यान करनेवाला, ध्येय अर्थात् लक्ष्य और ध्यान अर्थात् ध्यान करनेकी क्रिया—इन तीनोंके अतिरिक्त और कुछ भी अनुभव न रहे, अन्तःकरणकी उस स्थिर अवस्थाका नाम एकाग्र है। इसी प्रकार इस एकाग्रभूमिकी दृढ़ता होजानेसे शनैः शनैः अन्तःकरणमें ध्याता, ध्यान और ध्येय का नाश होकर वह निरुद्ध अवस्थाको प्राप्त हो जायगा; अन्तःकरणके निरुद्ध-अवस्थामें वृत्तिशून्य होनेसे उसकी निर्मलताके कारण जीव भगवत्-साक्षात्कार करके मुक्त हो जायगा। इस प्रकार जीवकी

स्वाभाविक त्रिगुणमयी वृत्तियोंको एकाग्रतारूप योग-साधनसे दबाकर, निरुद्ध-अवस्थामें पहुंचकर, योग-क्रिया द्वारा जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अन्तःकरण जब बहिर्मुख होकर तन्मात्रा और इन्द्रियोंकी सहायतासे किसी विषयमें लग जाता है, तभी वह उस विषयके रूपको धारण करनेसे विषयवत् होकर विषयमें फँस-जाया करता है; परन्तु जब एकाग्रताके साधनसे अन्तःकरणकी चंचलता दूर होजायगी, तो वह पुनः बहिर्मुख हो हीं नहीं सकेगा; तत्पश्चात् जब अन्तःकरणकी पूर्ण स्थिरता होनेसे निरुद्ध-भावका उदय होगा, तभी वह आत्म-साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो जायगा। इसी एकाग्र-भूमिकी वृद्धि करते करते निरुद्ध-भूमिमें पहुंचजानेको ही योग कहते हैं।

जैसे पक्षी एक पंख द्वारा नहीं उड़सकता अर्थात् जब तक उसके दोनों पंख कार्य्यकारी न हों तबतक उड़नेकी शक्ति नहीं होगी; उसी प्रकार साधकमें जब तक साधन और वैराग्यरूपी दो पंख न हों, तब तक वह मुक्तिरूपी स्थानमें गमन नहीं करसकेगा। प्रकृति परिवर्तनशील है, इस कारण उससे बनाहुआ यह संसार क्षणभंगुर है; चाहे यह लोक हो चाहे परलोक; चाहे नरभूमि हो चाहे सुरभूमि; सभी तीन गुणोंके परिवर्तनके कारण क्षणभंगुर हैं ऐसा विचार करके जब साधकका अन्तःकरण इस संसारके सब प्रकारके सुख और स्वर्गादि पारलौकिक सुखको अनित्य अर्थात् मिथ्या समझकर उस ओरसे मुंह फेर लेता है, तब वह विषयरागरहित अवस्था ही वैराग्य कहाती है। शास्त्रकारों ने इस वैराग्य के चार भेद लिखे हैं। जब विवेकरूपी सात्त्विक बुद्धिके उदयसे साधक यह विचारने लगता है कि यह सब मायाका खेल झूठा है, अब इससे बचकर मुक्तिपदकी ओर चलना चाहिये, तब वैराग्यकी प्रथम अवस्था समझी जाती है; वैराग्य-की दूसरी अवस्था वह कहाती है कि जिस समय विवेकी व्यक्ति विषयोंकी क्षणभङ्गुता और विषयका दोष विचार द्वारा निश्चय करके विषयभोगसे बचनेके लिये यत्न करने लगा हो। पुनः जब यह वैराग्य-बुद्धि दृढ़ होकर साधकका अन्तःकरण सब पदार्थोंको ही दुःखमय देखने लगता है, अर्थात् जैसे बलपूर्वक विषपान करनेमें जीवको अतिक्लेश अनुभव होता है वैसे ही जब सब सुख ही साधकको दुःख-

मय विषतुल्य भान होने लगते हैं, तब ही वह वैराग्यकी उन्नत-अवस्था तृतीय अवस्था है, इस तृतीय अवस्थामें विषयोंकी स्थूल सेवा एकबार ही लय होजानेपर भी विषयोंका मानसिक संस्कार शेष रह जाता है। चौथी दशा उससे आगे है। सर्वश्रेष्ठ परवैराग्यकी अवस्था वह कहाती है कि जिस समय साधक वैराग्यसाधनसे ऐसी पूर्णताको प्राप्त होगया हो कि उस समय उसके अन्तःकरणने एकबार ही संसारसे मुंह फेर लिया हो; वह वैराग्यकी सर्वश्रेष्ठ अवस्था चौथी अवस्था है। जब परवैराग्यके उदय होनेसे अन्तः-करण पूर्णरूपेण इच्छाशून्य होजाता है, तब वह संसारकी ओर देखता ही नहीं। योग-पथ में अग्रसर होते हुए महात्मागणको नाना प्रकारकी दिव्य ऐशी सिद्धियोंकी प्राप्ति हुआ करती है, जिनके द्वारा योगी चाहे जो कुछ कर सकता है; यह परवैराग्यकी ही शक्ति है कि जिससे साधक पुनः सिद्धिरूप विषयोंमें नहीं फंसते। इस कारण वैराग्यकी पूर्णावस्था परवैराग्य और साधनकी पूर्णावस्था अन्तःकरणकी निरुद्धता इन दोनोंका एक ही लक्षण है। इस प्रकार क्लिष्टरूपी पापजनक वृत्तियोंको शनैःशनैः अक्लिष्टरूपी पुण्यजनक वृत्तियोंसे दबाना उचित है और पुनः वैराग्य-अभ्याससे अक्लिष्ट वृत्तियों तकको दबाकर इच्छारहित होनेसे मुक्तिपदकी प्राप्ति हो सकती है।

योगशास्त्रने साधन और वैराग्ययुक्त पुरुषार्थके आठ भेद किये हैं और वे ही योगके आठ अंग कहाते हैं; यथा-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, ईश्वर-विश्वास और लोभका त्यागना, ये यम कहाते हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति, ये नियम कहाते हैं। इस प्रकार यम और नियम द्वारा जब अन्तःकरणकी वृत्ति शुद्ध हो जाती है तभी साधक योग-मार्गमें अग्रसर होता है। आसन उन शारीरिक क्रियाओंका नाम है कि जिनके द्वारा शरीर और मन दोनों प्रसन्न रहते हैं; अर्थात् जिस सुगम रीतिमें बैठनेसे योग-साधन ठीक बनता हो। रेचक, पूरक और कुंभक द्वारा शनैः शनैः प्राणवायुपर आधिपत्य जमानेका नाम प्राणायामक्रिया है; अर्थात् मनसे वायु-का साक्षात् सम्बन्ध है इस कारण प्राणवायु वशीभूत होनेसे मन

आप ही वशीभूत हो जाता है। जिस प्रकार कछुआ अपने अंगोंको सकोड़ लेता है उसी प्रकार विषयोंसे इन्द्रियोंको सकोड़ लेनेका नाम प्रत्याहार है। पञ्चतत्त्वादि सूक्ष्म विषयोंमें मनको ठहरानेका नाम धारणा है; अर्थात् धारणा-अभ्यासके समय योगी अन्तर्जगत्में भ्रमण करने लगता है। भगवत्‌रूपको ध्यान करनेका नाम ध्यान है अर्थात् ध्यानावस्थामें ध्यानकी सहायतासे ध्याता और ध्येयका ज्ञान रहता है; यही द्वैत – अवस्था ध्यानकी है। धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन साधन-क्रियाओं द्वारा जब साधक एक ही पदार्थविशेष में युक्त हो तो साधककी उस अवस्थाको संयम कहते हैं, यह संयम-क्रिया सविकल्प समाधि में हुआ करती है। यह संयमसाधनकी ही शक्ति है कि जिसके द्वारा महर्षि गण त्रिकालदर्शी हुआकरते थे। यह उस संयम-साधनकी ही शक्ति है कि जिसके द्वारा महर्षिगणने विना वहिश्चेष्टाके केवल संयमसे ही युक्त होकर नाना शारीर-विज्ञान एवं ज्योतिष आदि नाना वहिर्विज्ञानोंको आविष्कार किया था। संयमसम्बन्धीय इन साधनोंका वर्णन विभूतिपादमें आया है। समाधि उस अवस्थाका नाम है कि जब ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनोंकी स्वतंत्र सत्ता मिटकर एक रूप हो जाय और सिवाय परमात्माके और दूसरा भाव न रहे। इस प्रकारसे यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चारों वहिर्जगत्‌के साधन हैं; और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चारों अन्तर्जगत्‌के साधन हैं; इस प्रकार सुकौशलपूर्ण योगके आठ अंगोंका साधन करते करते साधक शनैः शनैः अंतःकरणको निरुद्ध करता हुआ कैवल्यरूपी मुक्तिपद को प्राप्त कर लेता है।

पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलिकृत "योगदर्शन" सकल प्रकारके साधनोंकी सार्वभौम भित्ति है; अर्थात् साधक चाहे किसी प्रकारका हो, चाहे वह मंत्रयोगका अधिकारी हो, चाहे वह हठयोगका अधिकारी हो, चाहे वह लययोग का अधिकारी हो, चाहे वह राजयोगका अधिकारी हो, चाहे वह भक्त हो, चाहे ज्ञानी, चाहे भोगी हो चाहे त्यागी, योग-शास्त्र सब प्रकारके जीवोंके लिये कल्याण-पथ दिखा चुका है। चार प्रकारके योगसाधनमार्ग और नाना प्रकारके साम्प्रदायिक-साधनमार्ग और भक्तिसाधनादि सब इसी योगशास्त्रकी प्रदर्शित भित्तिपर स्थित

हैं। अष्टांग योगके अतिरिक्त और भी कई प्रकारसे योगकी प्राप्ति हो सकती है, इसका वर्णन भी योगसूत्रोंमें भलीभांति आ चुका है। जीव-हितकारी महर्षिजीने यह प्रमाणित कर दिया है कि अष्टांग योग ही सीधा और साधारण पथ है; परन्तु इसके अतिरिक्त असाधारण मार्गमें ईश्वरभक्तिका अभ्यास, प्रणव आदि मंत्रोंका जप, प्राणायाम साधन, पञ्चतन्मात्रारूपी दिव्य विषयोंमें मनका लय-साधन करना, ज्योतिः आदि भगवत्‌रूपका ध्यान, मनकी शून्यता-अभ्यास और अपनी इच्छा–अनुसार शुद्ध मूर्तियोंमें मन लगाकर ध्यान करनेसे भी शनैः शनैः अन्तःकरण एकाग्र हो जाता है और इस प्रकार एकाग्र होता हुआ निरुद्ध अवस्थाको प्राप्त करके जीव मुक्ति-पदको पहुंच सक्ता है। चाहे कोई किधरसे चले, योगशास्त्रकी बताई हुई एकाग्र-भूमिसे निरुद्ध-भूमिमें पहुंचनेका नाम ही साधन है।

योगशास्त्रने समाधिके दो भेद किये हैं; यथा-सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि। सविकल्प समाधिमें साधकका अन्तःकरण निरुद्ध हो जानेसे वह भगवत्‌साक्षात्कार करने लगता है; परन्तु दर्शन करना तब बना रहता है अर्थात् समाधिकी उस पूर्व्व अवस्थामें जीवको आत्म-साक्षात्कार तो हो जाता है, परन्तु द्वैतका भेद बना रहता है। निर्विकल्प समाधि वह कहाती है जहां प्रकृतिका पूर्णरूपेण ही लोप होकर जीव और ब्रह्मकी एकता स्थापन हो जाय, अर्थात् उस समय एक अद्वितीय सत् चित् आनन्द रूप परमात्माके सिवाय और कोई दूसरा भान न रहे। यही योगमार्गका कैवल्यरूपी मुक्तिपद कहाता है, इस स्थानपर आकर वेदोक्त सब मत एक हो जाते हैं; यही वेदान्तका ब्रह्मसद्भाव है, यही भक्तिमार्गकी पराभक्ति है, यही और २ दर्शनोंकी अत्यन्त दुःख-निवृत्ति है और यही वेदोक्त आत्म-साक्षात्कार है। इसी अवस्थामें जीवके जीवत्वका नाश हो जाता है, वह जहांसे आया था वहीं पहुंच जाता है, जो था वही हो जाता है। अनादिकालसे उत्पन्न हुई और अनन्तकाल तक रहनेवाली यह सृष्टिक्रिया यदिच उस समय भी रहेगी; परन्तु वह जीव कि जिसने योग-साधनरूपी पुरुषार्थ किया था, योग-साधनसे मुक्त हो जायगा और उसके मुक्त होने के कारण उसके अंशकी प्रकृति महा-

प्रकृतिमें लय हो जायगी। वह आकाश पतित, पुनरावृत्तिको प्राप्त हुए वारिविंदुकी तरह परमात्मारूपी महासमुद्रमें लय होजायगा। यह वाक्यातीत, मनके अगोचर मुक्तावस्था ही योग-साधनका लक्ष्य है।

ज्ञानभूमियोंके सप्त भेदानुसार वैदिक दर्शनशास्त्रसमूह भी सप्तधा विभक्त हैं। तदनुसार महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनके द्वारा स्वकीय ज्ञानभूमि प्रकाशित होनेपर भी इसमें विशेषता यह है कि अन्य किसी दर्शनकी ज्ञानभूमिके साथ योगदर्शनका विरोध नहीं है। प्रायः एक दर्शन स्वकीय ज्ञानभूमिकी दृढ़तासम्पादनार्थ अन्य ज्ञानभूमिपर कटाक्ष करता है और यद्यपि इस प्रकार परकीय दूषण और स्वकीय मण्डन द्वारा ज्ञानभूमिके तारतम्यानुसार दार्शनिक बोध-शैलीकी पुष्टि ही होती है तथापि योगदर्शनमें इस प्रकार खण्डन मण्डन प्रणालीका लवलेश नहीं है यह इस परमोपयोगी दर्शनकी समदर्शिता और सर्वहितकारिताका श्रेष्ठ निदर्शन है।

योगदर्शनके विज्ञानके साथ सांख्यदर्शनविज्ञानका घनिष्ट सम्बन्ध है। योगदर्शनविज्ञान वैदिक काण्डत्रयप्रतिपादक मीमांसात्रय-का परम सहायक है और यौगिक क्रियासमूहका मूलरूप है। इसके द्वारा सकल प्रकारकी उपासनाओंमें विशेष सहायता प्राप्त होती है।

अन्य दर्शनोंसे योगदर्शनकी यह और एक विशेषता है कि इस-में दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय केवल दो प्रकारके कर्म ही माने गये हैं जिससे पुरुषार्थवादियोंके लिये यह दर्शन विशेष उपकारी है। इस दर्शनके मतानुसार योगी पुरुषार्थके प्रभावसे सभी कुछ कर सकता है। अन्य दर्शनोंके अनुसार मुमुक्षु साधक, धीरे धीरे अधिकारानुकूल उन्नतिपथमें अग्रसर होता है, परन्तु योग-दर्शन स्वकीय अलौकिक योगशक्ति द्वारा सभी को सब प्रकारके अधिकार प्रदानमें समर्थ होता है, यही अन्यदर्शनोंसे इसकी विशेषता है। किसी दर्शनकी भूमिमें ईश्वरका पता ही नहीं लगता है, अन्य कोई दर्शन केवल दूर ही से अनुमान करके ईश्वरका गुणगान करता है, परन्तु योगदर्शनकी यह परम महिमा है कि इसके द्वारा योगी ईश्वरराज्यकी अणिमादि विभूतिपर्यन्त प्राप्त कर लिया करते हैं। इस दर्शनकी और भी एक विशेषता यह है कि जिस प्रकार अन्य दर्शनों-

में विचारकी सहायतासे मुमुक्षुको क्रमशः अध्यात्मपथमें अग्रसर किया जाता है, योगदर्शनमें उसका अवलम्बन तो किया ही गया है; अधिकन्तु पुरुषार्थप्रधान साधनोंका भी प्रयोग साथ साथ होनेसे और साधनक्रियाओंसे उत्पन्न प्रत्यक्ष फलोंकी भी प्राप्ति इसमें होनेसे योगदर्शनपथमें विचरणशील मुमुक्षुजनोंके हृदयमें श्रद्धा तथा विश्वासकी दृढ़ता सदा ही बनी रहती है और इसकी ज्ञानभूमिके प्रति परम प्रीतिका सञ्चार साधकके हृदयमें सदा ही होता रहता है जिससे अध्यात्मज्ञानोन्नति और स्वरूपस्थिति उसके लिये बहुत ही सहज होजाती है।

योगदर्शनमें चित्त और अन्तःकरण शब्दको पर्यायवाचक करके वर्णन किया गया है। स्मृति में भी लिखा है—

मनो महान् मतिर्ब्रह्मा अन्तःकरणमेव च।
प्रज्ञा संविच्चितिर्मेधा पूर्बुद्धिस्स्मृतिचञ्चलाः।
पर्यायवाचकाः शब्दा मनसः परिकीर्तिताः॥

मन, महान्, मति, ब्रह्मा, अन्तःकरण, प्रज्ञा, संवित्, चित्त, मेधा आदि शब्द पर्यायवाचक हैं। इसी चित्त अर्थात् अन्तःकरणको यमनियमादि साधारण उपाय अथवा ईश्वरप्रणिधान, अभिमत ध्यानादि असाधारण उपाय, किसीकी भी सहायतासे निरुद्ध कर देने पर पुरुष प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त होकर स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाता है, यही इस दर्शनका सार सिद्धान्त है।

न्याय और वैशेषिक दर्शनोंकी भूमियोंको अतिक्रमण करके साधक योगदर्शनकी भूमिको प्राप्त करता है। योगदर्शन और सांख्य-दर्शनकी भूमि प्रायः एक ही प्रकारकी है। केवल इतना ही भेद है कि सांख्यकारने स्पष्टरूपसे पचीस तत्त्वोंको माना है और योगदर्शन-ने छब्बीस तत्त्वोंको माना है। योगदर्शनमतानुसार वह छब्बीसवां तत्त्व ईश्वर है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सांख्यदर्शनकारने ईश्वरको माना ही नहीं; बल्के उन्होंने 'ईश्वरासिद्धेः' इस सूत्रके द्वारा ईश्वरके अस्तित्वका स्वीकार ही किया है। केवल इतनी ही बात है कि सांख्यदर्शनमें लौकिक पुरुषार्थके द्वारा ईश्वर असिद्ध है परन्तु यौगिक अलौकिक पुरुषार्थ द्वारा ईश्वर सिद्ध है ऐसाही कहा है। सांख्यदर्शनभूमिमें अलौकिक पुरुषार्थका प्रयोजन नहीं है इसलिये

इस भूमिमें ईश्वर माननेकी आवश्यकता ही नहीं है और योग-दर्शन अलौकिक योगशक्ति का पक्षपाती है इसलिये योगदर्शनभूमिमें ईश्वर अङ्गीकृत है। यही दोनों दर्शनभूमियोंकी एकता और प्रभेद है। यदि सांख्यदर्शनमें ईश्वर अङ्गीकृत एकवारगी ही न होते तो "ईश्वरासिद्धेः" अर्थात् ईश्वर असिद्ध है ऐसा सूत्र न होकर "ईश्वरा-भावात्" अर्थात् ईश्वरका अस्तित्व ही नहीं है ऐसा सूत्र होता। अतः सांख्य और योग दोनों दर्शन ही आस्तिक हैं इसमें सन्देह नहीं।

इस हिन्दी भाष्यमें श्रीभगवान् वेदव्यासकृत योगदर्शनभाष्यकी ही व्याख्यारीतिका अवलम्बन किया गया है। केवल व्यासकृत भाष्य अति संक्षिप्त और दुर्बोध्य है इसलिये उसीके विज्ञानको ही विस्तारपूर्वक लिखा गया है। अन्यान्य टीकाकार तथा वृत्तिकारोंके भी सिद्धान्त जो व्यासभाष्यके ही अनुकूल हैं वे ही इसमें कहीं कहीं सन्निवेशित किये गये हैं। आशा है इस हिन्दीभाष्यके पठन द्वारा जिज्ञासुगण परितृप्ति लाभ कर सकेंगे।

योगदर्शन ।

समाधिपाद ।

अब योग विषयका अनुशासन कहा जाता है ॥ १ ॥

" अथ " शब्द माङ्गलिक है अर्थात् विघ्नविनाश और निर्विघ्न-परिसमाप्तिरूप मंगलके अर्थ " अथ " शब्द का प्रयोग होता है। स्मृतिमें भी लिखा है–

ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ ॥

पूर्वकालमें ओंकार और अथ ये दोनों शब्द ब्रह्माजीका कण्ठ भेद करके निकले थे इसलिये ये दोनों ही माङ्गलिक हैं। ' अथ ' शब्दका प्रयोग अधिकारार्थमें भी होता है अर्थात् तत्त्व-ज्ञानप्रकाशके लिये अधिकारनिर्णयकी अपेक्षा रहती है इसलिये अधिकारार्थक अथ शब्द प्रयुक्त होता है। तृतीयतः अथ शब्दका ' आनन्तर्य ' अर्थमें भी प्रयोग होता है अर्थात् राजानुशासन और शब्दानुशासनके अनन्तरही योगानुशासन होता है, यही– ' आनन्तर्य ' अथ शब्दके द्वारा प्रकट किया गया है। प्रकृति त्रिगुण-मयी होनेसे मनुष्योंकी बुद्धि भी तीन प्रकारकी होती है, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है–

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

जिस बुद्धिके द्वारा प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बन्ध और मोक्ष यथावत् परिज्ञात होता है वही बुद्धि सात्त्विक है। जिस बुद्धिके द्वारा धर्म अधर्म, कार्य अकार्य यथावत् परिज्ञात नहीं होता है वह बुद्धि राजसिक है। तमसावृत जो बुद्धि धर्ममें अधर्म और अधर्ममें धर्म दिखावे तथा सकल विषयोंमें ही विपरीत ज्ञान उत्पन्न करे वही बुद्धि तामसिक है। तामसिक बुद्धि पर आवरण अधिक होनेसे राजदण्ड और समाजदण्डके द्वारा ऐसी बुद्धि न्यायपथमें प्रवर्तित कीजाती है। राजसिक बुद्धि संशययुक्त होनेसे वेद और आचार्यके उपदेशोंसे सन्देहोंका निराकरण कियाजाता है। अतः तामसिक और राजसिक अधिकारोंके लिये राजानुशासन और शब्दानुशासन हितकर है; किन्तु सात्त्विक बुद्धि सर्वथा मलिनता मुक्त और स्वच्छ होनेसे उसके लिये योगानुशासन ही हितकर होगा। सात्त्विकबुद्धिसम्पन्न साधक गुरूपदिष्ट अष्टाङ्गयोगके साधन द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध करके स्वरूपसाक्षात्कार अनायास ही कर सकेंगे। अतः 'अथ' शब्दका अधिकारानुसार आनन्तर्य अर्थमें प्रयोग युक्तियुक्त है। समाधि वाचक 'युज्' धातुसे बननेके कारण 'योग' शब्दका अर्थ समाधि है और समाधि सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकारकी होनेसे तटस्थभूमिसे लेकर स्वरूपभूमिपर्यन्त चित्तका समस्त परिणाम ही योगशब्दवाच्य है। 'अनुशासन' शब्दका अर्थ आज्ञा है अर्थात् अधिकारिनिर्णयानन्तर योगकी आज्ञाकी जाती है यही इसका अर्थ है। जितने दर्शनशास्त्र हैं वे सब वेदार्थके समझानेके अर्थ दर्शन अर्थात् नेत्ररूप हैं। प्रत्येक दर्शन-शास्त्रने वेदके आशयके एकएक दिक्‌को वर्णन किया है; उसी नियमके अनुसार महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन योगमार्गका प्रकाशक है; अर्थात् पूज्यपाद महर्षि कुछ इस दर्शनके सृष्टिकर्त्ता नहीं हैं परन्तु वेदके योग-अंशके प्रकाशक हैं; इस कारण महर्षिजीने "अनुशासन" शब्दका प्रयोग किया है। द्वितीयतः योगशास्त्र सार्व्वभौममतयुक्त है इस कारणसे भी अनुशासन शब्दका प्रयोग प्रथम सूत्रमें किया गया है। तात्पर्य यह है कि तामसिक बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये राजानुशासन और राजसिक बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये शब्दा-

नुशासन विहित होनेसे केवल सात्त्विकबुद्धिसम्पन्न उन्नत मनुष्योंके लिये योगानुसाशन का विज्ञान प्रारम्भ किया गया। यही प्रथम सूत्रके कहनेका उद्देश्य है ॥ १ ॥

पूर्वोक्त अनुशिष्यमाण योग क्या वस्तु है ?

चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम योग है ॥ २ ॥

चित्त शब्द से यहां अन्तःकरणसे अभिप्राय है, इस अन्तःकरणकी वृत्तियोंका प्रतिलोमविधिके अनुसार स्वकारणमें लय होजाने का नाम योग है। अन्तःकरणकी भूमियों के भेदानुसार यह लय दो प्रकारसे होते हैं- एक त्रिपुटिके सूक्ष्म अस्तित्वके साथ सम्प्रज्ञात समाधि दशामें और दूसरा त्रिपुटिके पूर्ण विलय होनेसे असम्प्रज्ञात समाधि दशामें। योगाचार्योंने अन्तःकरणकी पांच भूमि बताई हैं। यथा - मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। जब अन्तःकरण सत् असत् विचारहीन हो आलस्य, विस्मृति आदिके वश रहकर कुछसे कुछ करता रहता है, अर्थात् जिस प्रकार बेलगाम का घोड़ा या आलसी मनुष्य का चित्त उन्मत्त हो कहींसे कहीं भागता रहता है; उसी प्रकार जब चित्त चंचल हो अपने आप नाचता रहता है तो चित्तकी इस प्रकारकी तमोमूलक प्रवृत्ति मूढ़ भूमिका लक्षण है। दूसरी भूमिका नाम क्षिप्त है, यह भूमि रजोगुणकी है; अर्थात् जब मन किसी एक कार्य्यमें लगकर बुद्धिकी सहायतासे विचार करता हुआ किसी लक्ष्यका साधन करता रहता है, जैसे लगामका घोड़ा या विचारवान् वा किसी कर्म्ममें तत्पर पुरुषके चित्तकी अवस्था होती है, वह क्षिप्त भूमि है। क्षिप्तसे विशेषतायुक्त तीसरी भूमिका नाम विक्षिप्त है, यह सत्त्वगुणसे उत्पन्न होती है; अर्थात् जब अन्तःकरण कभी कभी सुख और दुःख, विचार और आलस्य, तमोगुण और रजोगुणकी वृत्तिसे अलग होकर सूना हो जाता है वह सत्त्वगुणकी भूमि है; इस भूमि की प्राप्ति सांसारिक मनुष्योंमें बहुत थोड़ी देरके लिये कभी कभी हुआ करती है। अन्तःकरणकी यह तीन प्रकारकी भूमियां सब मनुष्योंमें गुणोंके भेदसे साधारण रीतिपर हुआ करती हैं और अपने अपने गुणानुसार न्यूनाधिक होती हैं। इन तीनों से जब मनुष्यका

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

चित्त अलग होकर ठहर जाय अर्थात् किसी प्रकारकी वृत्ति ही न उठे वही अवस्था चित्तकी निरुद्ध भूमिकी कहाती है और यही योगका लक्ष्य है और इस ही निरुद्ध भूमिके प्राप्त करनेके अर्थ जो उपाय शास्त्रोंमें कहे गये हैं अर्थात् चित्तकी स्वाभाविक वृत्तियोंसे अलग एक नई प्रकारकी जो भूमि है, जो श्रीगुरु महाराजके उपदेश द्वारा साधन करनेसे ही होती है उस भूमिको एकाग्र भूमि कहते हैं। जब चित्त में ध्याता, ध्यान और ध्येय इन पदार्थोंके अतिरिक्त चौथा पदार्थ और कुछ भी नहीं रहता, तब ध्यानके द्वारा ध्येय पदार्थमें ही ध्याता का लक्ष्य जम जानेसे इस भूमिका उदय होता है। इस प्रकार से मूढ़ क्षिप्त और विक्षिप्त, यह अन्तःकरणकी तीन साधारण भूमियां तथा एकाग्र और निरुद्ध यह दो असाधारण भूमियां मिलकर अन्तःकरणकी पांच भूमियां कहाती हैं; प्रथम तीन भूमियां तो सब जीवगणमें ही हुआ करती हैं किन्तु शेष दो भूमियां केवल योगानुशासनके अधिकारी साधक-गणमें ही होसक्ती हैं। एकाग्र भूमिमें जब साधन करते करते ध्याता अर्थात् साधक सिद्ध अवस्थामें पहुंच जाता है तब ही उसके चित्त की ध्याता ध्यान ध्येय रूपी तीन अवस्थाएं एक होजाती हैं। एकाग्र भूमिके साधनोंका अभ्यास करते करते योगी क्रमशः तटस्थ अधिकारसे स्वरूपके अधिकारमें पहुंचने लगता है: अर्थात् एकाग्र दशामें त्रिपुटि रहती है, परन्तु क्रमशः साधनकी उन्नतिसे निरुद्ध भूमिमें पहुंचकर त्रिपुटि और तटस्थज्ञान का लय होजाता है। उसी अन्तिम निरुद्ध भूमिमें क्रमशः समाधि की पूर्णता प्राप्त होजाती है और वही निरुद्ध-अवस्था योगका लक्ष्य है। निरुद्ध भूमिका उदय होकर योगीको प्रथमतः सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है जिसमें त्रिपुटिकी विलयदशा होने पर भी उसकी अति सूक्ष्म सत्ता अवश्य ही बनी रहती है। इसके अनन्तर जब त्रिपुटि की वह भी सूक्ष्मतम सत्ता एकबार ही नष्ट होकर विकल्परहित स्वरूपावस्थाकी स्थिति होजाती है तब उस अवस्थाको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्थामें संस्कारका लेश तक न रहनेसे इसको निर्बीज भी कहते हैं और इसमें विवेकका उदय होनेसे इसकी 'धर्ममेघ' संज्ञा भी होती है। यही चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग है॥ २॥

चित्त वृत्तिनिरोधसे क्या होता है ?

तब द्रष्टा (पुरुष) अपने स्वरूप में अवस्थान करता है॥३॥

वह अन्तःकरण ही है कि जिसके साथ पुरुष अर्थात् चैतन्यका सम्बन्ध होनेसे पुरुष अपने आपको अन्तःकरणवत् मानने लगता है और यह मान लेना ही बन्धन का हेतु है। इस अन्तःकरणके तीन भेद हैं; यथा-मन, बुद्धि और अहंकार। जब अन्तःकरण एक विषयसे दूसरे विषयमें लगातार दौड़ता रहता है और कोई अपना एक लक्ष्य स्थापन नहीं करता तो अन्तःकरणके उस भेदको मन कहते हैं; जब वह मन किसी एक पदार्थ विशेष में ठहर जाता है और ज्ञानकी सहायतासे सत् असत्के विचारमें लग जाता है तब अन्तःकरण की वह प्रकाशमान अवस्था बुद्धि कहाती है; अहंकार अन्तःकरणके उस भावको कहते हैं कि जिस भावसे अन्तःकरण अपने आपको एक स्वतन्त्र पदार्थ मानने लगता है, अन्तःकरणमें उस अहंतत्त्वके, जिसकी कि उत्पत्तिसे चैतन्य अविद्यामें फँसा था, विस्तारका नाम ही अहंकार है; अहंकार सब समय अन्तः करणमें वर्त्तमान रहता है इस कारणसे ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र अन्तःकरण स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूपसे सब समय सृष्टिक्रिया कर रहे हैं। इन्हीं तीन-मन, बुद्धि, अहंकार रूप अन्तः करण*के चंचल प्रभावसे ही पूर्ण ज्ञानरूप चैतन्य अपने स्वरूपको अनुभव नहीं करसक्ते हैं। पुरुष वास्तवमें नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है क्योंकि बन्धन यदि पुरुषका स्वाभाविक धर्म होता तो स्वाभाविक धर्मके यावद्द्रव्य-भावित्व होनेसे पुरुषकी मुक्ति कभी नहीं होसकती है। प्रकृतिके द्वारा पुरुषका केवल औपचारिक बन्धन मात्र है; अर्थात् जिस प्रकार जवा-कुसमके सामने स्फटिकके रहनेसे स्फटिकमें जवाकुसुमका लौहित्य उपचरित होता है उसी प्रकार प्रकृतिके सामने रहनेसे पुरुषमें

तदा द्रष्टुस्स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

* मतान्तरमें अन्तःकरणके चार भेद बताये गये हैं। यथा—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। उसमेंसे चित्तको संस्कारोंका आश्रय कहागया है। चित्तगत संस्कार ही स्मृतिका उदय करके जीवको कर्मचक्रमें आवर्त्तन करता है ऐसा उन मतोंका सिद्धान्त है। परन्तु इस दर्शनमें चित्तको मनका ही अन्तर्भाव कहनेसे इसका पृथक् निर्देश नहीं किया गया है।

प्रकृतिजन्य आभिमानिक वन्धन मात्र होता है। जब योग-साधनसे अन्तःकरणकी सब वृत्तियां ठहर जाती हैं तब केवल द्रष्टारूप अर्थात् साक्षीरूप जो चैतन्य हैं वेही अपने स्वरूपमें रहजाते हैं। पूर्ण ज्ञान-रूपी चैतन्यके प्रभाव से ही अन्तःकरण कर्म्म कर सकता है, क्योंकि वह चैतन्य ही की शक्ति है कि जिससे जड़ पदार्थ अन्तःकरण चैतन्यमान् हो रहा है, और पूर्व्व कहे हुए सत्त्व रज और तमकी वृत्ति-योंके साथ नाना प्रकारके कर्म्म कर रहा है; अब योग-साधनमें जब अन्तःकरण निरोध होजायगा और उसमें वृत्ति ही नहीं उठेगी तो उस चैतन्यरूपी पुरुषको फँसानेवाला भी कोई नहीं रहेगा; तब आप ही वे चैतन्य अपने रूपको प्राप्त हो जायँगे। अर्थात् दर्पण पर जब तक नाना प्रकारके रंगोंका प्रतिविम्ब पड़ रहा था तब तक वह यही समझ रहा था कि मैं उस ही रंगका पदार्थ हूं, परन्तु साधन द्वारा उन सब रंगोंका नाश कर दिया जावेगा तो आप ही दर्पण अपने पूर्व्वरूपको प्राप्तहो जायगा। इसके उदाहरणमें तरंग और जलाशयकी गतिको विचार सकते हैं अर्थात् जब तक जलाशयोंमें तरंग उठा करते हैं तब तक मनुष्य उसमें अपना मुंह नहीं देख सकता; परन्तु जलाशयके तरंगोंकी शान्ति होजाने पर शान्त जलाशयमें दर्शक अपना मुख भली भांति दर्शन कर सकता है। इसी ही प्रकार नाना प्रकारकी वृत्तियुक्त अन्तःकरणका निरोध होनेसे केवल द्रष्टारूप चैतन्य ही रह जायँगे और इस अवस्थाकी प्राप्ति ही योगसाधनका लक्ष्य है; और इस ही प्रकारसे वे सच्चि-दानन्द रूपी चैतन्य जब अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेते हैं वही मुक्ति कहाती है॥ ३॥

स्वरूपमें अवस्थान न होनेसे पुरुषकी क्या दशा होती है?

यदि ऐसा नहो तो वे वृत्तिके रूपको प्राप्त होते हैं॥ ४॥

"यदि ऐसा न हो" इससे यह तात्पर्य्य है कि यदि योगसाधन से चैतन्यको निज स्वरूपकी प्राप्ति न हो जैसा कि पूर्व्व सूत्रमें कह चुके हैं तो वे चैतन्य अन्तःकरणकी वृत्तिके साथ वृत्तिके रूपको धारण कर लेते हैं। इस वर्णनका तात्पर्य यह है कि वृतिचाञ्चल्य-

वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ ४॥

अवस्थामें जीवकी क्या दशा होती है? वृत्तियोंके रूपको ही तब वह जीव प्राप्त होजाता है। यही जीवकी बन्धन दशा है। सब प्रकारके जीवोंमें यही वृत्तिसारूप्यकी दशा बनी रहती है। विज्ञानवित् योगियोंके विचारमें सब जीव ही वृत्तियोंकी समष्टिके एक पुतलेमात्र हैं। अब इस सूत्रमें इतना विचार करनेके योग्य है कि किस प्रकारसे चैतन्य वृत्तियोंके साथ मिल जाते हैं? अविद्या के कारण मोहयुक्त होकर चैतन्य पहले अपने आपको अन्तःकरण करके मानने लगे और जब अन्तःकरणका सम्बन्ध तन्मात्रा और इन्द्रियोंके द्वारा किसी विषयमें हुआ तो वे अन्तःकरणमें फँसे हुए पुरुष इन सुख दुःख रूपी वृत्तियोंसे फँसकर अपने आपको उसका कर्त्ता और भोक्ता समझने लगते हैं; यथा—यदि किसी पुरुषकी दृष्टिमें कोई अति मनोहर पदार्थ आवे तो उस पुरुषके अन्तःकरणमें उस पदार्थका चित्र तन्मात्रा और इन्द्रियोंके द्वारा पहुंचकर उस अन्तःकरणको प्रफुल्लित करने लगता है, परन्तु उस शरीरमें स्थित चैतन्य भी अपने आपको अन्तःकरण करके मान रहे हैं, इस कारण इस सुन्दर विषयसे अन्तःकरणको सुख होनेसे उस चैतन्यने अपने आपको सुखी करके जाना है और इस भूलसे ही जीवरूपी चैतन्य सदा फँसा रहता है। यहां पर शान्तघोरमूढस्वभाव वृत्तियोंके साथ पुरुषका संयोग कबसे हुआ ऐसा प्रश्न उठाकर श्रीभगवान् वेदव्यासजीने अपने योगदर्शनभाष्यमें कहा है कि अविद्या और वासनाका विस्तार बीजाङ्कुरवत् अनादि होनेके कारण नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव पुरुषके साथ बन्धनकारिणी प्रकृतिका अनादि सम्बन्ध ही समझना चाहिये। इसी अनादि अविद्याके संयोगसे ही मुक्तस्वभाव पुरुष भी प्रकृतिगत सुखदुःखादिको अपनेमें आरोपित करके व्युत्थानदशामें वृत्तिरूप होजाते हैं यही पुरुषका औपचारिक बन्धन है॥ ४॥

अब जीवबन्धनकारिणी वृत्तियोंके भेद बताये जाते हैं:-

पञ्चावयव वृत्तियां के क्लिष्ट और अक्लिष्ट ये दो भेद होते हैं॥ ५॥

अन्तःकरणके चाञ्चल्यमूलक परिणामविशेषको ही वृत्ति कहते

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः॥ ५॥

हैं। यदिच त्रिगुणभेदसे अन्तःकरणकी वृत्तियां अनन्त हैं परंतु सूक्ष्म विचार करनेसे उन सबोंको पांच अवयवमें ही विभक्त कर सकते हैं। यथा-प्रमाण, विपर्यय, विकल्प आदि जो कि आगेके सूत्रमें बताया गया है। ये सभी वृत्तियां दो प्रकारकी हैं; यथा - क्लिष्ट और अक्लिष्ट। क्लिष्ट वृत्ति उन पापजनक वृत्तियोंको कहते हैं कि जिनसे अन्तःकरणको दुःख पहुंचता हो; यथा - हिंसा, द्वेष, क्रोध आदि। और अक्लिष्ट वृत्तियां उन पुण्यजनक वृत्तियोंका नाम है कि जिनसे अन्तःकरणको सुख पहुंचता हो; यथा - वैराग्य, दया और सरलता आदि। परन्तु इन दोनोंमें विचार इतना ही है कि जब क्लिष्ट वृत्ति उठती हो तो अक्लिष्ट वृत्ति दब जायगी; और जब अक्लिष्ट वृत्ति उठती हो तो क्लिष्ट वृत्ति दब जायगी; इस कारण जिन मनुष्योंमें क्लिष्ट वृत्तियां अधिक हैं वेही पापी मनुष्य कहाते हैं। यह संसार द्वन्द्वमूलक है - ज्ञान और अज्ञान, दिवा और रात्रि, राग और द्वेष, सुख और दुःख आदि इस द्वन्द्वके प्रत्यक्ष दृष्टान्त हैं। इसी स्वाभाविक कारण-से अन्तःकरणमें सत्त्वप्रधान भाव और तमःप्रधान भाव इन दोनोंका रहना भी स्वतःसिद्ध है। जब जलाशयरूपी अन्तःकरणकी तरङ्गरूपी वृत्तियां लहराती हुई सत्त्वभावकी ओर चलती हैं तभी वे अक्लिष्ट हो जाती हैं; उससे पुण्य होता है और जब वे तरङ्गरूपी वृत्तियां तमो भाव की ओर तरङ्गायित होती हैं तब उन्हींको क्लिष्ट कहते हैं। क्लिष्ट वृत्तिद्वारा पाप होता है। इन्हीं दोनोंका फल स्वर्ग और नरक प्राप्ति है। नरकमें दुःखभोग और स्वर्गमें सुखभोग होता है। योगकी लक्ष्य रूपी मुक्ति इन दोनोंसे अतीत है। इसी कारण मुक्तिके पथमें जब जाना पड़ेगा तो अक्लिष्ट वृत्तियोंसे क्लिष्ट वृत्तियों को दबाना पड़ेगा और सब प्रकारकी वृत्तियोंको अर्थात् अक्लिष्ट वृत्तियों तक को भी पर-वैराग्यसे दबाना पड़ेगा; जिसका विवरण आगे सूत्रों में आवेगा ॥५॥

वृत्तियोंके पञ्चावयव क्या क्या हैं ?

वृत्तियों के प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, ये पञ्चावयव हैं ॥ ६ ॥

अन्तःकरणकी अनन्त वृत्तियोंका सूक्ष्म दृष्टिसे विभाग करनेसे

प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

पाँच प्रकारोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा प्रमाण, विपर्य्यय विकल्प निद्रा और स्मृति। अन्तःकरणमें उदीयमान अगणित क्लिष्टाक्लिष्टजातीय वृत्तियोंका यही संक्षेपतः पञ्चावयव विभाग है। यह संसार द्वन्द्व-मूलक होनेसे और सृष्टिके आदि कारणमें पुरुष और प्रकृतिरूपी द्वैत विद्यमान रहनेसे जड़चेतनात्मक और ज्ञानाज्ञानात्मक भावमूलक दशाको अवलम्बन करके ही अन्तःकरणरूपी जलाशय में तरङ्गरूपी चित्तवृत्तियां प्रकट होती हैं। उन वृत्तियोंकी दो दशाएं होती हैं-एक कारण रूपी दशा और एक कार्यरूपी दशा। कार्य अवस्थामें वृत्तियां अनेक रूपको धारण कर लेती हैं इसी कारण शास्त्रोक्त अन्तःकरण की वृत्तियां अनेक हैं। यथा-हिंसा, द्वेष आदि अनन्त पापजनक वृत्तियां और प्रेम दया आदि अनन्त पुण्यजनक वृत्तियां हैं। परन्तु कारण अवस्थामें पाञ्चभौतिक अन्तःकरण पांच ही कारणवृत्ति उत्पन्न करता है, जिनके पृथक् पृथक् लक्षण आगे सूत्रोंमें किये जायँगे ॥ ६॥

अब इन पञ्चावयवों में से प्रथम अवयव प्रमाण का लक्षण कहा जाता है:-

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं ॥ ७॥

यथार्थज्ञानको प्रमा कहते हैं प्रमाका जो करण है अर्थात् यथार्थ ज्ञान सिद्धिके लिये जो साधकरूप है उसका नाम प्रमाण है। मीमांसा-दर्शनने छः प्रकारका प्रमाण माना है। यथा-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अनुपलब्धि और अर्थापत्ति। इसी प्रकार न्याय-दर्शनने केवल प्रमाण करनेमें चार ही प्रकारकी वृत्तियोंकी सहायता ली है; यथा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान। परन्तु सांख्य और योगदर्शनने प्रमाणके अर्थ केवल इस सूत्रमें कही हुई तीन वृत्तियोंको ही स्वीकार किया है। विचारनेसे यही सिद्ध होगा कि, और दर्शन-कर्त्ताओंने जो चार अथवा छः प्रकार-से प्रमाणको सिद्ध किया है वे और कुछ नहीं हैं केवल इन तीन प्रकारोंके ही विस्तारमात्र हैं। वेदार्थके प्रमाण करनेके निमित्तही सप्त दर्शनोंका जन्म है, परन्तु सातों दर्शनोंने वेदार्थ प्रमाण करनेकी गति तीन अवलम्बन की है; यथा-उत्तर मीमांसा दैवी मीमांसा और पूर्व्व मीमांसा की गति एकरूप है, न्याय और वैशेषिककी

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७॥

गति एकरूप है और सांख्य और पातञ्जलकी गति एकरूप है; प्रत्येक विभागके दर्शन एक एक ही पथ पर चले हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण उसको कहते हैं कि जब ज्ञान-इन्द्रियोंके साथ किसी वस्तुका प्रत्यक्ष अर्थात् व्यवधान रहित सम्बन्ध पड़े, और ज्ञान-इन्द्रियगण उस वस्तुका साक्षात् अनुभव प्राप्त करें; यथा-नेत्रोंके सामने दीपककी ज्वाला। अनुमानादि प्रमाण भी प्रत्यक्ष-मूलक ही होनेसे प्रत्यक्ष प्रमाण अन्य प्रमाणोंसे श्रेष्ठ है और इसी लिये इसका प्रथम निर्देश किया गया है। अनुमान प्रमाण उसको कहते हैं कि जब किसी वस्तुका पूर्व्व ज्ञान हो और उस वस्तुके लक्षणोंका भी ज्ञान हो, पुनः विना उस वस्तुके देखे केवल उसके लक्षणोंके देखनेसे ही उस वस्तुका अनुमानसे प्रमाण करलिया जाय; यथा-दूरवर्ती पर्व्वतमें धूम्रको देखकर अग्निका प्रमाण करना। और आगम प्रमाण उसको कहते हैं कि आप्त अर्थात् भ्रम रहित सत्-पदार्थके जाननेवाले पुरुष जो सत्-वार्ता उपदेश करें उन्हीं सत्-वाक्योंको प्रमाण मान लेना। आगम प्रमाणसे प्रायः वेदका प्रमाण ही सिद्ध होता है, क्योंकि वेद ईश्वरप्रणीत हैं; इस कारण अभ्रान्त हैं। योगदर्शन यही स्वीकार करता है कि केवल इन तीन प्रकारके ज्ञानसे ही पदार्थका प्रमाण-ज्ञान प्राप्त होता है। पञ्चावयव वृत्तियोंमें से प्रमाणवृत्तिकी इस प्रकार महिमा सिद्ध होने पर भी प्रमेयके सम्बन्धसे ही प्रमाणज्ञान होनेके कारण तटस्थ ज्ञानकोटि में ही प्रमाणका अन्तर्भाव है। अतः तटस्थ दशासे अतीत होकर स्वस्वरूपमें पुरुषकी प्रतिष्ठा लाभके लिये प्रमाणवृत्तिका भी निरोध करना अत्यावश्यकीय होगा इसमें सन्देह नहीं॥ ७॥

अब द्वितीयावयव विपर्यय का लक्षण किया जाता हैः-

किसी पदार्थ के यथार्थरूपसे विरुद्ध मिथ्या ज्ञानको विपर्यय कहते हैं॥ ८॥

जिस प्रकार कभी मार्ग चलते हुए मनुष्यको रात्रिमें रज्जु देखकर सर्प का भ्रम-ज्ञान होता है, जिस प्रकार मृग को मरीचिकाभ्रम होता है और जिस प्रकार सीपके देखनेसे रजतका भ्रम होता है.

विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्॥ ८॥

इसी प्रकारके भ्रम-पूर्ण ज्ञानको विपर्य्यय कहते हैं। सन्देह-पूर्ण-ज्ञानको भी विपर्यय-ज्ञान समझना उचित है; क्योंकि यह ज्ञान भी भ्रम-शून्य नहीं है। प्रमाण-ज्ञान से विपर्यय-ज्ञान का खंडन होजाता है। 'अतद्रूपप्रतिष्ठित' शब्दका अर्थ यह है कि जिस वस्तुका वास्तविक जो स्वरूप हो उससे विरुद्ध अथवा सन्देहयुक्त भावमें उसका अनुभव होना। यथा—एक चन्द्रमें द्विचन्द्रदर्शन अथवा आत्मा है कि अनात्मा है, सुख है कि दुःख है इस प्रकार सन्देह। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने इस प्रकार मिथ्या ज्ञानको पञ्चपर्वमें विभक्त किया है। यथा—तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र। पुराण में भी लिखा हैः—

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥

तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र, अविद्याके ये पञ्च पर्व हैं। समस्त क्लेशोंके मूलस्वरूप अनित्याशुचिदुःखादिमें विपरीत ज्ञानमूलक अविद्याको तम कहते हैं। बुद्धि प्रतिबिम्बित चैतन्यका प्रकृतिसङ्गवशात् अपनेको प्रकृतिसे अभिन्न माननारूप अस्मिता ही मोह है। संयमादिसाधनशून्य होने पर भी सभी मेरा सुखकर होजाय इस प्रकार रागको महामोह कहते हैं। दुःखके अनेक कारण विद्यमान रहने पर भी 'मुझे दुःख न हो' इस प्रकार द्वेषमूलक विपर्यय भावको तामिस्र कहते हैं और जीव शरीर अनित्य होने पर भी 'मेरी मृत्यु न हो' इस प्रकार सबमें होनेवाले मरणत्रासरूप अभिनिवेशको अन्धतामिस्र कहते हैं। इस प्रकार पञ्चपर्वमें विभक्त विपर्ययज्ञानसे अनेक मिथ्याज्ञान उत्पन्न होकर पुरुषको संसारचक्रमें विघूर्णित करते हैं अतः पुरुष की स्वरूप प्रतिष्ठाके लिये विपर्यय ज्ञानका निरोध अवश्य कर्त्तव्य है॥ ८॥

तदनन्तर तृतीयावयव विकल्प वृत्तिका लक्षण किया जाता हैः—

यथार्थभावशून्य केवल शब्दज्ञानमात्रसे निश्चयपरा वृत्तिको विकल्प कहते हैं॥ ९॥

किसी पदार्थको सुनकर उस पदार्थकी सत्यता और असत्यता

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ ९॥

पर विना बुद्धि जमाये जैसा सुना वैसा ही मान लेनेको विकल्प कहते हैं। यथा–संसार कहता है कि "प्रातःकाल सूर्य्य निकलते हैं और सन्ध्याको छिप जाते हैं" इस बातको सुनकर सूर्य्यके निकलने और छिपनेको स्वीकार कर लेना ही विकल्पज्ञान हुआ: क्योंकि वास्तवमें सूर्य्यदेव न तो निकलते और न छिपते हैं, पृथिवीकी चालसे ही ऐसा दर्शन होता है। अब प्रश्न यह होता है कि जब विकल्प वृत्तिके साथ शाब्दज्ञानका सम्बन्ध है, तो इसको प्रमाण वृत्तिके अन्तर्गत क्यों न माना जाय अथवा यथार्थ सत्ताशून्य होनेसे विपर्यय वृत्तिसे ही क्यों इसकी पृथक्ता मानी जाय? इसका उत्तर यह है कि विकल्पवृत्तिके साथ शाब्दज्ञानका सम्बन्ध रहने पर भी शशश्रृङ्गकी तरह यथार्थभावशून्य होनेके कारण यथार्थज्ञानमूलक प्रमाणवृत्तिकी कोटिमें विकल्पका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। द्वितीयतः विकल्पवृत्तिके मिथ्याज्ञानरूप होने पर भी शाब्दज्ञानके साथ इसका सम्बन्ध रहनेके कारण शाब्दज्ञानके सम्पर्कसे शून्य विपर्यय वृत्तिसे इसकी पृथक्ता अवश्य सिद्ध है। अतः उल्लिखित लक्षणयुक्त विकल्पवृत्ति, प्रमाण और विपर्यय दोनों वृत्तियोंसे ही भिन्न तृतीय वृत्ति है। यह विकल्पज्ञान भी प्रमाणज्ञानसे नाश होजाता है और तदनन्तर समस्त वृत्तियोंके निरोधसे पुरुषकी स्वरूपप्रतिष्ठा होती है॥९॥

तदनन्तर चतुर्थावयव निद्रावृत्तिका लक्षण किया जाता है:–

प्रमाणादि वृत्तियोंके अभावके कारणको अवलम्बन करके जिस वृत्तिका उदय होता है उसे निद्रा कहते हैं॥१०॥

अन्तःकरणकी प्रमाण, विपर्ययादि वृत्तियां तब ही तक जाग्रत् रह सकती हैं जब तक मनके साथ विषयरूप अवलम्बन बना रहे: परन्तु जब अन्तःकरणमें तमोगुणके अधिक बढ़जानेसे उल्लिखित वृत्तियां अवलम्बनसे हट आती हैं; तब उनके अभावके प्रत्यय अर्थात् कारणरूप तमोगुणको आश्रय करके जिस वृत्तिका उदय होता है उसे निद्रावृत्ति कहते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि निद्रावस्थामें विषयसम्बन्धका अभाव होने पर भी निद्राको वृत्ति क्यों कहा गया है। इसके उत्तरमें श्रीभगवान् वेदव्यास

अभावप्रत्ययावलंबना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

जीने कहा है कि निद्रान्तमें " सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मनः, दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनः, मूढोऽहमस्वाप्सं क्लान्तं मे मनः " अर्थात् मैं सुखसे सोया था मेरा चित्त प्रसन्न है, मैं दुःखसे सोया था मेरा चित्त दुःखी है, मैं मूढभावसे सोया था मेरा चित्त क्लान्त है, इस प्रकार त्रिगुणतारतम्यानुसार तीन प्रकारकी स्मृति निद्रावस्थामें अनुभवको सूचित करती है अतः निद्रावस्थामें अनुभवका अस्तित्व रहनेसे निद्रा वृत्ति है। परन्तु निद्रा में जो स्वप्न अवस्था होजाती है वह यथार्थ निद्रा नहीं है, स्वप्न अवस्था जागने और सोनेके बीचकी एक ऐसी अवस्था है कि जिसमें जाग्रत् अवस्थाकी प्रमाण, विपर्य्यय और विकल्प इन तीनों प्रकारकी वृत्तियोंका अनुभव अन्तःकरणके गुणभेदसे हुआ करता है; और इसी प्रकार स्वप्न भी मनुष्योंको तीन प्रकारके हुआ करते हैं, यथा–सात्विक स्वप्न, राजसिक स्वप्न और तामसिक स्वप्न। जो सच्चे स्वप्न हैं अर्थात् जिनका फल सच्चा होता है वह सात्विक स्वप्न कहलाते हैं और वही स्वप्नकी उत्तम अवस्था है: और इसीका वर्णन शकुन आदि शास्त्रोंमें पाया जाता है। जिस समय स्वप्न अवस्थामें रजोगुण अधिक हो उस समय जाग्रद्दशामें देखे हुए पदार्थ ही दृष्टिगोचर होते हैं और यह अवस्था ही स्वप्नकी मध्यम अवस्था है: और जब स्वप्नमें तमोगुणकी प्रधानता अधिक होती है तो कुछसे कुछ विचित्र स्वप्न दिखाई देते हैं: प्रायः विषयी जीवको ऐसे स्वप्न ही अधिक आते हैं और यही स्वप्नकी अधम अवस्था है। दर्शनकर्ता महर्षिजीका यही तात्पर्य्य है कि स्वप्नावस्था प्रमाण, विपर्य्यय और विकल्प इन तीनों वृत्तियोंसे रहित नहीं है, परन्तु निद्रावस्था एक स्वतंत्र वृत्ति है, जिसमें यह तीनों वृत्तियां नहीं होतीं। अब इसमें पुनः यह प्रश्न होसकता है कि जब निद्रारूपी वृत्तिके उदय होने पर प्रमाण, विपर्ययादि वृत्तियोंका अभाव होकर अन्तःकरण विषयभावरहित हो एकाग्रताको प्राप्त करता है और जब श्रुतिमें भी यह लिखा है कि " इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्येतं ब्रह्मलोकम् " अर्थात् सुषुप्तिके समय समस्त जीव नित्य ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्मानन्दका उपभोग करते हैं तो निद्रावृत्तिको समाधिका बाधक क्यों कहा जाय ? इसका उत्तर यह है कि निद्रावस्थामें अन्तःकरण विषय-

ज्ञानरहित होकर स्वकारणमें लय होजानेपर भी वह लय अविद्या-बहुल तमोगुणके द्वारा है, अतः इस प्रकार अविद्या-सहित लयके द्वारा विवेकपरिपाकरूप समाधिजनित स्वरूपस्थिति नहीं प्राप्त हो सकती है और यही कारण है कि जीव सुषुप्तिदशामें नित्य ब्रह्म-लोकमें जानेपर भी वहांसे नित्य लौट आता है और पूर्ववत् विषयी ही बना रहता है। श्रुतिमें भी कहा है "सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति" अर्थात् सुषुप्तिके समय समस्त वैषयिक वृत्तियोंके विलीन होने पर जीव तमोगुणमें आच्छन्न होकर ब्रह्मा-नन्दको उपभोग करता है। अतः निद्रावृत्तिके उदय होनेसे अन्तः-करणकी एकाग्रता रहनेपर भी उससे आत्यन्तिक एकाग्रता और दुःखनाश नहीं होता है। इसलिये पुरुषकी स्वरूपप्रतिष्ठाके लिये निद्रावृत्तिका भी निरोध करना उचित है ॥ १० ॥

तदनन्तर पञ्चमावयव स्मृतिका लक्षण किया जाता है:-

अनुभव किये हुए पदार्थोंको अन्तःकरणसे न हटने देनेको स्मृति कहते हैं ॥ ११ ॥

प्रमाण, विपर्यय और विकल्प यह तीनों जाग्रत् अवस्थाकी वृत्तियां हैं और जब यह तीनों वृत्तियां अन्तःकरणमें नहीं उठतीं उसी समयका नाम निद्रा है; परन्तु स्मृति इन चारों अवस्थाओंको स्मरण रखनेवाली वृत्ति है, अर्थात् इन चारों अवस्थाओं के प्राप्त होनेमें अन्तःकरणको जो स्वतन्त्र स्वतन्त्र अनुभव हुआ था उसको अपना अनुभव मानकर थामे रहना और अन्तःकरणसे हटने न देनेका ही नाम स्मृति है; अर्थात् अन्तःकरण में जो कुछ अनुभव हुआ करते हैं उन सबों के संस्कार को स्मरण रखने का नाम स्मृति है। जाग्रत्स्वप्न भेदसे स्मृति दो भागमें विभक्त है। यथा-अभावितस्मर्त्तव्या और भावितस्मर्त्तव्या। प्रमाण, विपर्यय और विकल्प वृत्तिके द्वारा उत्पन्न विषय-संस्कारोंकी जो जाग्रद्दशागत स्मृति है उसीको अभावितस्मर्त्तव्या कहते हैं और जाग्रद्दशागत विषयोंके स्वप्नमें उद्बुद्ध होनेसे तज्जन्य जो स्मृति है उसको भावित-स्मर्त्तव्या कहते हैं। सुषुप्ति कालमें प्रमाण विपर्यय और विकल्प वृत्ति-

अनुभूतविषयाऽसंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

के न रहनेपर भी निद्रावृत्तिके समय 'सुखसे सोनेका' जो अनुभव अन्तःकरणमें स्थित रहकर जाग्रद्दशामें उद्बुद्ध होता है वही निद्रा-वृत्तिकृत स्मृति है। अनुभवसे स्मृतिका यह प्रभेद है कि अनुभव अज्ञात विषयका होता है, परन्तु स्मृति केवल ज्ञातविषयकी ही होती है। इसी लिये सूत्रमें 'असम्प्रमोष' शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रमाण, विपर्यय आदि ये समस्त वृत्ति ही सुख दुःख मोहोत्पादक होनेसे क्लेशोंके अन्तर्गत हैं, अतः पुरुषकी स्वरूपप्रतिष्ठाके लिये इनका निरोध करना अत्यावश्यक है ॥ ११ ॥

वृत्तियोंका वर्णन करके अब उनके निरोधका उपाय बताया जाता है:–

अभ्यास और वैराग्यसे इनका निरोध होता है ॥१२॥

पूर्व्व सूत्रों द्वारा महर्षि सूत्रकारजीने अन्तःकरणकी अनन्त वृत्तियोंके पांच विभाग करके वर्णन किये हैं; अब उन वृत्तियोंके निरुद्ध करनेका उपाय बताते हैं। यह पूर्व्वलिखित सब प्रकारकी वृत्तियां अर्थात् जो कुछ वृत्तियां अन्तःकरणमें उठती हों वे सब सत्त्व, रज, तमोगुण भेदसे अथवा राग, द्वेष और मोहके भेदसे उठा करती हैं; इस कारण जब किसी प्रकारकी भी वृत्ति अन्तःकरणमें न उठे वही योग वा मुक्तिका लक्ष्य है और यह अवस्था साधन और वैराग्यसे ही प्राप्त होसकती है। यदिच साधन-अभ्यास और वैराग्य-अभ्यास करते समय मोहका अर्थात् तमोगुणका तो नाश होजाता है, परन्तु, रजोमिश्रित सत्त्वगुण तब तक वर्तमान ही रहता है जब तक कि साधन अथवा वैराग्य पूर्ण अवस्थाको न पहुंचे अर्थात् जबतक अन्तःकरणकी वृत्तियां पूर्णरूपेण निरुद्ध होकर कैवल्यकी प्राप्ति न होजाय। महर्षियोंने साधन और वैराग्यको इस प्रकारसे वर्णन किया है कि अन्तःकरणरूपी जलप्रवाहके दो पथ हैं; एक नदी कैवल्यरूपी ऊंचे पहाड़से निकलकर विवेकरूपी भूमिमें बहती हुई परम कल्याणरूपी सागरमें जा मिलती है और दूसरी नदी संसाररूपी पर्व्वतसे निकल अज्ञानरूपी भूमिमें बहती हुई अधर्म्मरूपी समुद्रमें जा गिरती है, जल तो उतना ही है परन्तु धारा दो हैं; जब तक संसारके पहाड़की नदी बहती रहेगी तब तक कैवल्य पहाड़की नदी आप ही सूखी रहेगी परन्तु वैराग्यरूपी

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

बान्धसे संसाररूपी नदीके प्रवाहको जितना रोका जायगा और साधन द्वारा उस जलका स्रोत जितना कैवल्यपर्व्वतकी नदीकी ओर प्रवाहित किया जायगा उतनी ही कैवल्यपर्व्वतकी नदी अति वेगसे विवेकभूमिमें बहती हुई कल्याणसागरमें मिलकर जीवको परम कल्याण प्रदान करेगी; इस रूपकसे यह तात्पर्य है कि चित्त-वृत्तिके प्रवाहको यदि तमकी ओर प्रवाहित कियाजाय तो क्रमशः जड़त्व अर्थात् अधोगतिकी प्राप्ति होगी; परन्तु यदि उसी चित्त-वृत्ति प्रवाहको केवल सत्त्वकी ओर बहाया जाय तो अन्ततः परम ज्ञान रूपी "कैवल्य पद" की प्राप्ति होजाती है। वेदों ने ऐसा भी कहा है कि जैसे एक पंख द्वारा पक्षी नहीं उड़ सकता परन्तु दोनों परों से वह एक स्थान से दूसरे स्थान में जा सक्ता है, इसी प्रकार केवल साधन या केवल वैराग्यसे जीव मुक्ति-पथमें नहीं चलसकता. वैराग्यसे तो संसारके बन्धनको ढीला करता जाता है और साधनसे मुक्तिकी ओर बढ़ता जाता है; जब तक बहिर्बन्धन शिथिल न हो तब तक वह अन्तर्की ओर चल नहीं सकता और यदि बन्धन शिथिल भी होजाय तो भी जब तक चलनेकी शक्ति न हो तब तक अन्तर्की ओर अग्रसर नहीं होसकता। इस कारण चित्तवृत्ति-निरोधरूपी मुक्तिके प्राप्त करनेमें वैराग्य और साधन दोनोंकी ही आवश्यकता है। यथा-श्री गीतोपनिषद्में "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते" अर्थात् अभ्यास और वैराग्य दोनोंकी सहायतासे चित्तवृत्तिनिरोध होता है। इन दोनोंमें से वैराग्यकी आवश्यकता प्रथम है क्योंकि जब तक विषयदोषदर्शनरूप वैराग्य द्वारा चित्तकी बहिर्मुखीनता नष्ट नहोगी; तब तक उसकी अन्तर्मुखीनताको अभ्यास द्वारा स्थिर करना असम्भव होगा अतः वैराग्य द्वारा अन्तःकरणको विषयसे हटाकर पश्चात् अभ्यास द्वारा निरोधभूमिमें उसको पहुंचाना ही योगसाधनका लक्ष्य है ॥१२॥

वह अभ्यास क्या वस्तु है?–

वहां अर्थात् स्वरूपमें स्थिर रहनेके लिये यत्न करना ही अभ्यास है ॥ १३ ॥

वे सत्चित्आनन्दरूपी परमात्मा निश्चल हैं, परन्तु अन्तःकरण

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

सदा ही चंचल रहनेके कारण उनके भावको ग्रहण नहीं करसकता; किन्तु जब शनैः शनैः अभ्यास द्वारा अन्तःकरण निर्वात-प्रदीपकी नाईं ठहर जाय तब ही उनका प्रकाश प्रकाशित होजाता है। साधन ऐसे शनैः शनैः अभ्यासको कहते हैं कि जब अन्तःकरण बल, उत्साह और यत्न पूर्व्वक उन्ही परमाराध्य परमेश्वरकी ओर लगता रहे। गांठका लगाना और गांठका खोलना यह दोनों कर्म्म ही हैं, अर्थात् गांठ लगानारूप कर्म्म और गांठ खोलना रूप कर्म्म दोनोंमें हाथ हिलाना ही पड़ता है; परन्तु गांठ लगानारूप कर्म्मसे पदार्थ फँस जाता है और गांठ खोलनारूप कर्म्मसे बँधा हुआ पदार्थ खुल जाता है; इसी प्रकार जीवके स्वाभाविक-कर्म्म और साधन-कर्म्म दोनों कर्म्म ही हैं, परन्तु त्रिगुण द्वारा कराये हुए जीवके स्वाभाविक कर्म्म-में तो जीव फँसता हुआ आवागमनरूप भूल भुलइय्याँमेंसे निकल नहीं सकता, और वेद-विहित साधन-कर्म्म द्वारा साधकमुक्तिमार्गमें अग्रसर होता हुआ मुक्तिपदको प्राप्त होजाता है; इस मुक्तिपद अर्थात् योगके लक्ष्य पदार्थको प्राप्त करनेके लिये जो कुछ सुकौशल-पूर्ण कर्म्म कियाजाय उसीका नाम अभ्यास है। वे अभ्यासकर्म या साधनकर्म अधिकारभेदसे अनेक प्रकारके होसकते हैं। सोपान द्वारा ऊपर छत पर चढ़ते समय चाहे चढनेवाला किसी सोपान पर उपस्थित हो, वह व्यक्ति छतपर चढ़ रहा है ऐसा ही मानना पड़ेगा, अवश्य सोपानोंके क्रममें परम्पराभेद होगा; ठीक उसी प्रकार साधनके सुकौशलपूर्णक्रियाओंमें परम्पराभूमि और अधि-कारभेद अवश्य रहता है, परन्तु स्वरूप उपलब्धिकी भूमिकी ओर अग्रसर करनेवाले जितने कर्म होंगे वे सब साधन कहलाएँगे। इस विज्ञानको अवलम्बन करके सनातन धर्ममें अनेक अधिकारभेद और साधनभेद निर्णीत हुए हैं ॥ १३ ॥

अभ्यासकी दृढ़ता कैसे होती है ?

दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार अर्थात् श्रद्धा ब्रह्मचर्य विद्यादिके द्वारा सेवित होनेपर अभ्यासकी-भूमि दृढ़ होती है ॥ १४ ॥

नियमित अभ्यास स्वभावमें परिणत होजाता है, इसही कारण

स तु दीर्घकालनैरंतर्य्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ॥ १४ ॥

जब तक साधनमें दृढ़ता न होगी तब तक वह पूर्ण फलदायक न होगा; क्योंकि दृढ़ता पूर्व्वक साधन करनेसे नियम बनेगा और नियम पूर्व्वक अभ्यास करनेसे वह स्वाभाविक होजायगा। शास्त्रोंकी ऐसी आज्ञा है कि प्रथम सदाचारोंका साधन करके मनुष्य मनुष्यत्व लाभ करता है, पुनः वर्ण और आश्रम-धर्म्मका अभ्यास करता हुआ उन्नत ज्ञान-भूमिमें पहुंच जाता है; और जब ज्ञानकी प्राप्तिसे सत् असत् अर्थात् ब्रह्म और सृष्टि इन दोनोंका ज्ञान उसे होजाता है; तबही वह सृष्टिके फंदेसे छूटकर मुक्त होना चाहता है; और तत्पश्चात् श्रीमद् गुरुजी महाराजकी कृपासे अष्टांग-योग मूलक मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग आदि नाना प्रकारके साधन द्वारा चित्तवृत्तियों-को निरोध करता हुआ मुक्तिपदको प्राप्त कर सकता है; इसी कारण साधनमें दीर्घ कालकी आवश्यकता है और नियमित अभ्याससे ही जीवकी प्रकृति पलट सकती है, अर्थात् उसकी बहिर्दृष्टि छूटकर अन्तर्दृष्टि होजाती है; परन्तु यदि नियमित अभ्यास नहो और उस-का अभ्यास मध्य मध्यमें खंडित होजाता हो तो उस अभ्याससे उस-की प्रकृति बदल नहीं सकती, क्योंकि उसकी दृष्टि जब ही अन्तरसे बहिर्मुख होगी तबही वह फिर पूर्व्ववत् फँस जायगा; इसकारण जो कुछ साधन किया जाय वह निरन्तर अर्थात् अखण्डित रूपसे किया जाय तब ही फलदायक होगा और जब तक शास्त्र, गुरुवाक्य और साधन में साधककी श्रद्धा नहीं होगी तब तक वह कदापि उस साधनको नियमित कर नहीं सकेगा इस कारण श्रद्धाकी भी अतीव आवश्यकता है। शास्त्रोंमें श्रद्धा तीन प्रकारकी कही गई है। यथा—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिप्रकृतिभेदतः।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसीति बुभुत्सवः॥
तासान्तु लक्षणं विप्राः! शृणुध्वं भक्तिभावतः।
श्रद्धा सा सात्त्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका॥
प्रवृत्तिमूलिका चैव जिज्ञासामूलिकाऽपरा।
विचारहीनसंस्कार मूलिका त्वन्तिमा मता॥

अर्थात् जीवोंके प्रकृतिभेदानुसार सात्त्विक, राजसिक और ताम-सिक तीन प्रकारकी श्रद्धा होती है। विशुद्धज्ञानमूलक श्रद्धा सात्त्विक है, प्रवृत्ति और जिज्ञासामूलक श्रद्धा राजसिक है और विचार-

हीन संस्कारमूलक श्रद्धा तामसिक है। इनमेंसे सात्त्विक श्रद्धा ही श्रेष्ठ कही गई है। इसकारण चित्तवृत्ति-निरोधकरणार्थ अभ्यासकी दृढ़ता सम्पादनके लिये श्रद्धाके साथ दीर्घ कालव्यापी निरन्तर साधनकी परमावश्यकता है ॥ १४ ॥

अब चित्तवृत्तिनिरोधके लिये अनुष्ठेय दूसरे उपायका लक्षण बताया जाता है—

दृष्ट (इहलौकिक) और आनुश्रविक (पारलौकिक) विषयोंके प्रति वितृष्ण पुरुषकी जो वशीकार-संज्ञा है उसे वैराग्य कहते हैं ॥ १५ ॥

दृष्ट अर्थात् ऐहलौकिक सुख वे हैं कि जिनको जीव अपनी ज्ञान-इन्द्रियोंसे अनुभव करके उनमें फँसकर उनके पानेकी इच्छा करता रहता है; यथा—पुत्र कलत्र आदिका सुख, धन ऐश्वर्यका सुख और नाना प्रकारके क्षणभंगुर वैषयिक सुख। और आनुश्रविक अर्थात् पारलौकिक सुख वे कहाते हैं कि जिनका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है और जिनका भोग इस शरीरके त्याग करने पर प्राप्त होनेकी आशा है; यथा-स्वर्गादि लोकके नाना प्रकारके दिव्य सुख। क्या इहलोक, क्या परलोक, क्या इहलोकका सुख, क्या परलोकका सुख, सब ही माया-रचित हैं और सब ही क्षणभंगुर हैं; इस कारण जब विचार दृष्टिके उदय होनेसे इन दोनों प्रकारके सुखोंकी कुछ भी इच्छा नहीं रहती और अन्तःकरण उस ओरसे मुख फेर लेता है तब ही मुमुक्षुके चित्तमें वशीकारसंज्ञा अर्थात् ये सब विषय मेरे वश्य हैं, मैं इनके वश नहीं हूं इस प्रकारके भावका उदय होता है जिसको वैराग्य कहते हैं। योगाचार्योंने वैराग्य भूमिमें क्रमोन्नतिकी चार अवस्था बताई हैं। यथा—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकारसंज्ञा। इस जगत्में सार क्या है और असार क्या है, गुरु और शास्त्रकी सहायतासे इसके जाननेके लिये जो यत्न है वही चित्तकी यतमान अवस्था है। चित्तमें जितने दोष पहले थे उनमेंसे इतने नष्ट हो गये हैं और इतने बाकी हैं इस प्रकारके विवेचनको व्यतिरेक अवस्था कहते हैं। विषरूप विषयमें दुःखज्ञान द्वारा इन्द्रियोंकी अप्रवृत्ति होने पर भी अन्तः

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

करणमें जो विषय तृष्णाकी स्थितिकी अवस्था है उसे एकेन्द्रिय अवस्था कहते हैं। और अन्तमें अन्तःकरणसे भी विषय-तृष्णाका नाश होनेसे चित्तकी जो अवस्था होती है उसे ही वशीकार अवस्था कहते हैं। इन चार अवस्थाओंके अनुसार योगशास्त्रमें वैराग्यके भी चार भेद बताये गये हैं। यथा—मृदु वैराग्य, मध्य वैराग्य, अधिमात्र वैराग्य और परवैराग्य। जब विवेकवान् व्यक्तिके विवेक-युक्त अन्तःकरणमें ऐहलौकिक और परलौकिक विषयोंका दोष अनु-भवमें आने लगता है, अन्तःकरणकी उस वैराग्यवृत्तिको मृदु वैराग्य कहते हैं। इसके अनन्तर जब विवेकभूमिमें अग्रसर साधकके अन्तः करणमें ऐहलौकिक और पारलौकिक विषयोंके प्रति अरुचि होने लगती है, विवेकी साधककी उस उन्नततर दशाका नाम मध्य वैराग्य है। वैराग्यकी तीसरी अवस्था वह कहाती है कि जब विषय भोगमें विवेकीको प्रत्यक्ष दुःख प्रतीत होने लगे, दुःखदायी पदार्थोंमें चित्तकी आसक्ति होना असम्भव है अतः विषयोंका दुःखदायी भाव जब साधकके अन्तःकरणमें प्रतिष्ठित हो जाता है जिससे विषयका स्वतः ही सम्बन्ध त्याग हो जाता है, वैराग्यकी उस उन्नततम अवस्थाका नाम अधिमात्र वैराग्य है। इस दशामें स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा विषयमें अनासक्ति रहने पर भी अन्तःकरण का सूक्ष्म संस्कार रह जाता है और जब ऐहलौकिक और पारलौ-किक विषयमात्रसे योगयुक्त साधकका अन्तःकरण एक बार ही संस्कारशून्य होकर मुख फेर लेता है अन्तःकरणकी उस सर्वश्रेष्ठ अवस्थाका नाम परवैराग्य है। पूर्वकथित अन्तःकरणकी चार भूमिके साथ इन चार प्रकारके वैराग्यका समन्वय करनेसे यह सिद्धान्त होता है कि यतमान अवस्थासे मृदु वैराग्य, व्यतिरेक अवस्थासे मध्य वैराग्य, एकेन्द्रिय अवस्थासे अधिमात्र वैराग्य और वशीकार अवस्थासे परवैराग्यका सम्बन्ध है। यही चतुर्धा विभक्त वैराग्यका लक्षण है ॥ १५ ॥

अब परवैराग्यका विशेष कारण बताया जाता है—

परवैराग्य वह है जिसमें पुरुषका प्रकाश होजानेसे प्रकृति के गुणोंमें पूर्णरूपेण अरुचि हो जाती है ॥१६॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

प्रकृतिके तीन गुण सत्त्व, रज और तम हैं; परन्तु पुरुष इनसे निर्लिप्त अर्थात् तीनों गुणोंसे अलग है। जब अन्तःकरण बाहरकी ओरसे मुख फेर लेता है तब उसमें पुरुषका प्रकाश होने लगता है और तब उसको पुनः बाहरकी ओर अर्थात् प्रकृतिके गुणोंकी ओर देखनेकी इच्छा ही नहीं होती; ज्ञानका उदय होते ही उसको जब यह प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है कि प्रकृति ही दुःख-रूपी सृष्टिका कारण है और यह शुद्ध मुक्त पूर्ण-ज्ञान रूपी अवस्था उससे अलग है, और जो कुछ यथार्थ सुख है वह इसी अवस्थामें है, तब फिर वह अन्तः-करण कैसे पुनः प्रकृतिके गुणोंकी इच्छा कर सकता है। जब तक ऐसा ज्ञान पूर्णताको प्राप्त नहीं होता अर्थात् जब अन्तःकरणकी दृष्टि बाहरसे भीतरकी ओर फिर तो गई हो परन्तु कभी कभी वह पूर्व्व अभ्यास से बाहर की ओर दृष्टि डाला करता है उस अवस्थाका नाम अपर वैराग्य है, परन्तु जब यह ज्ञानरूपी अवस्था पूर्णताको प्राप्त होजाती है अर्थात् उस ज्ञानकी निर्विघ्न स्थिति होजाती है तब ही उसका नाम परवैराग्य है। यही वैराग्यकी चरम सीमा है॥ १६॥

अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्ति-निरोधानन्तर योगीको जो अवस्था प्राप्त होती है सो बताया जाता है—

सम्प्रज्ञात समाधि वह कहाती है जिसमें वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिताका भाव रहता हो॥ १७॥

अब समाधिका वर्णन किया जाता है; वह समाधि दो प्रकारकी है। यथा-सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात, अथवा सविकल्प और निर्विकल्प। निर्विकल्प अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि जो कि उत्तम है उसका वर्णन आगेके सूत्रोंमें किया जावेगा, परन्तु इस सूत्र-द्वारा सम्प्रज्ञात अर्थात् सविकल्प समाधिका वर्णन किया जाता है। सविकल्प समाधिमें ज्ञाता अर्थात् देखने वाला, ज्ञान अर्थात् अनुभवकी शक्ति और ज्ञेय अर्थात् लक्ष्यवस्तु परमात्मा इन तीनोंका ही भान रहता है; और इस अवस्थामें जब वितर्क रहे तो वह वितर्कानुगत अवस्था कहाती है, जब विचार रहे तो वह विचारानुगत अवस्था कहाती

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः॥ १७॥

है, जब आनन्द रहे तो वह आनन्दानुगत अवस्था कहाती है और जब अस्मिता रहे तो वह अस्मितानुगत अवस्था कहाती है। यथा-योगशास्त्रमें कहा है—

समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कः किल जायते।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता।
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते॥

समाधि भूमिमें प्रथमतः वितर्कावस्था प्राप्त होती है। तदनन्तर क्रमशः विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत अवस्थाएं प्राप्त होती हैं। सम्प्रज्ञात समाधिमें यदिच अन्तःकरणकी वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं, परन्तु अन्तःकरण उनसे निर्बीज नहीं होता अर्थात् तब अन्तःकरणका भान सूक्ष्मरूपसे रहता है और इसही कारण ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानकी स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता भी रहती है। यह दृश्यमान सृष्टि प्रकृतिसे रचित है जिसको वेदान्त दर्शनने माया और सांख्य दर्शनने प्रकृति कह कर वर्णन किया है, चाहे किसी रीति पर वर्णन किया हो अर्थात् वेदान्तने उसको पञ्चकोष करके वर्णन किया हो और सांख्य ने उसे २४ तत्त्व करके वर्णन किया हो, परन्तु सबका यही सिद्धान्त है कि इस स्थूल जगत्की कर्त्री प्रकृति है और पुरुष अर्थात् परमात्मा उससे भिन्न हैं, जब ऐसा विचार किया जाय कि सृष्टि कैसे हुई अर्थात् स्थूलसृष्टिके विचारको भली भांति विचार करते करते जब सृष्टिसे भिन्न परमात्माका अनुभवहो जाता है; अर्थात् समाधिमें स्थित होते समय सृष्टिकी उत्पत्ति और सृष्टिकी स्थितिमें बुद्धिको लेजाकर पुनः सृष्टिसे भिन्न जो परमात्मा है उनके विचारमें प्रवृत्त होना ही वितर्कानुगत अवस्था है; अर्थात् स्थूलसे कारण अन्वेषण करते करते सूक्ष्ममें आजानेको वितर्क कहते हैं; इस कारण वितर्क अवस्थामें वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता चारों अवस्थाएँ रहती हैं। और केवल सूक्ष्म विचारको ही विचार कहते हैं, इस अवस्थामें वहिर्विषय अर्थात् स्थूल विषयकी धारणा नहीं रहती अर्थात् सूक्ष्मरूपेण केवल ज्ञाता अर्थात् जीव, ज्ञान अर्थात् जाननेकी शक्ति और ज्ञेय अर्थात् परमात्मा इन तीनों काही विचार रहता है; इस अवस्थामें विचार, आनन्द और अ-स्मिता यह तीनों रहती हैं और इसही अवस्था को विचारानुगत

अवस्था कहते हैं। तीसरी अवस्था आनन्द की है; इसमें विचार-रहित आनन्द का अनुभव होता है; अर्थात् इस अवस्थामें आनन्द और अस्मिता केवल ये दोनों ही रहते हैं, यह ऊपर की दोनों अवस्थाओंसे ऊंची अवस्था है और इसही का नाम आनन्दानुगत अवस्था है। और चतुर्थ अवस्था वह कहाती है कि जिसमें अस्मिताज्ञानही रहे अर्थात् केवल अपनी स्थितिके भानके अतिरिक्त और किसी अवस्थाका बोध न रहे, यह अवस्था पूर्व्व-लिखित तीनों अवस्थाओंसे बढ़कर है, इसही अवस्था को अस्मितानुगत अवस्था कहते हैं। आनन्दानुगत अवस्था और उसके बादकी अस्मितानुगत अवस्था इन दोनोंको समझानेके लिये अध्यात्म तत्त्वका कुछ रहस्य समझाए बगैर ये दो अवस्थाएं समझमें नहीं आवेंगी। आत्माका स्वरूप तीन भावोंसे पूर्ण है। वे ही सत्, चित्, आनन्द कहाते हैं। इसी कारण ब्रह्मपदको सच्चिदानन्द-मय कहते हैं। इन तीनों भावोंमें सत् और चित् ये दोनों भाव स्वप्रकाश हैं। इसी कारण जगत्में भी जड और चेतन दो भाव प्रकट हैं। परन्तु आनन्दभाव इन दोनोंमें व्याप्त होनेसे इन दोनोंकी सहायतासे प्रकट होता है। इसी कारण वेदके उपासना काण्डने आनन्दके विकाश कोही जगत्सृष्टिका कारण बताया है। चित्की सहायतासे सत्में अथवा सत्की सहायतासे चित्में आनन्दका प्राकट्य होता है। इसी कारण विषयानन्द और ब्रह्मानन्द उभय आनन्दही आत्माके आनन्द हैं इसको भी दर्शनाशास्त्रने सिद्ध किया है। अतः आनन्दानुगत अवस्थामें अस्मितानुगत अवस्थासे चित्तवृत्तिकी सूक्ष्मताकी अपेक्षाकृत कमी रहती है। वस्तुतस्तु सविकल्प समाधिमें केवल आनन्दका अनुभव होते समय सत् और चित्का पार्थक्य अधिक बना रहता है। आगेकी अस्मितानुगत अवस्थामें ये दोनों पृथक्ताएँ उतनी नहीं रहती हैं। कदाचित् अस्मितानुगत अवस्थाके विचारमें जिज्ञासुगणके हृदयमें शंका उत्पन्न हो कि जब इस अवस्थामें केवल "अस्मिता" की ही स्थिति है तो इस अवस्थामें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों की संभावना कहां? इसकेसमाधानार्थ कहा जाता है कि यद्यपि कार्यतः ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयका स्वरूप नहीं दिखाई देता तथापि कारणरूपेण

बीजमें वृक्ष की नाईं उन तीनोंकी स्थिति रहती है और सूक्ष्म विचारसे उनका अनुभव भी होता है। ये चारों अवस्थाएँ ही सम्प्रज्ञात-समाधिकी अवस्था हैं और इसके पश्चात्की अवस्थाको असम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं जिसका वर्णन आगे आवेगा ॥१७॥

चित्तवृत्तिनिरोधानन्तर प्राप्य द्वितीय अवस्थाका लक्षण बताया जाता है—

विराम प्रत्यय अर्थात् वृत्तियोंसे उपराम होनेके कारणरूप वैराग्य की और अभ्यासकी पूर्णता द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियां पूर्ण रूपेण निरुद्ध होजानेसे केवल भृष्टबीजवत् संस्कारशेषयुक्त जो दूसरी अवस्था है उसको असम्प्रज्ञात समाधि कहते है ॥१८॥

पूर्व्व लिखित सम्प्रज्ञात-समाधिमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका कुछ सूक्ष्म विचार रहता है, परन्तु इस सूत्र लिखित असम्प्रज्ञात समाधिमें उन तीनों अवस्थाओंका नाश होकर केवल पूर्णज्ञान-रूप चैतन्य ही रहजाते हैं। अभ्यास और वैराग्यका वर्णन करते समय महर्षि सूत्रकार यह प्रकाशित कर चुके हैं कि अभ्यासकी पूर्णता और पर-वैराग्यके द्वारा अन्तःकरण सम्पूर्णरूपेण ही वहिर्जगत् अर्थात् सृष्टिकी ओरसे मुख फेर लेता है; वहिर्जगत् अर्थात् इन्द्रियोंके विषय ही अन्तःकरणमें वृत्तिरूप चञ्चलता उत्पन्न किया करते थे, अब अन्तःकरणके उनकी ओरसे पूर्णरूपेण मुख फेर लेनेसे वृत्तियाँ उठेंगी ही नहीं अर्थात् वृत्तिरूप तरङ्गोंका पूर्णरूपसे नाश हो जायगा; तब अभ्यास और परवैराग्यकी जो पूर्ण अवस्था है उसहीसे असम्प्रज्ञात-समाधिका उदय होगा, अर्थात् इस अवस्थामें किसी प्रकारकी वृत्तिका लेश मात्र भी नहीं रहता और चैतन्य सबसे पृथक् होकर अपने रूपको प्राप्त हो जाते हैं। और इसी अवस्थाको निर्वीज कहते हैं, इसहीको योगकी पूर्ण अवस्था कहते हैं, इसहीको निर्विकल्प-समाधि कहते हैं, येही वेदान्त-

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

का ब्रह्मसद्भाव है, भक्ति-मार्गकी पराभक्ति है, और इसही अवस्था-को कैवल्य करके वर्णन किया है। यथा—स्मृतियों में कहा है:—

परं ज्ञानं परं सांख्यं परं कर्मविरागता।
पराभक्तिः समाधिश्च योगपर्यायवाचकाः॥
भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्त्तितम्।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं यतः॥

परमज्ञान, सांख्ययोग, परवैराग्य, पराभक्ति, और समाधि ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। पराभक्ति, परवैराग्य और परज्ञान एकही पदार्थ हैं क्योंकि ज्ञानमें ही सबका पर्यवसान है। इस असम्प्रज्ञात समाधिप्राप्त योगीके शास्त्रोंमेंदो भेद वर्णन किये जाते हैं। दोनों ऐसी सूक्ष्म अवस्था है कि जो साधारण-बुद्धिगम्य नहीं हो सक्तीं; योगिगणही तद्भावमें विभोर होकर इन अवस्थाओं का विचार कर सकते हैं। परन्तु बहिर्लक्षणोंसे इन दोनोंका ऐसे विचार हो सकता है कि जब योगकी चरम सीमापर पहुंचकर असम्प्रज्ञात-समाधि-रूढ़ पुरुष आत्माराम होजाय अर्थात् बहिर्जगत् से अपना कुछ सम्बन्ध न रखकर उन्मत्त, स्तब्ध और निष्क्रिय हो जाय तब ही उस महापुरुषकी उस अवस्थाका नाम ब्रह्मकोटि है। और जब योगी अपनी पूर्ण अवस्थाको प्राप्त करके असम्प्रज्ञातसमा-धि-रूढ़ होकर सर्व्वशक्तिमान् जगदीश्वरकी इच्छासे लोकोपकारी कार्य्योंमें प्रवृत्त होते हैं जैसे कि निष्कामव्रतधारी संसार-उपकार-कारी पूज्यपाद पूर्व्वकालीन महर्षिगण किया करते थे, तो योगीकी उस अवस्थाका नाम ईश कोटि है। चलती हुई वायु भी वायु है और जो अचल अर्थात् स्थिर वायु है वह भी वायु ही है, उसी प्रकार निष्क्रिय महात्मा और संसार-उपकारी कार्योंमें क्रियावान् महात्मा ये दोनों ही सिद्ध महापुरुष हैं, किन्तु केवल इनमें बाह्य-लक्षणमें भेद होगा। इन अवस्थाओंसे ऐसा भी समझा जासकता है कि ब्रह्मकोटि के जीवन्मुक्तयोगिगणसे इस संसारके कोई भी उपकार होनेकी सम्भावना नहीं रहती है; परन्तु भूतकालमें जो कुछ संसारका उपकार हुआ है, वर्त्तमान कालमें जो कुछ उपकार हो रहा है और भविष्यत्में जो कुछ उपकार होगा वह ईशकोटिके ज़ीवन्मुक्त योगिगणसे ही होगा। यथा-स्मृतियोंमें—

परहंसस्य प्रारब्धकर्मवैचित्र्यदर्शनात् ।
ईशकोटिर्ब्रह्मकोटिरिति द्वे नामनी श्रुते ।
परहंसो ब्रह्मकोटेर्मूकस्तब्धो जडस्तथा ॥
उन्मत्तो बालचेष्टश्च न जगत्तेन लाभवत् ।
परहंसस्त्वीशकोटेः परां काष्ठां गतोऽनिशम् ॥
निष्कामस्य व्रतस्यात्र जगज्जन्मादिशक्तिमज्-
जगदीशप्रतिनिधिर्भूत्वा तत्कर्मसंरतः ॥
जगद्धितार्थं विप्रर्षे ! एवं विद्धीशरूपिणम् ॥

प्रारब्ध वैचित्र्यसे ईशकोटि और ब्रह्मकोटि नामक दो तरहकी परमहंस दशा होती है । ब्रह्मकोटिका जीवन्मुक्त मूक, स्तब्ध, जड़, उन्मत्त और बालकों की तरह चेष्टा करनेवाला होता है। उससे जगत् को कोई लाभ नहीं पहुँचता। ईशकोटि की पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ परमहंस दिन रात जगज्जन्मादि-शक्तिशाली भगवान् का प्रतिनिधि होकर निष्काम व्रत ग्रहण कर परोपकार कार्योंमें लगा रहता है। ऐसे ईशस्वरूप जीवन्मुक्तों की उत्पत्ति जगत्के कल्याणार्थही हुआ करती है ऐसा समझना चाहिये। योगकी चरमसीमा अर्थात् प्रधान-लक्ष्य जो असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्विकल्प समाधि है और जिसको इस सूत्रने वृत्तियोंके नाशरूप-संस्कारावशेष करके वर्णन किया है उससे तात्पर्य्य यही है कि सोनेमें मिला हुआ सीसा आग पर रखनेसे सोनेके मैलको जलाकर उस मैलके साथ आप भी जल जाता है वैसेही निरोध-संस्कारसे चित्त-वृत्तियोंका पूर्णरूपेण निरोध अर्थात् नाश करके वह निरोध-संस्कार आप भी नाश हो जाता है; अर्थात् पीछे कोई संस्कार शेष नहीं रहता; और अन्तमें वही निर्लिप्त सच्चिदानन्द रूप परमात्मा ही शेष रह जाते हैं। इसी प्रकारसे वे समाधिस्थ महात्मा अपने शरीरसे जो कुछ काम करते हैं अन्तःकरण वासना रहित होजानेसे उनके किये हुए कर्मोंके संस्कार फिर उस अन्तःकरणमें नहीं लगते। उनकी व्युत्थान दशाके सभी संस्कार भ्रष्टबीजवत् हो जाते हैं। उस अवस्थामें उनका कर्म करना, न करना, उनका शरीर रहना, न रहना, एकही समान है। यही असम्प्रज्ञात-समाधियोगकी चरम सीमा और साधनका एकमात्र लक्ष्य है ॥१८॥

अब असम्प्रज्ञात समाधिके पथको विघ्नरहित करनेके लिये सम्प्रज्ञात समाधिपथमें प्राप्त विघ्नोंका वर्णान किया जाता है—

देहाध्यासशून्य होकर महत्तत्वादि विकारमें लय तथा अव्यक्त प्रकृतिमें लय होनेसे भवप्रत्यय अर्थात् संसारका कारणरूप समाधि-विघ्न होता है ॥ १९ ॥

पूर्व्व सूत्रमें महर्षि सूत्रकार समाधियोंके दो भेद वर्णान करके अब उसके पथको निर्विघ्न करनेके लिये उसके विघ्नोंका वर्णान कर रहे हैं, अर्थात् कैवल्यपथमें अग्रसर होते हुए पुरुषार्थभेदसे समाधिस्थ साधक जिन विघ्नोंको प्राप्त होसकते हैं उनका विस्तारित वर्णान कर रहे हैं। जो योगिगण योगके लक्ष्य असम्प्रज्ञात समाधिकी पूर्णावस्थाकी ओर चलते हुए बीचमें अटक जाते हैं; और यद्यपि वे इन्द्रिय आदिको जय करके विषय-वैराग्य-युक्त हो जाते हैं तथापि अन्तःकरणके निरोधरूप संस्कार की सहायतासे या तो देहाध्यासशून्य होकर महत्तत्वादि प्रकृतिविकारमें लीन हो जाते हैं या अपने निर्मल अन्तःकरण द्वारा मोक्षके आनन्दके समान अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चैतन्यके आभास सुखको भोगते रहते हैं, अर्थात् प्रकृतिमें लय होकर शुद्ध प्रकृति द्वारा कैवल्य सुखके अनुरूप सुखमें मग्न रहने लगते हैं। ये दोनों लयावस्था ही भवप्रत्यय अर्थात् संसारकी कारणरूप योगविघ्नकारी अवस्था हैं। इन दोनों अवस्थाओंमें प्रकृतिकी सूक्ष्मावस्थाके अन्तर्गत स्थिति रहनेसे प्रकृतिके पुनर्विस्तार की सम्भावना रहती है, अर्थात् पुनः अपनी पूर्वावस्थाको वह अन्तःकरण प्राप्त हो सकता है। अतः इस अवस्थाको मोक्ष-साधनका विघ्न समझना उचित है, इस कारण मुमुक्षुगणके लिये अहितकारी है। ऊपर लिखित दो प्रकारके विघ्न जो भवप्रत्यय दशामें हो सकते हैं उनको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये यह प्रकट करना उचित है कि योगी जब योगकी प्रथम सात भूमियोंको अतिक्रम करके आठवीं

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

समाधिभूमिमें पहुँचता है उस समय यदि उसके साधनका वेग और वैराग्यकी तीव्रता पूर्ण न हो तो वह योगी या तो देहाध्यास-रहित होकर महत्तत्त्वादि सूक्ष्मविकारोंमें फँसा रहता है अथवा कारणप्रकृतिमें लय होकर अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चेतनको ही आत्माका स्वरूप समझ कर तृप्त हो जाता है। सुतरां इस प्रकारके विघ्न सामने आजाने पर वह योगी साधनकी तीव्रता और परवैराग्यके अभावके कारण उन्नत समाधिभूमिमें पहुँच कर भी अटक जाता है; उस समय उसका कैवल्यपथमें अग्रसर होना रुक जाता है। योगके चार क्रिया-सिद्धांश,यथा—मन्त्रयोग,हठयोग,लययोग और राजयोग, इनकी साधन-प्रणालीकी पर्यालोचना करके योगाचार्योंने यही सिद्धान्त निश्चय किया है कि आत्मतत्त्वानुसन्धानपूर्ण राजयोगके विना अन्य तीन प्रकार की साधन प्रणालियोंमें कभी कभी ऐसे विघ्न उत्पन्न हुआ करते हैं। राजयोगमें तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनो-नाश साथ ही साथ होजानेसे इस प्रकारके विघ्नोंकी सम्भावना नहीं रहती। परन्तु मन्त्रयोग हठयोग और लययोग इन तीनोंमें बहिः साधनोंका अधिक सम्बन्ध रहनेके कारण इन योगोंके द्वारा प्राप्त सम्प्रज्ञात समाधि दशामें ऐसे विघ्नोंके प्राप्त होनेकी सम्भावना अधिक रहती है। मन्त्रयोगमें रूप और मन्त्रकी अद्वैततासे समाधि की प्राप्ति होनेके कारण इसमें महत्तत्त्वादि विकारमें लय होकर रहनेकी सम्भावना अधिक रहती है। उसी प्रकार हठयोगकी समाधि वायुनिरोध द्वारा होनेके कारण और लययोगकी समाधि नाद और विन्दुकी अद्वैतताके द्वारा होनेके कारण उन दोनोंमें ही सूक्ष्मप्रकृतिकी सहायतासे प्रतिबिम्बित आत्मस्वरूपमें लय होकर फँस जानेकी सम्भावना है। इसी कारण हठयोगियोंमें जडसमाधि-रूप नानाप्रकारके योगविघ्न प्रकट हुआ करते हैं। इस सूत्रसे तात्पर्य यह है कि कैवल्याभिलाषी योगी अपने साधनकी दृढ़ता और परवैराग्यकी पूर्णता पर पूरा ध्यान रखकर इस भवप्रत्यय दशामें अटक न जाय। अतः असम्प्रज्ञात समाधिकी पूर्णावस्था कैवल्य पदको जो प्राप्त करना चाहें वे अवश्य करके इस अवस्था का त्याग करें, नहीं तो बीचमें अटक कर पुनः फंस जानेकी सम्भावना है ॥ १९ ॥

विघ्नरहित दूसरी अवस्थाका वर्णन कर रहे हैं—

उपर्युक्त विघ्नोंसे बचनेवाले योगीको असम्प्रज्ञात समाधिकी प्राप्ति श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक होती है॥ २० ॥

पूर्व्वसूत्रमें भवप्रत्यय-अवस्थाका वर्णन करके अव महर्षि सूत्रकार उपायप्रत्यय-अवस्थाका वर्णन कर रहे हैं। दृढ़ विश्वाससे जो किसी पदार्थमें एक प्रकारकी प्रीति होती है उसे श्रद्धा कहते हैं जिसका विस्तारित वर्णन पहले कर चुके हैं। जब योगमें श्रद्धा दृढ़ हो जाती है तब ही उसके प्राप्त करनेमें योगीका उत्साह दृढ़ हो जाता है जिसको वीर्य कहते हैं। उत्साहयुक्त साधन करते करते जैसा जैसा साधक ब्रह्मानन्दपथमें अग्रसर होता जाता है वैसे ही उत्तरोत्तर आनन्दवृद्धिकी जो स्मृति है उसको स्मृति कहते हैं। और उस स्मृतिके स्थिर होजानेसे अन्तःकरण केवल आनन्दमय हो जाता है; इसहीको इस सूत्रमें समाधि कही गई है। इस प्रकार श्रद्धा, उत्साह, स्मृति और समाधिकी सहायतासे अन्तःकरण पूर्णानन्दमय प्रकाशको जब प्राप्त हो जाता है, उस ही पूर्णज्ञान अवस्था को शास्त्रोंमें प्रज्ञा कहा गया है। और जब यही प्रज्ञा अवस्था स्थिर हो जाती है तब ही असम्प्रज्ञात समाधि हो सकती है। उस असम्प्रज्ञातरूप निर्विकल्प समाधिके प्राप्त होते ही योगिराज जीवन्मुक्त हो जाता है। उस दशामें उस योगिराजका अन्तःकरण प्रज्ञासे रहित कदापि नहीं होता। उसकी अद्वैतस्थिति सदा बनी रहती है। अतः पूर्वसूत्र-कथित विघ्नोंको न आने देकर साधनकी तीव्रता और परवैराग्यके अवलम्बनसे योगिराज जब श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञाकी सहायतासे अपने मार्गको विघ्नरहित सरल रखकर कृतकृत्य हो जाता है वही दूसरी श्रेष्ठ अवस्था है। इसही अनवरोध सीधे पथका नाम उपायप्रत्ययअवस्था है, जिसमें प्रथमसे ही वैराग्यका सम्बन्ध रहता है और शेषमें वैराग्यकी पूर्णावस्था अर्थात् परवैराग्यकी सहायतासे साधक प्रज्ञाको प्राप्त कर कैवल्य पदको प्राप्त कर लेता है॥ २० ॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

विघ्नरहित सरलपथमें चलते हुए समाधि सिद्धिका लाभ करनेके लिये उपाय बताया जाता है—

जिनके उपाय तीव्र संवेग के साथ होते हैं उनको समाधि समीप है ॥ २१ ॥

समाधि प्राप्त करनेके उपाय पूर्व्वसूत्रोंमें कह आये हैं; अर्थात् पूर्व्वसूत्रकथित जो साधनक्रम है उससे ही असम्प्रज्ञात समाधि की पूर्ण अवस्था प्राप्त हो सकती है; परन्तु उन उपायोंका वेग जिस साधकमें जितना अधिक हो उतना ही वह साधक शीघ्र समाधि पदको पहुँच सकता है। वैराग्यसे जितना विषयबन्धन शिथिल हो जाता है उतना ही साधन-उपायोंका संवेग अर्थात् समाधिकी ओरका आकर्षण उस साधकमें बढ़ जाता है। इस सूत्रसे महर्षि सूत्रकारका यही तात्पर्य है कि साधकमें संवेगका स्रोत तीव्र ही होना उचित है; और तबही वह नाना प्रकारकी रोकोंसे बचकर शीघ्र ही साधनके लक्ष्य असम्प्रज्ञात योगको प्राप्त कर सकेगा। प्रथमसे ही यदि योगीका परवैराग्यकी ओर लक्ष्य हो और साथ ही साथ साधनसहायक श्रद्धा वीर्य आदिका वेग भी तीव्रतम हो तो योगिराजको भवप्रत्ययसम्वन्धीय विघ्नोंकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती और न सिद्धियोंमें फंस कर अटक जानेकी सम्भावना रहती है। उसका पथ सरल और निष्कण्टक हो जाता है ॥ २१ ॥

संवेग के भेद बताये जाते हैं—

मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय, ये संवेग के तीन भेद हैं जिनके अनुसार भी समाधि-लाभका तारतम्य होता है ॥ २२ ॥

साधन-उपायके संवेगरूपी स्रोत-वेगके विचार से तीन विभाग किये गये हैं; अर्थात् जब पूर्व्व-लिखित चार उपायोंका वेग मृदु हो तो वह मृदूपाय संवेग कहलाता है; यदि मध्य हो अर्थात् मृदु से

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

अधिक हो तो उसका नाम मध्योपाय संवेग है; और यदि उन उपायों का संवेग अति तीव्र हो तो उसका नाम अधिमात्रोपाय संवेग होगा और ये ही तीन मृदु आदि प्रत्येक के भेद से नवधा विभक्त होते हैं। यथा–मृदुमृदूपाय, मृदुमध्योपाय, मृदुतीव्रोपाय; मध्यमृदूपाय, मध्यमध्योपाय, मध्यतीव्रोपाय; अधिमात्रमृदूपाय, अधिमात्रमध्योपाय और अधिमात्रतीव्रोपाय। इन नौ में से शेष कथित अवस्था अर्थात् अधिमात्रतीव्रोपाय संवेग ही सबसे श्रेष्ठ है और इस ही के उदय होनेसे साधक शीघ्र अपने लक्ष्यस्थल कैवल्य पद को पहुंच जाता है। यह सूत्र अभ्यासवैराग्य द्वारा समाधि प्राप्त करने के साधारण उपायका शेष सूत्र है। इसके विज्ञानका यही तात्पर्य है कि योगिराज मृदु और मध्य संवेगका आश्रय न लेवे और अधिमात्र संवेगका आश्रय लेकर अपने योगमार्गको निष्कण्टक और सरल रक्खें ॥ २२ ॥

इन उपायोंके अतिरिक्त समाधि प्राप्तिके लिये सुगम अन्य उपायका वर्णन किया जाता है—

अथवा ईश्वर प्रणिधानसे भी आसन्नतम समाधिका लाभ होता है ॥ २३ ॥

महर्षि सूत्रकार पहिले चित्त-वृत्तिनिरोधरूप योगके साधारण उपायसे मुक्तिपदके लाभ करनेका उपाय वर्णन करके अब उसके और भी उपायोंका वर्णन करते हैं; अर्थात् उनका यही तात्पर्य है कि अष्टाङ्ग-योगरूप साधारण साधनोंसे चित्त-वृत्ति-निरोध होकर मुक्ति-तो हुआ ही करती है, किन्तु ईश्वर-भक्ति जिसका कि वर्णन इस सूत्र में किया जायगा, एवं और भी कई प्रकारके साधन जिनका वर्णन परसूत्रोंमें किया जायगा उनसे भी समाधिसिद्धि रूप कैवल्य पदकी प्राप्ति हो सकती है। इस सूत्रमें केवल ईश्वर प्रणिधानसे समाधि प्राप्त करनेका वर्णन किया गया है। प्रणिधान शब्दका अर्थ भक्ति और भक्ति पूर्वक परमगुरु ईश्वरमें सर्वकर्म समर्पण है; भक्ति-मार्ग-के प्रधान आचार्य्य देवर्षि नारद, महर्षि शाण्डिल्य और महर्षि अङ्गिरा ने भक्ति के ऐसे लक्षण वर्णन किये हैं, कि ईश्वरके प्रति पूर्ण अनु-

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

रागको ही भक्ति कहते हैं। जब साधकके चित्तमें ऐसा दृढ़ विश्वास होजाय कि, इस सृष्टि में जो कुछ होता है उसके करने वाले एक मात्र सर्व्वशक्तिमान् ईश्वर ही हैं; जो कुछ होता है होने दो, ऐसा विचार करके जब वह भक्तिमान् साधक ईश्वरके ध्यान करनेमें ही मग्न रहता है और सृष्टिकी ओर से मुख फेरकर परमात्माकी ओर देखता हुआ उनहीके सर्व्वशक्तिमय गुणातीत गुणोंको स्मरण करता हुआ उनहीके प्रेम में मग्न होजाता है तब ही वह भक्ति, ईश्वर-भक्ति कहाती है। अहंकार ही जीवको कर्म्मसे बाँधता रहता है, क्योंकि जीव सदा अपनी योग्यता पर भरोसा करके ऐसा मानने लगता है कि मैं अपने पुरुषार्थसे अमुक दुःखकी निवृत्ति और अमुक सुखकी प्राप्ति करूँगा; इस अहंकारसे ही जीव त्रितापदुःखरूपी बन्धनको प्राप्त होता है; परन्तु जब जीवमें ईश्वर-भक्तिका उदय होता है और वह ईश्वरमें भक्ति-युक्त होकर ईश्वर पर ही पूर्ण भरोसा करने लगता है, सत्, असत् विषयोंको छोड़कर ईश्वर-प्रणिधानमें ही मग्न रहता है तब अपने आपही उसके हृदयका तम-रूपी अहंकार मिट जाता है, और उसके सब विषय-वासना-रूपी बन्धन शिथिल हो जाते हैं, और इसही प्रकार ईश्वर-प्रणिधानसे चित्तवृत्तिनिरोध होकर, ईश्वर का ध्यान करते करते वह साधक समाधि पदको प्राप्त कर लेता है। इस सूत्रसे महर्षि सूत्रकार ने भक्ति-मार्गका सम्बन्ध योगसे दिखाया है और यह प्रमाणित कर दिया है कि कैसे भक्तगण भक्तिमार्गके साधनसे कैवल्य रूपी परमानन्द पदको प्राप्त कर सकते हैं। उपासनाकाण्ड जो वेदके काण्डत्रयके मध्यवर्त्ती होनेके कारण कैवल्य-प्राप्तिका प्रधान सहायक है, उस उपासनाकाण्डकी मीमांसा दैवीमीमांसा दर्शनके साथ योगदर्शनका समन्वय इस सूत्र द्वारा भली भांति हो रहा है। उपासनाके लिये ईश्वरभक्ति प्राणरूप और योग अङ्ग रूप है। इसी कारण भगवद्भक्तिका सम्बन्ध इतनी दृढताके साथ इस दर्शन-सिद्धान्तमें आया है। अधिकारके भेदसे भगवद्भक्ति दो प्रकारकी होती है, यथा—गौणी-भक्ति और पराभक्ति। पराभक्ति-की प्राप्तिके लिये शरीर और मन द्वारा जो प्रथम साधन किया जाता है वह गौणी-भक्ति कहाती है; गौणी भक्तिके भी दो भेद हैं।

यथा-वैधी और रागात्मिका। गुरु-आज्ञाके अधीन होकर विधि साध्यमाना जो भक्ति है, सो वैधीभक्ति कहाती है और भक्तिभावके प्रधान प्रधान रसोंका आस्वादन करके जब भक्त उक्त भक्तिरसोंमेंसे अपनी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार किसी एक भावमें निमग्न रहने लगे तो भक्तिरससागरमें निमज्जन उन्मज्जन करानेवाली उस भक्तिका नाम रागात्मिका है। उपासना-सम्बन्धीय दर्शन-शास्त्रमें ये सब भक्तिके भेद भली प्रकार प्रकट हैं। और इस प्रकारकी गौणी-भक्तिके साधनसे जब साधक उन्नत भूमिको प्राप्त होकर भगवत्-प्रेममें तन्मय हो स्वरूप साक्षात्कार कर लेता है वही अवस्था पराभक्तिकी है, पराभक्ति और निर्विकल्प समाधि एकही अवस्था है ॥ २३ ॥

अब ईश्वरके लक्षण कहे जाते हैं—

जिनमें क्लेश, कर्म्म, कर्म्मफल और संस्कारोंका सम्बन्ध नहीं है वेही पुरुष विशेष ईश्वर हैं ॥ २४ ॥

अविद्यासे उत्पन्न हुआ जो विषय-बन्धन है, उसके कारण राग और द्वेषकी सहायतासे जो चित्तकी विकलता रहती है उसही का नाम क्लेश है। इन क्लेशोंका वर्णन पीछे सूत्रोंमें आवेगा। जो वेद-विहित कर्म्म अथवा वेद-निषिद्ध कर्म्म मन और शरीर द्वारा किये जाते हैं और जो शुभकारी होनेसे पुण्य और अशुभकारी होनेसे पाप कहलाते हैं उनहीका नाम कर्म्म है। उनही किये हुए कर्म्मोंसे जब फलकी उत्पत्ति होती है अर्थात् अच्छे कर्म्मोंसे सुख और बुरे कर्म्मोंसे दुःखकी उत्पत्ति होकर जीव भोगने लगता है उसहीका नाम विपाक अर्थात् कर्म्मफल है। और कर्म्मोंका जो संस्कार अन्तःकरणमें रहता है जिससे पुनः वासनाकी उत्पत्ति होती है उसही वासनाके मूलकारणका नाम आशय अर्थात् संस्कार है। यह क्लेश, कर्म्म-विपाक अर्थात् कर्म्मफल और आशय अर्थात् संस्कार जिनमें न हो वेही ईश्वर हैं: अर्थात् जीवमें तो ये चारों वस्तुएँ संलग्न हैं परन्तु सर्व्वशक्तिमान् ईश्वर इनसे रहित हैं।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

अविद्याके कारण जीव अपने आपको कर्त्ता मानकर (स्वच्छ स्फटिक मणि पर लाल रंगका प्रतिविम्ब पड़नेसे जैसे वह स्फटिकमणि रक्तवर्ण होजाती है उसी प्रकार प्रकृतिके किये हुए कर्म्मोंको वह निर्लिप्त पुरुष अपना कर्म्म समझने लगता है) और इसही अविद्या-रूपी भूलके वशीभूत होकर वह प्रकृतिके कर्म्मोंसे नाना दुःखोंमें फंसा रहता है यही अविद्या जीवके जीवत्वका कारण है। परन्तु पूर्ण प्रकाशवान्, पूर्ण ज्ञानवान्, पूर्ण शक्तिमान्, निर्लिप्त ईश्वर अविद्यारूपी अन्धकारसे रहित होनेके कारण उनमें जीवके दोष अर्थात् क्लेश, कर्म्म, विपाक और आशयरूप बन्धन नहीं है; सर्व्वव्यापक ईश्वर सबमें हैं, विराट् रूपी ईश्वरमें समस्त संसार है; अर्थात् वे सबमें हैं और उनमें ही सब हैं परन्तु वे सबसे निर्लिप्त हैं। उनकी ही शक्तिसे संसारका समस्त कार्य्य चल रहा है, उनहीकी आज्ञासे एक परमाणु भी नियमसे विरुद्ध इधर उधर नहीं हिल सकता; परन्तु वे पूर्ण शक्तिधारी होनेके कारण और उनके अधीन पूर्णज्ञानरूप विद्या रहनेके कारण वे सबसे निर्लिप्त हैं। बहुतेरे श्रेष्ठ पुरुष प्रथम जीव अवस्थामें रहकर पुनः साधन द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हुए मुक्त हो जाते हैं; परन्तु ईश्वर की अवस्था उस प्रकार की नहीं है, अर्थात् ईश्वरमें बन्धन का और अल्प ज्ञान का लेश मात्र नहीं, वे पर-मात्मा परमेश्वर भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान इन तीनों कालोंमें एक रूपही हैं, वे सदा पूर्ण ऐश्वर्य्यवान् हैं, उनकी ऐश्वर्यता का कभी न्यूनाधिक्य नहीं हो सकता, इसही कारण वे इस संसार के उत्पत्ति, स्थिति और लयकर्त्ता और जीवके रूपसे भिन्न ही हैं। इस सूत्रमें ईश्वरको पुरुष विशेष इसलिये कहा गया है कि सांख्योक्त पुरुष स्वरूपतः नित्य शुद्ध मुक्तस्वभाव होने पर भी प्रकृतिके सम्पर्कसे उन पर कर्तृत्व भोक्तृत्वका अभिमान द्वारा औप-चारिक बन्धनसम्बन्ध होजाता है परन्तु ईश्वरमें इस प्रकार प्रकृतिकी ओरसे कोई भी बन्धनका आभास तक नहीं प्राप्त होता है। इसलिये ईश्वर सदाही क्लेश कर्मादि बन्धन सम्बन्धसे मुक्त हैं और इसी लिये सांख्यीय पुरुषसे विशेषताके कारण ईश्वर पुरुष विशेष हैं। सांख्यप्रवचनका बहु पुरुषवाद प्रत्येक शरीरमें अनुमेय

पुरुषभावसे सिद्ध है और योगप्रवचनका एक अद्वितीय पुरुष-विशेष इस भाव से विभिन्न होनेके कारण पुरुष विशेषके योग्य ही है। प्रत्येक जीव पिण्डमें कूटस्थ चैतन्यरूपसे बहु पुरुषका दर्शन लौकिक प्रत्यक्ष गम्य है। और सब स्थानोंमें अनुस्यूत एक अद्वैत-रूपसे व्यापक पुरुषविशेषका अनुभव यौगिक अलौकिक प्रत्यक्षगम्य है। इसी कारण पुरुषविशेष शब्दको पूज्यपाद महर्षिने व्यवहृत किया है ॥ २४ ॥

उनका दूसरा लक्षण, यथा—

उनमें अर्थात् ईश्वरमें सम्पूर्ण ज्ञानका बीज वर्त्तमान है ॥२५॥

जो पदार्थ घटता बढ़ता है अर्थात् जिस पदार्थकी छुटाई बड़ाई है उसकी अवधि अवश्य होगी, जीव में जो ज्ञान-अंश प्रतीत होता है वह जीवके अन्तःकरणकी चंचलताके तारतम्यसे न्यूनाधिक हुआ करता है; अर्थात् विषयोंके सम्बन्धसे ही विषयरूप होकर अन्तःकरण चंचल हुआ करता है। विषयरूप सम्बन्ध जिस अन्तःकरण में जितना अधिक होगा अन्तःकरणमें चंचलता होनेके कारण उसमें ज्ञानका प्रकाश उतनाही न्यून होगा, और ऐसेही अन्तःकरणमें विषयका सम्बन्ध घटनेसे उसकी चंचलता जितनी न्यून होती जायगी उतनाही ज्ञानरूप प्रकाश उस अन्तःकरणमें अधिक होता जायगा। इसही कारणसे प्रत्येक जीवके अन्तःकरणकी चंचलताके तारतम्यसे उसमें ज्ञान भी न्यूनाधिक हुआ करता है। पूर्व्व वर्णनसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि जीवमें ज्ञानकी छुटाई बड़ाई है। जीवमें अविद्या रहनेके कारण उसका अन्तःकरण एकदेशदर्शी है अर्थात् अविद्याके कारण जीव यही समझ रहा है कि मैं ही ज्ञानरूप हूँ और इसही कारण उसका अन्तःकरण देश कालसे परिच्छिन्न अर्थात् मिला हुआ है तो ज्ञानकी पूर्णता जीवमें कैसे सम्भव हो सकती है। शक्तिके वशीभूत जीव होजानेसे इस शक्तिका नाम अविद्या हुआ, परन्तु त्रिगुणमयी विद्यारूपिणी महाशक्ति सदा ईश्वरके अधीन रहती हैं इस कारण ईश्वर उनसे निर्लिप्त हैं; प्रकृतिके गुणोंमें फंसकर जीव अल्पज्ञताको प्राप्त हुआ करता है, परन्तु ईश्वरके अधीन सदा विद्या

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

रूपिणी प्रकृति रहनेसे उनकी अवस्थाका परिवर्त्तन होनेकी सम्भावना नहीं; और उनमें पूर्णज्ञानकी पराकाष्ठा है इस कारण वे सदा पूर्ण-ज्ञानरूप ही हैं। अपने ही अन्तःकरणके ज्ञान द्वारा अल्पज्ञानी जीव कितना ही अधिक जान ले परन्तु उसका अन्तःकरण देश कालसे परिच्छिन्न होनेके कारण असम्पूर्ण ही रहेगा; परन्तु ईश्वरका ज्ञान इस भांति नहीं है, वे सदा निर्लिप्त हैं, इस कारण देश काल उनका स्पर्श नहीं कर सकता। इस ही कारण वे सर्व्वव्यापक सर्व्वशक्तिमान् पूर्णज्ञानी परमेश्वर सब जीवोंके मनको जान जाते हैं अर्थात् जो कुछ जाननेके योग्य है वह उनके ज्ञानसे भिन्न नहीं रह सकता; भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीनों कालमें एक रूपसे स्थाई वह ईश्वरका पूर्ण ज्ञान ही ज्ञानकी अवधि अर्थात् ईश्वरीय सर्व्वज्ञता है ॥ २५ ॥

उनका तीसरा लक्षण यह है—

कालकृत सीमासे रहित होनेसे वे, सब पूर्व्व-वालोंके गुरु हैं ॥ २६ ॥

अनन्तकालसे आजतक ज्ञानप्रकाशक जो कोई महात्मा जन्मे हैं वे सब ईश्वरविभूति हैं; अर्थात् जो जो महर्षिगण अथवा आचार्य्य-गण आजतक शास्त्रों द्वारा जगत्में ज्ञानज्योति विस्तार और वेदार्थ प्रकाश कर गये हैं उनको अंशरूपेण भगवद्-विभूति कहना उचित है। परन्तु कुछ भी हो अर्थात् महात्मागण कितने ही उन्नत ज्ञान को प्राप्त होगये हों तौ भी उनको ईश्वर-विभूति ही समझेंगे और वे सर्व्वज्ञानमय पूर्ण प्रकाशवान् परमेश्वरके निकट शिष्यरूपसे ही समझे जायँगे; अर्थात् उन महात्मागणने जो कुछ प्रकाश किया है वह उस पूर्ण-ज्योतिर्मय अनन्त किरणधारी सूर्य्यकी एक एक किरण मात्र ही है; उन्होंने जो कुछ ज्ञान प्रकाश किया है वह उन परमेश्वर से ही प्राप्त हुआ है। पूर्व्वज महर्षिगणका वर्णन करते समय पूर्व्वापर सम्बन्ध मिलता ही रहेगा अर्थात् सबके गुरुका पता मिल जायगा; इस कारण उनमें कालकी सीमा रही; परन्तु ईश्वरमें वैसा नहीं हो सकता; क्योंकि वे सर्व्वशक्तिमान्, सर्वज्ञाता, त्रिकालव्यापी परमेश्वर सबके आदि हैं, और वे तीनों कालमें एक रूपसे ही

स एष पूर्व्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

वर्त्तमान हैं; वे ही सब ज्ञानोंके आकर हैं और वे ही सब के गुरु अर्थात् उपदेष्टा और ज्ञानगुरु हैं ॥ २६ ॥

लक्षणवर्णनानन्तर साधननिर्देशार्थ ईश्वरका वाचक कहा जाता है—

उनका वाचक प्रणव है ॥ २७ ॥

जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसको वाचक कहते हैं और जाननेके योग्य है वही वाच्य कहाता है: ईश्वर वाच्य हैं और प्रणव वाचक है; अर्थात् प्रणव द्वारा ईश्वरज्ञान होसकता है। पिता और पुत्र दोनों एक स्थान पर बैठे रहने से यदि कोई उनमेंसे पिता शब्द उच्चारण करे तो ऐसा समझना उचित है कि बोलनेवाला पुत्र है और दूसरा पुरुष पिता है; अर्थात् पिता शब्दरूप वाचकने व्यक्तिरूप पिता अर्थात् वाच्यका बोध कराया। पितापुत्रका सम्बन्ध यदिच स्वाभाविक है, परन्तु विचारनेसे यही कहा जा सकेगा कि यह शब्द साङ्केतिक है, परन्तु प्रणव और ईश्वरमें जो सम्बन्ध है वह इस प्रकार केवल सांकेतिक अथवा काल्पनिक नहीं है; इस स्थलमें वाच्य और वाचकका अनादि सम्बन्ध है। शास्त्रोंमें यदिच ऐसा वर्णन बहुत स्थलोंमें देखनेमें आता है कि प्रणवध्वनि केवल चित्त-वृत्ति ठहरा कर सुननेके योग्य है और यथार्थमें उसका उच्चारण मुखसे होना असम्भव है; तथापि गौणरूपेण जो प्रणव-मंत्र उच्चारण किया जाता है वह त्रि-अक्षरमय है, अर्थात् अ, उ और म से ओंकाररूपी प्रणव होता है; जिसका अर्थ शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन है कि ये तीनों अक्षर ब्रह्मा, विष्णु और शिव अर्थात् रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणके अधिष्ठाता हैं; सर्व्वशक्तिमान् परमेश्वर जो अपने तीन गुणोंसे सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लय किया करते हैं वह त्रिगुणमयीशक्ति प्रणवमें भी उपस्थित है; और प्रणव ही ईश्वररूप है। प्रणवका वैज्ञानिक कारण यह है कि जहां कोई कार्य है वहां अवश्य कम्पन है, जहां कम्पन होगा वहां अवश्य शब्द होगा, जब ईश्वरके विराट् देहमें उनकी इच्छासे सृष्टिरूप कार्य्य हो रहा है तो सूक्ष्मरूपेण उस त्रिगुणात्मक कार्यका शब्द प्रणव है; अर्थात्

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

जिस प्रकार विराट्‌रूप ही ईश्वरका रूप है, उसही प्रकार ओंकार-रूप वाचकसे ईश्वरका ज्ञान होना सम्भव है। और इसी प्रकार योगाचार्योंने भी कहा है—

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत् स्पन्देन सव्यापकम् ।
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा ॥
सृष्टिश्चापि तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत् स्पन्दिनी ।
शब्दश्चोदभवत् तदा प्रणव इत्योङ्काररूपः शिवः ॥

कारणरूप विराट् पुरुषसे कार्य्यशब्दरूप प्रणव-ध्वनिका अविमिश्र सम्बन्ध रहनेके कारण और प्रणव-ध्वनिरूप ध्वन्यात्मक शब्दका रूप वर्णात्मक प्रतिशब्द होनेके कारण शाब्दिक ओंकार अथवा शब्दातीत प्रणव दोनों ही पूर्वापर सम्बन्धसे ईश्वरवाचक होकर प्रणव कहाते हैं। योगाचार्य महर्षियोंका सिद्धान्त यह है कि प्रणव ध्वन्यात्मक है। उसका कोई अङ्ग मुखसे उच्चारण करने योग्य नहीं है। योगी जब अपने अन्तःकरणको भक्ति और योग आदिके द्वारा साम्यावस्था प्रकृतिके निकट पहुँचा सकता है तब ही प्रणवध्वनि उसको उसके अन्तःकरणमें सुनाई देती है। उसी ध्वन्यात्मक प्रकृतिके आदि शब्द ईश्वरवाचक प्रणवका वर्णात्मक प्रतिशब्द उपासनाकाण्डकी सिद्धिके लिये बनाया गया है, उसी वर्णात्मक प्रणवप्रतिशब्दको ओंकार कहते हैं। यही ओंकार अर्थात् वर्णात्मक प्रणव अ, उ, म के सम्बन्धसे कहा गया है। वही शास्त्रोंमें सत्व, रज, तमरूपी त्रिगुणात्मक और ब्रह्मा विष्णु महेशरूपी त्रिदेवात्मक शब्दब्रह्मरूपसे पूजनीय है और इस ही विचारसे ईश्वरमें और प्रणवमें भेद नहीं समझा जाता है और इस ही कारण वाच्य ईश्वर और वाचक प्रणवमें अनादि और अविमिश्र सम्बन्ध है ॥ २७ ॥

प्रणवसाधनविधि बताई जाती है—

प्रणव का जप और उसका अर्थ विचारने से समाधि होती है ॥ २८ ॥

अब प्रणव-जपकी विधि और उसका फल कह रहे हैं। पूर्व्व सूत्रसे यह प्रमाणित हो चुका है कि ईश्वर और प्रणवमें अविमिश्र

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

और अनादि सम्बन्ध है; इस कारण प्रणव जप करते करते अवश्य अन्तःकरणको ईश्वर साक्षात्कार हो जायगा। यह जप तीन प्रकार का होता है। यथा—वाचनिक, उपांशु और मानसिक; जिस मन्त्रका जप इस रीतिसे किया जाय कि उसकी ध्वनि औरोंके कानमें भी पड़े और अपने भी कानोंमें पड़कर उसके शब्दमें चित्त ठहरे उसका नाम वाचनिक जप है; जो जप इस भांतिसे किया जाय कि जिसकी सूक्ष्म ध्वनि अपने ही कानोंतक पहुँचती रहे और उससे एकाग्रता स्थापन करे तो उस जपका नाम उपांशु जप है; इसही प्रकार जब जप केवल मनसे ही किया जाय अर्थात् उस शब्दकी सूक्ष्म ध्वनि केवल मनहीमें उठे और जिसको मन द्वारा श्रवण करता हुआ मन उस शब्दमें लगा रहे तो इस प्रकारके जपका नाम मानसिक जप है; इन तीन प्रकारके जपोंकी शक्तिका जैसा प्रभाव मन पर पड़ता है उसके तारतम्यसे मानस जपको उत्तम, उपांशु जपको मध्यम और वाचनिक जपको अधम कह सकते हैं। यद्यपि प्रणव और ओंकार दोनों एक ही अर्थवाचक हैं तथापि पूर्व्वापर अवस्थाभेदसे ध्वन्यात्मक कारणप्रकृतिके शब्दको प्रणव एवं वर्णात्मक प्रतिशब्दको ओंकार कह सकते हैं; इस कारण ध्वन्यात्मक प्रणवका जप केवल मनको साम्यावस्थाके निकट ले जानेसे हो सकता है और केवल वर्णात्मक ओंकारको ही पूर्व्वकथित तीन रूपसे जप कर सकते हैं। इसीसे दोनों एक ही भावमय होने पर भी पूर्व्वापर अवस्थाभेदसे मुख्य और गौण हैं तथापि दोनों ही ईश्वरवाचक प्रतिशब्द हैं। यदि योगी अपनी प्राथमिक क्रियाओंके द्वारा योग्यता लाभ करके तत्पश्चात् मनको साम्यावस्था प्रकृतिके निकट पहुँचानेकी शक्ति प्राप्त करता हुआ प्रणवध्वनिमें अपने मनको लय करनेमें समर्थ होजाय तो वह स्वतः ही साम्यावस्था प्रकृतिमें लय होता हुआ द्रष्टारूपी परमात्माका साक्षात्कार करनेको समर्थ हो जायगा। क्योंकि यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि जिस प्रकार जलाशयमें तरङ्गोंके शान्त हो जाते ही सूर्यका प्रतिविम्ब उसमें स्पष्ट देखनेमें आता है उसी प्रकार अन्तःकरणके वृत्तिसमूह शान्त होते ही द्रष्टा स्वयं प्रकट हो जाते हैं। अतः प्रणवकी सहायतासे योगीका अन्तःकरण वृत्तिरहित होते ही उसको निर्व्विकल्प समाधिकी प्राप्ति होगी जिससे

स्वरूपकी उपलब्धि हो जायगी। यही ध्वन्यात्मक आदिशब्द ईश्वर वाचक प्रणवके अवलम्बनसे वाच्यरूपी स्वरूपकी उपलब्धिका वैज्ञानिक रहस्य है। वर्णात्मक प्रणवकी सहायतासे परम्परारूपसे क्रमशः यही फल होता है। भावके साथ शब्दका जिस प्रकार सम्बन्ध है शब्दके साथ अक्षरका भी उसी प्रकार सम्बन्ध है क्योंकि ध्वन्यात्मक शब्दका प्रतिशब्द ही वर्णात्मक शब्द होता है। भेद इतना ही है कि ध्वन्यात्मक शब्द वागिन्द्रियके अतीत है और वर्णात्मक शब्द वागिन्द्रियकी सहायतासे ही कार्यकारी होता है। अतः वर्णात्मक प्रणवकी सहायतासे योगी प्रथम अवस्थामें वाचनिक और उपांशु जप करता हुआ, प्रत्याहार भूमिसे धारणाभूमिमें अग्रसर होता है। उसके बाद मानसिक जपका अधिकार प्राप्त करके ध्यानभूमि और तत्पश्चात् समाधिभूमिमें पहुँचकर ध्वन्यात्मक प्रणवके जपका अधिकार प्राप्त करता हुआ स्वरूपोपलब्धिमें समर्थ होता है। प्रणवकी सहायतासे ये सब अधिकार स्वतः ही प्राप्त होते जाते हैं। जब प्रणवके साथ ईश्वर का अनादि और अविमिश्र सम्बन्ध होना प्रमाणित है तो साधक वाचकरूपी ओंकारका जप करते करते उत्तम अवस्थामें पहुंच कर जब अन्तःकरणको उस वाचक रूपी प्रणवध्वनिमें लय कर देगा तो स्वतःही उसका अन्तःकरण वाच्यरूपी ईश्वरमें पहुंच जा सकता है। जैसे तैलपायी कीट को जब कंचुकी कीट धारण कर लेता है, तब वह तैलपायी कीट (भय से मोहित हो) उस कंचुकी कीटका रूप ध्यान करते करते अन्तमें कंचुकी कीट हो जाता है; उसी प्रकार जीव यदि भगवद्गुणस्मरण द्वारा सदा परमेश्वरका ध्यान करता रहे तो स्वतः ही उसकी स्वाभाविक चंचल वृत्तियोंका नाश हो जायगा। और वह भगवद्भावको ध्यान करता हुआ मुक्त हो जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं। इसी कारणसे योगाचार्योंने प्रणवसे ही अन्यान्य बीजमन्त्रोंकी सृष्टि मानी है। यथा—

साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दो महानोमिति
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः।
वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव बहुधा शब्दाः श्रुताः कालतः
ते मन्त्राः समुपासनार्थमभवन् बीजानि नाम्ना तथा ॥

जिस प्रकार साम्यावस्थासे सम्बन्ध रखनेवाली प्रकृतिका शब्द

ब्रह्मा विष्णु शिवात्मक ओंकार है, उसी प्रकार वैषम्यावस्थापन्न प्रकृति-के नाना शब्द हैं, वे ही नाना शब्द उपासनाके अनेक वीजमन्त्र हैं। इसी कारण प्रणवको ऊपर कथित सब बीजमन्त्र अथवा शाखापल्लव युक्त मन्त्रयन्त्रका सेतु करके माना है। यथा—श्रुतिस्मृतिमें—

"मन्त्राणां प्रणवः सेतुः"

माङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकामप्रसाधनम्।
ओंकारः परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम्॥

प्रणवसे अतिरिक्त जितने बीजमन्त्र हैं वे सब वैषम्यावस्था प्रकृतिके विशेष विशेष विभागोंके साथ सम्बन्ध रखते हैं और बीज-मन्त्रके अतिरिक्त जो शाखापल्लवयुक्त मन्त्र हैं वे भावप्रधान होनेसे वैषम्यावस्था प्रकृतिसे उत्पन्न भावराज्यके ही प्रकाशक हैं। अतः उन सबमें देश काल और भावकी परिच्छिन्नता विद्यमान है, जहाँ देश कालादिकी परिच्छिन्नता है वहां पूर्णशक्तिका अभाव तथा सर्वव्यापकताका अभाव है इसमें सन्देह ही क्या? सेतुकी सहा-यतासे जिस प्रकार मार्ग सरल और वाधारहित हो जाता है ठीक उसी प्रकार देश कालसे अपरिच्छिन्न पूर्णशक्तिमान् भगवान्का वाचकरूपी पूर्णशक्तिशाली प्रणव अन्य सब बीजमन्त्र तथा शाखापल्लवयुक्त मन्त्रोंके मार्गको सरल और वाधारहित करके उनकी शक्तिको लक्ष्यस्थलपर पहुंचा देता है। अतः प्रणवकी सहायता आत्मसाक्षात्कार करनेकी इच्छा रखनेवाले अधिकारियोंके लिये परम हितकारी है। इन्हीं कारणोंसे महर्षि सूत्रकारका इस सूत्रसे यही तात्पर्य्य है कि वाचकरूपी प्रणवका जप और उसके साथही भगवद्गुणोंका स्मरण करते करते साधक स्वतः ही समा-धिस्थ होकर आत्मदर्शन करने लगेगा॥ २८॥

प्रणवसाधनका फल वर्णन किया जाता है—

तब प्रत्यगात्मारूप पुरुषका ज्ञान होता है और विघ्नोंका नाश होजाता है॥ २९॥

तब अर्थात् जब प्रणवके साधनसे जीव अपनी चित्तवृत्तियोंसे उपराम हो जाता है उस समय उसका अन्तःकरण समाधिस्थ हो

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥ २९॥

जाता है। जबतक अन्तःकरण समाधिस्थ न हो तबतक वृत्तिगण बहिर्मुख होकर अर्थात् विषयोंसे मिलकर अन्तःकरणको चंचल कर दिया करती हैं, यही चंचलता समाधिका विघ्न है; परन्तु अब जब प्रणवसाधनसे चित्त-वृत्तियां ठहरकर अन्तःकरण एकाग्र होकर भगवद्भावमें लग्न होजाता है तब इन विघ्नोंका नाश आपही हो जाता है और इसही अवस्थामें अन्तःकरण निर्मल होजानेसे उसमें प्रज्ञारूपी यथार्थ ज्ञानका उदय होता है, और इसही ज्ञानकी प्राप्तिसे साधक आत्म-साक्षात्कार लाभ करके मुक्त हो सकता है। और आगेके सूत्रमें कथित समस्त अन्तरायोंसे भी बच सकता है। यह सूत्र प्रणव जपके द्वारा ईश्वर प्रणिधान का पूर्ण महत्त्व प्रकाशक और निष्कण्टक पथप्रदर्शक है। अन्य प्रकारके जप तथा अन्य प्रकारके साधनोंमें कदाचित् विघ्नोंकी सम्भावना रह सकती है, तथा उन पथोंमें बाधा विघ्न उत्पन्न होनेका अवसर मिल सकता है। परन्तु प्रणव जप द्वारा ईश्वर प्रणिधानरूपी साधनमें ऐसा होनेकी सम्भावना ही नहीं। ईश्वरके साथ प्रणवका साक्षात् सम्बन्ध रहनेके कारण एकमात्र प्रणवकी सहायतासे ही योगीका अन्तःकरण श्रीभगवान्के चरणकमलोंमें बेरोकटोक पहुँच जाता है। सविकल्प समाधियोंमें जो जो विघ्न हो सकते हैं, जिनका वर्णन पहले आ चुका है और वृत्तियां बार बार प्रकट होनेसे जो जो विघ्न हो सकते हैं उनका वर्णन आगे आवेगा; ये सब बातें प्रणवजपकारी ईश्वर भक्तिमान् योगीको बाधाप्रदान नहीं कर सकतीं। अतः इस साधनकी सर्वश्रेष्ठता तथा आस्तिक्यमूलकताका महत्त्व प्रतिपादन किया गया है॥ २९॥

अब पूर्वसूत्रकथित अन्तरायोंका वर्णन किया जाता है—

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व, ये सब चित्तके विक्षेप करने वाले हैं अतः योगके विघ्न हैं॥ ३०॥

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याऽविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ ३०॥

अब महर्षि सूत्रकार अन्तःकरणके विक्षेपकारक योगसम्बन्धीय अन्तरायोंका वर्णन कर रहे हैं येही सब अन्तःकरणको योगयुक्त होनेसे रोकते हैं, अर्थात् यही साधकको योग-अवस्था प्राप्त करनेमें विघ्नकारी हैं। शरीर और अन्तःकरणका अविमिश्र सम्बन्ध है। संसारमें प्रत्येक मौलिक पदार्थके तीन तीन और सात सात भेद होते हैं। यथा-प्रकृतिराज्यके सूक्ष्म भावोंमें सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण और सप्तव्याहृति आदि सप्तविभाग। इसी शैलीपर पिण्डरूपी जीव शरीरमें भी वात पित्त कफरूपी त्रिविध प्रकृति और रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा आदि सप्तधातु माने गये हैं। जब तक तीनों प्रकृतिकी समता रहती है और जबतक धातुओंमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता तबतक पिण्डरूपी जीवशरीर प्रकृतिस्थ रहता है और उसमें कोई विकार या रोग उत्पन्न नहीं होने पाता है। परन्तु उनमें वैषम्य उपस्थित होनेसे शरीरमें जो विकार उत्पन्न होता है उसको व्याधि कहते हैं। जब अन्तःकरणकी प्रवृत्ति तामसिक कर्म्मोंकी ओर रहे और उसकी ऐसी चेष्टा रहे कि जब कर्म्म करे तो तामसिक कर्म्म ही करे, नहीं तो कर्म्मरहित होनेकी प्रवृत्ति दिखावे: अन्तःकरणकी इस प्रकारकी तामसिक वृत्तिका नाम स्त्यान है। जीवमात्रकी स्वाभाविक गति सत्त्व गुणकी ओर है। इसी कारण उद्भिज्जसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज, अण्डजसे जरायुज इस क्रमसे जीव क्रमशः सत्त्वानुगामी होता हुआ अन्तमें सत्त्वगुणकी अधिकारस्थान मनुष्ययोनिको प्राप्त करता है और मनुष्ययोनिमें क्रमशः सत्त्वगुणको बढ़ाता हुआ अन्तमें सत्त्वगुणकी पूर्णावस्थामें मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है। सुतरां मनुष्यमें तमोगुणको बढ़ने देना उसके पुनः पतनका कारण होगा। इस कारण तमोगुणवर्द्धक स्त्यान योगान्तराय है इसमें सन्देह नहीं। दो पदार्थोंमेंसे किसी एक पदार्थमें भी निश्चय बुद्धि न होनेको संशय कहते हैं; अर्थात् जब दो पदार्थोंका विचार करते करते भ्रमपूर्ण बुद्धि कभी उन दोनोंमेंसे एकको सत्‌रूपेण ग्रहण करे और पुनः अपने उस विचारको भ्रमपूर्ण समझकर दूसरेको असत् मानने लगे, इस प्रकारकी जो चलायमान वृत्ति है उसको ही संशय कहते हैं। समाधिकी पूर्णावस्थाके प्राप्त करनेके जो जो उपाय हैं, अर्थात् जिन उपायों द्वारा साधक शनैः

शनैः समाधिस्थ हो सकता है उन उपायोंमें अन्तःकरणके न जमनेको प्रमाद कहते हैं; पूर्व्व सूत्रोंमें महर्षि सूत्रकार श्रद्धाको ही योगयुक्त होनेका प्रथम अवलम्बन कह आये हैं, अतः जो वृत्ति इस वृत्तिके विरुद्ध हो अर्थात् जो वृत्ति योगकी क्रियाओंमें अन्तःकरणके लगानेवाली श्रद्धाकी विरोधिनी और अन्तःकरणकी दृढ़ताकी बाधक हो उस हीका नाम प्रमाद समझना उचित है। मनमें और शरीरमें तमोगुण अधिक बढ़ जानेसे जब मन और शरीर कार्य्य करना नहीं चाहते; तमोगुणकी उसी अवस्थाका नाम आलस्य है। अर्थात् तमोगुणके भारीपनके दबावसे जब अन्तःकरण और शरीरमें जड़ता आजाती है और वे स्फूर्तिहीन होकर परिश्रमसे बचना चाहते हैं, अन्तःकरण और शरीरकी इस अवस्थाको ही आलस्य कहते हैं। अन्तःकरण जब तन्मात्रा और इन्द्रियोंकी सहायतासे किसी विषयमें लगकर उस विषयको अपनेमें आरोपित कर आत्माके संग उस विषयका संयोग कर देता है उस अवस्थाको अविरति कहते हैं; अर्थात् आत्मा अविद्याके कारण अपने आपको अन्तःकरण माने हुए है, अन्तःकरणकी स्वाभाविक वृत्ति विषयके साथ मिलकर अपने आपको विषयवत् करती हुई आत्माको मोहित अथवा प्रलोभित करती रहती है, अन्तःकरणकी उस वृत्तिका नाम अविरिति है। कुछसे कुछ समझ लेनेको भ्रांति कहते हैं; अर्थात् जैसे शुक्तिके देखनेसे रजतका विपर्य्ययज्ञान होता है, जैसे कभी छाया आदिके देखनेसे प्रेतादिका बोध होता है, इसी प्रकारके विपरीत ज्ञानको भ्रांति कहते हैं। जब अन्तःकरण समाधिकी पूर्ण अवस्थाकी ओर चलते हुए बीचमें अटक जाता है अर्थात् अपनी निर्म्मलताकी सहायतासे आत्माके आभास सुखको ही आत्माका यथार्थ सुख समझ कर, उसी आभास आनन्दमें मग्न हो रहता है; जैसे कि जड समाधि आदिमें साधकको हुआ करता है, इस प्रकार की कैवल्यपदमें विघ्न डालनेवाली अवस्थाको अलब्धभूमिकत्व कहते हैं और जब साधकका अन्तःकरण पूर्ण योगभूमि अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधिकी भूमिकी सीमातक पहुंच कर वहां बिना ठहरे ही नीचेकी ओर उतर आया करता है; अर्थात् अन्तःकरण में दृढ़ताका अभाव होनेके कारण वह योगकी प्रधान लक्ष्य निर्विकल्प समाधि अथवा असम्प्रज्ञात समाधिकी सीमा तक

पहुंच तो जाता है परन्तु ठहर नहीं सकता; साधककी इस दुर्बलताको अनवस्थितत्व कहते हैं। इस सूत्रमें लिखे हुए यह नौ विषय अन्तः-करणके विक्षेप करनेवाले हैं अतः योगसाधनके विघ्न हैं; अर्थात् इन समाधिविरोधी गतियोंके कारणसे अन्तःकरण प्रकृतिकी ओर लगा रहता है और उन्हींके कारण योगके प्रधान लक्ष्य कैवल्यपदको प्राप्त नहीं हो सकता। यही योग विघ्न कहाते हैं ॥ ३० ॥

अब दूसरे प्रकारके गौण योगविघ्नोंका वर्णन किया जाता है—

दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास, यह चित्त-विक्षेपके साथ होते हैं ॥ ३१ ॥

पूर्व्व सूत्रमें एक प्रकारके योग विघ्नोंका वर्णन करके अब महर्षि सूत्रकार दूसरे प्रकारकी विघ्नकारी वस्तुओंका वर्णन करते हैं; पूर्व्व कथित अन्तरायसमूह विक्षेपकारक हैं और अब जिनका वर्णन किया जावेगा वे विक्षेपके सहायक हैं; दोनों ही योगमें विघ्न करने वाले हैं, परन्तु पूर्व्वापर सम्बन्ध होनेके कारण उनको पहले और इनको पीछे वर्णन किया है। दुःख तीन प्रकारका होता है। यथा— आध्यात्मिक दुःख, आधिदैविक दुःख और आधिभौतिक दुःख; आध्यात्मिक अर्थात् अन्तःकरण और शरीरसे जो दुःखकी उत्पत्ति हो उसे आध्यात्मिक दुःख कहते हैं, जो दैवात् एकाएक दुःख उत्पन्न हो जिसका कि पूर्व्व कारण जाननेमें नहीं आता है जैसे महा मारीभय, वज्रपात आदि; इस प्रकारके दैवी दुःखको आधिदैविक कहते हैं, और जो दुःख और जीवोंके द्वारा प्राप्त हो, यथा–कुटिल मनुष्य और हिंसक जन्तु आदिसे जो दुःख प्राप्त होता है उसको आधिभौतिक दुःख कहते हैं। येही त्रिविध दुःख हैं। वासनाके पूर्ण न होनेसे इच्छा-भंग होकर जो एक प्रकारका क्षोभ अर्थात् मन और शरीरमें अवसन्नता हुआ करती है उसका नाम दौर्मनस्य है। भय आदि वृत्तियोंके वशीभूत होकर जो मन, शरीर और शरीरके अंगों का कम्पन उपस्थित होता है उसका नाम अंगमेजयत्व है। प्राण-वायु जो वाहरकी वायुको भीतरकी ओर खेंचता है उसको श्वास कहते हैं और प्राण-वायु जो भीतरकी वायुको वाहरको फेंकता है

दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

उसका नाम प्रश्वास है । जिस प्रकार त्रिताप, दौर्मनस्य और अंगमेजयत्व, यह तीनों अन्तःकरणविक्षेपके साथ रहते हैं और अधिक विक्षेप करनेमें सहायक होते हैं, उसी प्रकार श्वास प्रश्वास भी अन्तःकरणमें विक्षेप करनेके सहायक हैं अर्थात् जितना अन्तःकरण चंचल होगा उतना ही श्वास, प्रश्वास अधिक २ बढ़ेगा और यह भी प्रमाणित है कि अन्तःकरण ठहरते ही प्राण-क्रिया ठहर जायगी, और अन्तःकरण जितना चंचल होगा उतना ही प्राणक्रिया रूपी श्वास, प्रश्वास भी अधिक वेगसे धावित होगा। इस कारण इस सूत्रमें कही हुई यह पांचों वृत्तियां सदा अन्तःकरणके विक्षेपकी सहायक हैं; इसी कारण ईश्वरप्रणिधानके साधनरूप प्रणवजपके अभ्याससे इनको रोक कर अन्तःकरणका शुद्ध करना साधकके लिये उचित है ॥ ३१ ॥

अन्तराय दूरीकरणार्थ उपायका निर्देश किया जाता है—

विक्षेपकारी योगविघ्नोंकी निवृत्तिके लिये एकतत्त्वका अभ्यास करना उचित है ॥ ३२ ॥

चित्तवृत्तिनिरोध करके योगसाधन द्वारा कैवल्यप्राप्तिके प्रधान साधन अभ्यास और वैराग्यका विस्तारित वर्णन करनेके अनन्तर पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने अभ्यास वैराग्यके अतिरिक्त एक साधारण उपाय ईश्वरप्रणिधानका वर्णन किया है। वस्तुतः वैराग्यसहित अष्टाङ्ग योगका अभ्यास कैवल्यप्राप्तिका विशेष साधन है। परन्तु प्रणवजपादि अङ्गसम्वलित ईश्वर प्रणिधानभी कैवल्य प्राप्तिका साधारण उपाय है। पूर्व विज्ञानके अनुसार इतना तो सिद्ध ही हो चुका है कि अभ्यास वैराग्य और ईश्वर प्रणिधान दोनों ही कैवल्यप्राप्तिके उपाय हैं; अपिच कैवल्यभूमिमें अग्रसर होनेके लिये जो जो विघ्न उपस्थित हो सकते हैं वे प्रधानतः प्रणवजपसे ही नष्ट हो सकते हैं। परन्तु उसके अतिरिक्त एकतत्त्वके अभ्यास द्वारा भी वे सब विघ्न निवृत्त हो सकते हैं, ऐसा इस सूत्र का तात्पर्य है। भेद इतना ही है कि प्रणवजप आस्तिक उपाय है और एकतत्त्वाभ्यासादि जिनका वर्णन आगे क्रमशः आवेगा वे सब

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

ईश्वर सम्बन्ध युक्त उपाय नहीं हैं ऐसा कहा जा सकता है। एक तत्त्वके अभ्यासले अन्तःकरणविक्षेपकारी बाधाओंका नाश होजायगा। अब प्रश्न यह हुआ कि वह एकतत्त्व क्या है? यदि ऐसा कहा जाय कि अन्तःकरण को एकाग्र करनेसे ही एकतत्त्वअभ्यास होगा। इस के उत्तरमें यदि कोई कहे कि जब हम अन्तःकरणको नाना विषयोंमें भ्रमण करते हुए देखते हैं तो इससे यही अनुभव होता है कि नाना विषयोंमें भ्रमण करनाही अन्तःकरण का स्वाभाविक गुण है; इसी कारण उसका किसी ज्ञात अथवा अज्ञात विषयमें ठहरना असम्भव है; क्योंकि नाना विषयरूपी अन्तःकरणका प्रवाह क्षणिक है अर्थात् अन्तःकरणमें एक प्रकारका प्रवाह सदा नहीं रहता; क्षणिक वस्तुमें एकाग्रता कहांसे आवेगी? परन्तु जब प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि रजोगुण द्वारा जब अन्तःकरणसे काम लिया जाता है तब वह नियमित एक प्रकारके कार्य्यमें ही लगा रहता है, इस हेतु क्षणिक नहीं हो सकता, और जब साधन द्वारा अन्तःकरणको जितनी देर तक चाहें एकाग्र करके रख सकते हैं अर्थात् जब उस का लक्ष्य सिवाय एक पदार्थके और कहीं नहीं जाता तो इससे यही सिद्धांत हुआ कि अन्तःकरणका स्वाभाविक गुण नाना विषयोंमें भ्रमण करना नहीं है; यदि ऐसा होता तो एकाग्रता स्थापन उसमें हो ही नहीं सकती थी और यदि होतीतो वह एकाग्र अवस्था उसके अर्थ क्लेशका कारण होती। जहां प्रत्यक्ष प्रमाण है वहां सन्देहका कोई कारण ही नहीं; इस कारण यह दृढ़ताके साथ निश्चय हुआ कि अन्तःकरण एकाग्र हो सकता है और अन्तःकरण की एकाग्रतासे ही एकतत्त्वकी प्राप्ति हो सकती है। अब देखना चाहिये कि वह एकतत्त्व क्या है? जब हम कहते हैं कि "हमारा शरीर अच्छा है" तो शरीरका देखनेवाला कोई स्वतन्त्र पदार्थ हुआ, वही स्वतंत्र पदार्थ अन्तःकरण है जो शरीरका अच्छा होना न होना विचार कर रहा है; इसी प्रकार जब हम कहेंगे कि "आज हमारा अन्तःकरण प्रसन्न है" तो अहं पदवाच्य अर्थात् वह पुरुष जो अपने आप को अन्तःकरण से स्वतंत्र रखकर "हमारा अन्तःकरण" ऐसा कह रहे हैं वे अन्तःकरणसे भी स्वतंत्र सिद्ध हुए। इन दोनों विचारोंसे यही सिद्ध हुआ कि अहंपदवाच्य पुरुष स्वतंत्र है और अन्तःकरण भी

स्वतन्त्र है; और अन्तःकरण का और उस पुरुष का निकट सम्बन्ध है; जब यह अन्तःकरण पुरुष की ओरसे दृष्टि फेर कर नाना विषयों-की ओर दृष्टि करके उनमें फँस जाता है तब ही वह नाना रूप धारण कर लेता है; और यही अवस्था अन्तःकरणकी स्वाभाविकी है अर्थात् जब वह बहुरूप धारण कर लेता है तब तो वह अन्तःकरण कहाता है और जब वह एकाग्रता स्थापन करता हुआ पूर्णरूपेण एकाग्र हो जाता है तब वह एकतत्त्व कहाता है। अतः जब अन्तः-करण अपनी बहिर्मुखदशासे उलट कर अपनी विषयवती अनन्त-धाराको रोकता हुआ आत्माकी ओर एक धारासे सम्मुखीन होजाय, अन्तःकरणकी उसी दशाको एकतत्त्व कहते हैं। बहिर्मुखीन अन्तः-करण नाना विषयोंके अवलम्बनसे नाना तत्त्वको प्राप्त करता है। परन्तु उधरसे बगदा हुआ अन्तःकरण जब आत्मराज्यकी ओर अग्रसर होता है तभी वह एक अद्वैत धारासे युक्त होकर एकतत्त्व दशाको प्राप्त हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरणकी इस दशाको एक-तत्त्व कहते हैं। और इसही प्रकारकी एकतत्त्वदशाको प्राप्तकर-नेसे ही अन्तःकरण पूर्व्वकथित विक्षेपोंसे बचकर एकाग्र हो परमा-नन्दको प्राप्त कर सकता है॥ ३२॥

अब एकतत्त्व प्राप्तिके सहायभूत साधनोंका वर्णन किया जाता है जिनमेंसे प्रथम साधन यह है —

सुखीसे प्रीति, दुःखियों पर दया, पुण्यात्मासे मैत्री और पापीगण से उदासीनता करने से अन्तः करणकी प्रसन्नता बनी रहती है॥ ३३॥

पूर्व्व सूत्रमें एकतत्त्व अभ्यासका वर्णन करके अब इस सूत्र-द्वारा महर्षि सूत्रकार एकतत्त्व प्राप्तिकी सहायक वृत्तियोंका वर्णन कर रहे हैं। यह पहिले ही कह आये हैं कि अक्लिष्ट वृत्तियां सत्त्वगुण की वृत्तियां हैं और क्लिष्ट वृत्तियां तमोगुण की हैं; जिनमेंसे सत्त्वगुणकी वृत्तियां ज्ञानप्रकाशक और आनन्ददायक हैं, और

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनात-श्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

तमोगुणकी वृत्तियाँ ज्ञाननाशक और क्लेशकारक हैं। सुखी मनुष्यको देखकर तमोगुणी मनुष्योंमें ईर्षारूप क्लिष्ट वृत्ति होसकती है; परन्तु यदि अभ्याससे अन्तःकरणको ऐसा अभ्यसित किया जाय कि सुखी मनुष्यको देखते ही उसमें प्रीतिका संचार हो तो कदापि उस अन्तःकरणके विचलित होनेकी सम्भावना नहीं होगी। इसीप्रकार यदि दुःखी मनुष्यको देखकर साधकके हृदयमें निष्ठुरतारूपी क्लिष्टवृत्ति न होकर प्रथमही अन्तःकरणमें दयाका उद्रेक हो; पुण्यात्माको देखकर ईर्षा, दम्भ आदि क्लिष्ट वृत्तियाँ न होकर यदि उससे मित्रता स्थापनकी इच्छा हो और पापीगणको देखकर न तो उनके कर्म्मोंका अनुमोदन ही करे और न विरोधी ही बने परन्तु अन्तःकरण उदासीन हो जाय अर्थात् यही विचारने लगे कि "अपने अपने कर्म्मानुसार जीवकी गति होती है और गुणके अनुसार ही कर्म्म हुआ करता है, जिसको जो चाहे करने दो हमारे देखनेकी आवश्यकता क्या है" ऐसा विचार करके यदि साधकगण पापकी निन्दा न करके अथवा उससे द्वेष न करके पापीगणसे उदासीन रहें तो साधकका अन्तःकरण कदापि विचलित नहीं होगा; और प्रसन्नताको प्राप्त होता हुआ एकतत्त्व दशाकी ओर अग्रसर होता जायगा। इसी कारण इस सूत्रका यह तात्पर्य है कि सुखीगणको देखकर प्रीति, दुःखीगणको देखकर दया, पुण्यात्मागणको देखकर मैत्री और पापीगणको देखकर उदासीनता लानेसे अन्तःकरण अविचलित रहता है और इसी प्रकार शनैः शनैः एकाग्र होता हुआ एकतत्त्वरूपी ईश्वरभावप्राप्तिकारक भावको प्राप्त करके कैवल्य भूमिमें अग्रसर होसकता है ॥ ३३ ॥

द्वितीय साधन यह है—

अथवा प्राणके प्रच्छर्दन और विधारणकी क्रियासे भी एकतत्त्व प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार एकतत्त्व प्राप्त करनेका दूसरा उपाय वर्णन कर रहे हैं। प्राणक्रियामें जो वायु भीतरकी ओरसे नासिका द्वारा वाहरकी ओर निकलती है उसको प्रच्छर्दन कहते

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

हैं और जो वायु धारण की जाती है उसका नाम विधारण है; इस प्रकारसे प्राणवायुके रेचन तथा धारणअभ्यास द्वारा अन्तःकरणको एकाग्र करके साधक एकतत्त्वको लाभ कर सकता है। पूज्यपाद महर्षिगणका यही मत है और यह प्रामाणिक भी है कि मन, वायु और वीर्य्य तीनों एक ही पदार्थ हैं, अर्थात् मनकारण, वायु सूक्ष्म, वीर्य स्थूल विस्तार है; इन तीनोंमेंसे किसी एकको वशीभूत करनेसे तीनों वशीभूत होजाते हैं; इसही कारण यह प्रमाणित ही है कि जब साधनसे प्राणवायु वशीभूत होकर ठहर जायगा तो मन अर्थात् अन्तःकरण आप ही एकतत्त्वको प्राप्त होगा। नासापुटके द्वारा जो प्राणवायु आता जाता रहता है, वह कार्य है और प्राण शक्ति कारण है; अर्थात् प्राणके चाञ्चल्यहेतु शरीररक्षाके लिये जो कार्य होता है उसीके फलसे स्थूलशरीरमें स्थूलवायुके आने जानेकी जो शैली है उसीको साधारणतः श्वास प्रश्वास कहते हैं। सुतरां स्थूलवायु कार्य और प्राणशक्ति कारण होनेके कारण जिस शक्ति द्वारा स्थूल श्वास प्रश्वासकी समता उत्पन्न होती है उसीके द्वारा प्राणशक्ति भी स्थिरताको प्राप्त होती है, यह स्वतःसिद्ध है और प्राणशक्ति तथा मनःशक्तिका कार्यकारण सम्बन्ध होनेके कारण प्राणशक्तिके स्थिर होते ही अन्तःकरण स्थिर हो जाता है और अन्तःकरणके स्थिर होते रहनेके साथ ही साथ एकतत्त्वकी प्राप्ति होती है। अब विचारने योग्य विषय यह है कि स्थूल प्राणवायुकी स्वाभाविक चञ्चलता रोकनेका साधारण उपाय क्या है। और वह रुकावट कहाँ और कैसे बन सकती है। जब तक प्राणवायुका आना और जाना समानरूपसे बना रहता है, तबतक प्राणशक्ति और मनका चाञ्चल्य अवश्यम्भावी है। परन्तु प्राणवायुके रोकनेके लिये जो उपाय बन सकते हैं वे सम्भवतः तीन प्रकारके कहे जा सकते हैं। एक तो प्राणवायु जब बाहर निकले तब हो सकता है। दूसरा प्रकार वह कहाता है जब बाहरकी वायु भीतर आवे और तीसरा प्रकार यह होसकता है कि जब किसी अन्य कारणविशेषसे श्वास और प्रश्वास इन दोनोंकी स्वाभाविक क्रियामें भेद पड़ जाता हो। प्राणवायु जब भीतरसे बाहरको निकल जाता है उस समयकी सन्धि प्रथम है। जब बाहरकी वायु भीतर पहुँचकर खिंचनेकी

क्रिया बन्द हो जाती है उस समयकी सन्धि दूसरी है और तीसरी दशाके उदाहरणमें यह समझने योग्य है कि जिस समय सुषुम्नाका उदय हो जाता है, उस समय स्वभावसे ही श्वास और प्रश्वासकी शक्ति थोड़ी देरके लिये शिथिल होजाती है। विचारशील व्यक्ति-मात्र ही यह अनुभव कर सकते हैं कि जब इडासे पिङ्गला और पिङ्गलासे इडामें प्राणकी गति प्रारम्भ होती है अर्थात् जब वाम नासिकासे दक्षिण नासिकामें तथा दक्षिण नासिकासे वाममें प्राणवायुके चलनेकी सन्धि उपस्थित होती है उस समय थोड़ी देरके लिये श्वास प्रश्वासकी गतिका स्वाभाविक अवरोध होजाता है। अतः श्वासके बाहर निकल जानेकी सन्धिमें, अथवा श्वासके भीतर आजानेकी सन्धिमें यदि साधक अपने मनको स्थिर करे तो उसके मनमें स्वतः एकतत्त्वका उदय हो सकता है। परन्तु सुषुम्नाके उदय होते समय एकतत्त्वका उदय होना स्वाभाविक है। योगाचार्योंकी सम्मति यह है कि इन तीनों दशाओंमेंसे सुषुम्ना-में एकतत्त्वके अभ्यासमें अधिक सुगमता होती है। प्राणवायुके बाहर पहुँचनेपर जो दूसरी अवस्था है उसमें प्राणवायुको स्थिर करके एकतत्त्व प्राप्तिका दूसरा उपाय है। यह उपाय मध्यम है। और प्राणवायु जब भीतर पहुँच जाय उस समय प्राणवायुको स्थिर करके एकतत्त्वलाभ करना तीसरा उपाय है। यह उपाय अधम है। सुतरां इन तीनों दशाओंमेंसे किसी दशामें योगी पुरुषार्थ करनेपर सुगमताके साथ एकतत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है ॥ ३४ ॥

तृतीय साधन यह है—

अथवा जब दिव्य विषयवाली प्रवृत्ति उत्पन्न होकर उसी-में अन्तःकरण लगे तौभी एकतत्त्वप्राप्ति होती है ॥३५॥

महर्षि सूत्रकार अब एकतत्त्व प्राप्तिका तीसरा उपाय कह रहे हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पाँचों भूतोंसे सृष्टि है; इन पांचों भूतोंके पांच विषय हैं, यथा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; स्थूलसे सूक्ष्ममें ले आनेके अर्थ यदि अन्तःकरणको इन भूतोंके स्वाभाविक दिव्य विषयोंमें एक स्थानपर ही लगा रक्खा

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ ३५ ॥

जाय, तो शनैः शनैः अन्तःकरण एकाग्र हो सकता है। इस विषयमें उदाहरण दिया जाता है। यथा—नासिकाके अग्रभाग में अन्तःकरणको संयम करके वहांके स्वाभाविक दिव्य गन्धमें एकाग्रता-का अभ्यास किया जाय, अथवा रसनाके अग्रभागमें उसी प्रकार रसरूप विषयमें अन्तःकरणके लगानेसे शनैः शनैः एकतत्त्व लाभ हो सकता है। यद्यपि अन्तःकरणके स्थिर करनेके अर्थ ये सब क्रियाएँ स्वाभाविक ही हैं, तथापि इस प्रकारके क्रिया-साधनमें भी शास्त्र और श्रीगुरु-उपदेशकी आवश्यकता है; क्योंकि अप्रत्यक्ष देशके लाभ करनेमें प्रत्यक्ष साधनकी प्रवृत्तिकी दृढ़ता तब तक कदापि नहीं हो सकती जब तक निश्चय करानेवाला कोई प्रत्यक्ष उपदेशक न हो; और दृढ़ता ही फल-प्राप्तिका एक मात्र उपाय है। इस कारण जब विना उपदेशके दृढ़ता नहीं हो सकती तो विना उपदेशके साधनमें सफलकाम होना भी असम्भव है। इस सूत्रमें जो विषयोंमें मन स्थिर करनेका उपाय वर्णन किया गया है उसीके विचारसे नाना प्रकारके साधन मार्गोंमें नाना प्रकारकी क्रियाएँ विहित की गई हैं। इस सूत्रका यही आशय है कि स्थूलसे अन्तःकरणको सूक्ष्ममें लाकर तन्मात्रारूपी किसी एक भूतके किसी एक विषयमें अन्तःकरणको लय करनेका अभ्यास करनेसे वह शनैः शनैः एकतत्त्व प्राप्त हो जायगा; और इसी प्रकार एकतत्त्व प्राप्त करके साधक क्रमशः परम कल्याणपदको लाभ कर सकेगा। इस विज्ञानका तात्पर्य यह है कि जीव जिन कारणोंसे विषयमें विमोहित हो विषयवत् हो जाता है वे कारण यदि न रहें तो अन्तःकरण अपनी स्वाभाविक दशाको प्राप्त होकर एकतत्त्वके अधीन हो जाता है। इस विज्ञानको और भी स्पष्टरूपसे समझानेके लिये विचार करने योग्य है कि जीव विषयमें किस प्रकारसे फँसता है। उदाहरणरूपसे विचारणीय है कि एक पुरुष यदि किसी स्त्रीरूपी विषयमें बद्ध होगा तो उसका अन्तःकरण रूपतन्मात्राकी सहायतासे दर्शनेन्द्रियके अन्तर्गत होकर स्त्रीरूपी विषयमें तदाकारिताको प्राप्त करेगा। उस समय स्त्रीरूपी विषय चक्षुगोलककी सहायतासे रूपतन्मात्राके द्वारा अन्तःकरणको निज भावमें आकारित कर लेगा। विषयोंके विषयवत् होनेकी यही साधारण शैली है, परन्तु यदि

योगयुक्त योगी गुरुकृपासे इस विज्ञानके रहस्यको समझकर अपने अन्तःकरणको विषयतक पहुँचने न दे और केवल इन्द्रियोंकी शुद्ध विषयवती प्रवृत्तिमें ही अपने अन्तःकरणको ठहरा कर विषयदर्शनसे अन्तःकरणको शून्य रक्खें तो अपने आप ही उस योगीका अन्तः-करण अन्तर्मुख होकर आत्माकी ओर एकतानताको प्राप्त करता हुआ एकतत्त्वका अधिकारी हो जायगा ॥ ३५ ॥

चतुर्थ साधन यह है—

अथवा शोकरहित प्रकाशमें युक्त होनेसे भी एकतत्त्व-प्राप्ति होती है ॥ ३६ ॥

एकतत्त्व प्राप्त करनेका अब चतुर्थ उपाय वर्णन किया जाता है। अन्तःकरण जब ज्ञानरूप शुद्ध सत्त्वगुणमें ठहर जाता है अर्थात् साधकको जब गुरु-उपदेश द्वारा निश्चयात्मक ज्ञानप्रकाश-युक्त ज्योतिका दर्शन होने लगता है; जिसका रूप शास्त्रोंमें सूर्य्य, चन्द्रमा और मणिके सदृश वर्णन किया गया है, तो उस शोक रहित परमानन्दकारी ज्योतिका दर्शन करते करते उसी ज्योतिमें अन्तःकरणके लय करनेसे भी एकतत्त्व प्राप्ति हो सकती है। शास्त्रों-में इस ज्योतिका ऐसा भी वर्णन पाया जाता है कि साम्यावस्था-प्रकृतिका रूप ही ज्योतिर्मय है; वेदोक्त सिद्धगायत्री मन्त्रमें जो ध्यानका वर्णन है वह इसी ज्योतिर्मयी महाविद्यारूपिणी प्रकृतिका रूप है। वैषम्यावस्था प्रकृति उसको कहते हैं कि जब प्रकृतिमें सदा सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके तरंग उठते ही रहैं; परन्तु साम्यावस्था-प्रकृति उसका नाम है कि जब यह त्रिगुणमय तरङ्ग शुद्ध सत्त्वगुणमें लय हो जाय; अर्थात् जब कोई तरङ्ग ही न रहे और एकमात्र प्रकाशरूप सत्त्वगुण भासमान रहे; इसी अवस्थाका नाम साम्यावस्था प्रकृति है; इसी अवस्थाको विद्या अथवा शोकरहित प्रकाश अथवा ज्ञानयुक्त अवस्था कहते हैं; अन्तः-करण जितना ही इस अवस्थाकी ओर बढ़ता जाता है, उतना ही शुद्ध सत्त्वगुणका यह प्रकाश अधिक भासमान होता जाता है। इस सूत्रका यही आशय है कि जब यह ज्योतिर्दशन होने लगे तो उसमें

अन्तःकरणको एकाग्र कर देनेसे शनैः शनैः साधक एकतत्त्वको प्राप्त हो जायगा । ज्योतिर्मय ब्रह्म, महामाया आलिङ्गित सगुण ब्रह्म या परमात्माकी विद्यारूपिणी पराप्रकृतिको ही 'भर्ग' नामसे वेदोक्त गायत्री मन्त्रमें वर्णन किया गया है । ब्रह्मप्रकृति महामायाके दो भेद हैं । उनके तमोमय स्वरूपको अविद्या और उनके शुद्ध सत्त्वमय स्वरूपको विद्या कहते हैं। अविद्या अज्ञानमयी होनेके कारण उससे जगत्में नानारूप दिखाई देते हैं। परन्तु शुद्ध सत्त्व-गुणमयी विद्या ही साम्यावस्था प्रकृति होनेसे उसकी सहायतासे साधक अद्वितीय आत्मस्वरूपकी ओर अग्रसर होता है । यद्यपि उसका सूक्ष्मरूप ज्ञानमय है; परन्तु शोकरहित ज्योतिष्मती प्रकृति उसी सत्त्वगुणमयी विद्याका स्थूलरूप है । योगीका अन्तःकरण जब साधन द्वारा तम और रज गुणोंसे रहित होकर सत्त्वगुणमें ठहरने लगता है तो उसमें इस ज्योतिष्मतीका प्रकाश होने लगता है। पहिली दशामें योगीके अन्तःकरणमें वह प्रकाश कभी कभी एकाएक प्रकट हुआ करता है । शनैः शनैः योगी अपने अभ्यास द्वारा उस शोकरहित प्रकाशको अपने अन्तःकरणमें जितना जितना अधिक ठहरानेका प्रयत्न करता है, उतना ही वह ज्योतिर्मय बिन्दुरूपमें अधिकतर स्थायी होने लगता है। इस प्रकारसे उस प्रकाशकी सहायतासे अन्तमें योगी समाधिप्राप्तिके कारणरूप एकतत्त्वके प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है ॥ ३६ ॥

पञ्चम साधन यह है—

अथवा वीतराग चित्तोंका अवलम्बन होनेसे भी एक-तत्त्वप्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

अब इस सूत्र द्वारा एकतत्त्व प्राप्तिका पञ्चम उपाय वर्णन कर रहे हैं । वासनासे रज और तमगुण की उत्पत्ति होती है; जहां राग नहीं अर्थात् वैराग्ययुक्त अन्तःकरणमें केवल सत्त्वगुण ही बढ़ता जायगा । इस पवित्र भारतभूमिमें वीतराग पुरुषोंका अभाव त्रिकाल-में नहीं है; पूर्व्वकालमें तो अनन्त उदाहरण मिलते हैं यथा—सनक, सनन्दन आदि देवर्षि, श्रीभगवान् वेदव्यास, शुक आदि ब्रह्मर्षि

वीतरागविषयं वा चित्तं ॥ ३७ ॥

और जनक आदि राजर्षि; जो भविष्यत्‌के मुमुक्षुगणके अर्थ अपना सुन्दर चरित्र दृष्टान्तस्वरूप कर गये हैं। उन महात्मागणके विषय-राग-रहित अन्तःकरणपर अन्तःकरणको स्थापन करनेसे अन्तःकरण क्रमशः विषय-वैराग्ययुक्त होकर अन्तमें एकाग्रताको प्राप्त करता हुआ एकतत्त्व प्राप्त कर लेता है। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि साधक यदि क्रमशः विषय-रागरहित अवस्थाको प्राप्त करके पूर्ण वैराग्यकी भूमिपर पहुँच जाय तौभी योगी एकतत्त्वकी प्राप्ति करनेमें समर्थ हो जाता है। मनुष्यका अन्तःकरण, वृत्ति और इन्द्रियोंकी सहायतासे विषयके रूपको धारण करता हुआ उसमें फँस जाता है। यही समाधिमें विघ्न डालनेवाली अवस्था है। वैराग्यकी पूर्णावस्थामें विषयका स्वरूप योगीके अन्तःकरणको फँसा नहीं सकता। उस विषयराग-रहित अवस्थामें योगीके विषयकी ओरसे एक वार ही मुँह फेर लेनेसे उसके अन्तःकरणकी गति स्वाभाविकरूपसे आत्माकी ओर प्रवाहित होने लगती है। अन्तःकरणकी गतियाँ दो हैं। एक वृत्तियोंके द्वारा विषयकी ओर और दूसरी वृत्तियोंको छोड़कर आत्माकी ओर। अतः जब वैराग्यप्राप्ति द्वारा विषयवती गति नष्ट हो जाती है तो अपने आप ही उसको आत्माकी ओरकी गति प्राप्त हो जाती है। तब वह योगी एकतत्त्व प्राप्तिका अधिकारी बन जाता है। तात्पर्य यह है कि चाहे योगी प्रसिद्ध प्रसिद्ध वीतराग महात्माओंके अन्तःकरणपर संयम करके अपने अन्तःकरणको विषयवैराग्यकी उच्च कक्षामें पहुँचा देवे अथवा वैराग्याभ्यासकी शैली द्वारा स्वयं वीतराग बन जावे, दोनों अवस्थामें ही एकतत्त्व प्राप्तिका अधिकारी बन जायगा इसमें सन्देह नहीं ॥ ३७ ॥

षष्ठ साधन यह है—

अथवा स्वप्न-निद्राके बीचके ज्ञानमें अन्तःकरण को लय करनेसे एकतत्त्वप्राप्ति होती है ॥ ३८ ॥

अब इस सूत्र द्वारा एकतत्त्व प्राप्त करनेका छठा उपाय वर्णन किया जाता है। स्वप्न अवस्था उसे कहते हैं कि जिस अवस्थामें अन्तः-

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

करण तमोगुणके आश्रित होकर बहिर्ज्ञानरहित होजाय; परन्तु कुछ काम करता रहे; किन्तु निद्रावस्थामें कुछ भी काम अन्तःकरण नहीं किया करता है; इन दोनोंका विस्तारित विवरण पूर्व्व सूत्रोंमें आचुका है। जाग्रद्दशामें मनुष्य इन्द्रियोंकी सहायतासे विषयोंको अवलम्बन करके रहता है और स्वप्न दशामें पहुँचते ही उसके अन्तःकरणके स्थूल विषय लय हो जाते हैं, परन्तु तब उसके अन्तःकरणमें मनःकल्पित विषय बने रहते हैं और निद्रित अर्थात् सुषुप्ति अवस्थामें दोनों बातें लय हो जाती हैं। इस कारण स्वभावतः जाग्रत् और स्वप्नकी सन्धिमें तथा स्वप्न और सुषुप्तिकी सन्धिमें योगीको विषयरहित आत्मोन्मुख अन्तःकरणकी गति प्राप्त करनेका स्वतः ही अवसर मिल सकता है। जाग्रत्‌से स्वप्न अवस्थाको ग्रहण करनेके समय और स्वप्न अवस्थासे निद्रा अवस्थामें जानेके समय जो दो मध्य अवस्थाएं हुआ करती हैं जिनमें अन्तःकरण शून्य हो ठहरा रहता है, जिसका अनुभव करानेके अर्थ ऐसा भी कह सकते हैं कि स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाके बीचमें जो तन्द्रा अवस्था होती है, उसी प्रकारकी अवस्थामें तथा स्वप्न और सुषुप्तिके बीचकी सन्धि दशामें सचेत रहकर अन्तःकरणको उसी ज्ञानयुक्त शून्य अवस्थामें लय करनेसे एकतत्त्व प्राप्ति होसकती है। इस सूत्रका यही तात्पर्य है कि इसी प्रकारकी बाह्यज्ञानशून्य किंतु अन्तर्ज्ञानसहित स्वप्नमें-की अथवा निद्रामेंकी शून्य-अवस्थामें अन्तःकरणको लय करनेसे अन्तःकरण शनैः शनैः एकतत्त्व पदको प्राप्त कर सकता है ॥३८॥

सप्तम साधन यह है—

इच्छाके अनुकूल किसी एक रूपमें अन्तःकरणको लगाने से एकतत्त्वप्राप्ति होसकती है ॥ ३९ ॥

इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार एकतत्त्व प्राप्त करनेका सातवाँ उपाय वर्णन कर रहे हैं। पूर्व्व सूत्रोंमें एकतत्त्व प्राप्त करनेके नाना प्रकारके साधनोंका वर्णन करके अब एक साधारण साधनका वर्णन कर रहे हैं कि जिसके द्वारा एकतत्त्व प्राप्त करनेकी युक्ति सार्व्वभौमरूपसे घट जाय। सब जीवोंकी प्रकृति स्वतंत्र स्वतंत्र है; इस कारण एक

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

प्रकारका साधन सब जीवोंका कल्याणकारी नहीं होसकता; इसी कारण महर्षि सूत्रकारने विचार द्वारा यह सातवें प्रकारकी साधन-मर्यादा वर्णित की है। जिस२ साधककी जैसी२ रुचि होगी और जैसी२ प्रकृति होगी उसीके अनुसार श्रीगुरुदेव जिस२ को जिस२ प्रकारका उपदेश देना आवश्यक समझेंगे इन सातों उपायोंमेंसे किसी न किसीसे उनका (साधकोंका) अवश्य कल्याण होगा। इस सूत्रका यह तात्पर्य है कि मन जब स्वतः ही प्रकृतिके गुणके अनुसार किसी न किसी विषयमें लगता ही रहता है, तो अन्तःकरण अपने स्वाभाविक गुणके अनुसार जिस पदार्थमें लगे वहीं उसको रोक दिया जाय अर्थात् स्वभावसे ही जिस रूपका वह अनुमोदन करे उसी रूपके ध्यान करनेमें उसको लगा दिया जाय तो वह उसमें सहज रीतिसे ठहर जायगा; और इस प्रकार उसीका ध्यान करता हुआ एकतत्त्वको प्राप्त होजायगा। यह पूर्व्व ही कह चुके हैं कि अन्तःकरणके एकाग्र होनेसे प्रज्ञारूपी पूर्णज्ञानका उदय होकर अन्तःकरण योगयुक्त होजाता है; तो इस रीतिके अभिमत ध्यान द्वारा भी साधक योगप्राप्ति द्वारा एकतत्त्व प्राप्त कर मुक्त हो सकता है। मनुष्यकी इस प्रकृति और प्रवृत्तिविचित्रताके कारण ही सनातनधर्म्ममें पञ्च उपासना और उसके साथ ही साथ प्रत्येक देवताके अनेक रूप वर्णन किये गये हैं; अर्थात् साधकको जैसी रुचि होगी वैसी ही रुचिके अनुसार ध्यान द्वारा वह अपना कल्याण साधन कर सकेगा। अभिमत ध्यानसे यह तात्पर्य नहीं है कि मनुष्य अपनी विषय-सम्भोगप्रवृत्तिके अनुसार किसी स्त्री आदि विषयके ध्यान करनेसे भी एकतत्त्व प्राप्तिकर सकेगा। मनुष्य विषयभोगबुद्धिसे यदि किसी विषयके ध्यानको अन्तःकरणमें लावेगा तो स्वतः ही उसका अन्तःकरण विषयभोगजनित नाना चाञ्चल्यको प्राप्त हो जायगा। क्योंकि विषयभोगसङ्कल्पसे चाञ्चल्य और विषयत्याग सङ्कल्पसे धैर्यकी प्राप्ति होती है। इस कारण भोग-उत्पन्नकारी किसी भी विषयके ध्यानसे एकतत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती; इसको सदा स्मरण रखने योग्य है। अस्तु, विषयभोगकी इच्छा उत्पन्न करनेमें सहायक कोई भी विषय इस साधनका उपयोगी नहीं है। केवल शास्त्रीय रूपसमूह और अन्तःकरणकी शुद्धरति उत्पन्न करनेवाले

विषयसमूहसे ही महर्षि सूत्रकारका तात्पर्य है। किसी शुद्ध विषय या शास्त्रीय रूपादि जिसमें साधककी स्वतः ही प्रबल इच्छा उत्पन्न हो उसमें ध्यानाभ्यास करनेसे प्रथमतः जगत्के विषय छूट जाँयगे। उसके अनन्तर प्रत्याहार वृत्ति उत्पन्न होगी। उसके अनन्तर उस ध्येयरूपी विषयमें मनकी दृढ़ रति उत्पन्न होगी। तत्पश्चात् अन्तःकरणमेंसे ध्यान करनेकी वृत्ति लय होजायगी। इस प्रकारसे क्रमशः साधकका अन्त करण शान्त होकर एकतत्त्व प्राप्त करनेमें समर्थ होजायगा ॥ ३९ ॥

अब एकतत्त्वप्राप्तिनिमित्त साधनोंका दूसरा फल बताया जाता है—

परमाणुसे लेकर महास्थूल पदार्थों तक अन्तःकरणके ठहरानेकी शक्ति हो जाती है ॥ ४० ॥

पूर्व्व सूत्रोंमें सात प्रकारके साधनोंके उपाय वर्णन करके अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार उन साधनोंका दूसरा फल वर्णन कर रहे हैं। एकतत्त्वके साधन द्वारा योगी योगके सब विघ्नोंको दूर करके समाधि भूमिमें पहुँच जाया करता है। यह एकतत्त्वप्राप्तिका प्रथम फल है। इस सूत्रका वर्णन द्वितीय फलविषयक है। सृष्टिमें दो प्रकारके पदार्थ हैं। एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म; जैसे अन्तःकरण स्थूल पदार्थोंके अवलम्बनसे चंचल होता है वैसे ही सूक्ष्म पदार्थोंके अवलम्बनसे भी चंचल हो सकता है; यदिच साधक पूर्व्वकथित साधन स्थूल-पदार्थ अर्थात् दृश्यमान वस्तुसे लेकर सूक्ष्म पदार्थ अर्थात् तन्मात्रा और परमाणु तकके अवलम्बनसे कर सकता है; तथापि जबतक अन्तःकरणकी वृत्तियाँ एक साथही निरुद्ध न होजायँ तबतक स्थूलसे लेकर सूक्ष्म पदार्थोंतकमें उसके पुनः फँस जानेकी सम्भावना है। इस कारण साधन करते समय अन्तःकरण चाहे किसी एक पदार्थके अवलम्बनसे एकाग्रता प्राप्तिकी चेष्टा करे, परन्तु अपने लक्ष्यको तब ही पहुँच सकता है जब वह इन दोनों अवस्थाओंसे अतीत होजाय; अर्थात् एकाग्रता वृत्तिके

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

साधनसे जब उसमें पूर्ण एकाग्रताका उदय होता है तबही स्थूलसे लेकर सूक्ष्म पदार्थ तकसे वह स्वतंत्र होकर एकतत्त्व प्राप्ति द्वारा समाधि भूमिमें पहुँचकर परमात्माका साक्षात्कार कर सकता है। इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि एकतत्त्व प्राप्ति कर लेनेपर योगीको वह उन्नत अवस्था प्राप्त होती है कि सूक्ष्मतम वस्तुसे लेकर स्थूलतम वस्तु पर्यन्त सर्वत्र जब चाहे तब योगी अपने अन्तःकरणको वशीकारयोग द्वारा ठहरा सकता है। एकतत्त्व प्राप्ति योगके बड़े बड़े अधिकारोंमेंसे एक बड़ा अधिकार है। इसका एक बड़ा फल जो योगके सब विघ्नोंका नाश करता है उसका वर्णन तो पहले सूत्रोंमें करही चुके हैं। अब इस सूत्र द्वारा उससे भी एक उन्नततर फल कहा गया है। योगीको एकतत्त्वकी साधनावस्थामेंही अपने योगविघ्नोंके दूर करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है, तत्पश्चात् एकतत्त्व साधनमें सिद्धिलाभ करनेपर योगीके अन्तःकरणका बल इतना बढ़ जाता है कि वह अपने अन्तःकरणकी वृत्तिसम्बन्धीय चञ्चलताको जब चाहे तब रोक कर प्रकृतिके स्थूलराज्य या सूक्ष्मराज्यमेंसे जहाँ चाहे वहाँ ठहरा दे सकता है। इस कारण वह अनेक आध्यात्मिक शक्तियोंको प्राप्त करके तब समाधि भूमिमें विचरण करनेके योग्य बन जाता है जिन भूमियोंका वर्णन आगेके सूत्रोंमें आवेगा ॥ ४० ॥

इस प्रकार स्थितिप्राप्त चित्तमें सम्प्रज्ञात समाधिका कैसे उदय होता है सो बताया जाता है:—

जब अन्तःकरणकी वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं तब उस अन्तःकरणकी अवस्था अभिजात अर्थात् स्वभावनिर्मल स्फटिकमणिके समान होती है, अर्थात् जैसे स्फटिकमणि स्वयं स्वच्छ है परन्तु वह समीपस्थ पदार्थके रंग को धारण कर लेती है, ऐसे ही योगीका अन्तःकरण स्वयं स्वच्छ होता है, परन्तु ग्रहीतारूप आत्मा, ग्रहणरूप इन्द्रिय और ग्राह्यरूप विषयके सहयोगसे वह

तदाकार भाव को प्राप्त हो जाता
है । इस ही अवस्थाका नाम
समापत्ति है ॥ ४१ ॥

वृत्तिके क्षीण होनेपर अर्थात् जब एकतत्त्व साधनसे अन्तःकरण शुद्ध होकर चञ्चलतासे रहित हो जाता है, उस समय उस अन्तःकरणकी दशा शुद्ध स्फटिकमणिके तुल्य हो जाती है; अर्थात् स्फटिकमणि यथार्थमें स्वच्छ है परन्तु उसके सम्मुख कोई और रंगका पदार्थ रखनेसे वह तद्रूप ही हो जाती है। अर्थात् यदि साधकका अन्तःकरण किसी स्थूलभूतमें एकाग्रता स्थापन करे अथवा किसी सूक्ष्म-भूतमें एकाग्रता स्थापन करे, इस एकाग्रता साधनके अन्तमें वह समापत्ति अवस्थाको प्राप्त करके अपनी ध्येय वस्तु (जो स्थूल हो अथवा सूक्ष्म हो) अर्थात् उस लक्ष्य वस्तुके रूपको प्राप्त कर लेगा; अर्थात् उस अन्तःकरणमें एकमात्र तदाकार भानके अतिरिक्त और कोई दूसरा भान नहीं रहेगा। यही तदाकार वृत्तिरूप समापत्ति अर्थात् सविकल्प समाधिकी अवस्था ही एकतत्त्वरूप योग-साधनका उन्नततर तृतीय फल है; और इस अवस्थासेही क्रमशः प्रज्ञा लाभ करके सविकल्प-समाधि द्वारा निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करता हुआ साधक मुक्तिपदको लाभ कर सकता है। इस अवस्थाके समझानेके लिये साधारणतः जीवमें जो एकतत्त्वकी प्राप्तिसे स्वभावतः समापत्तिकी उत्पत्ति होती है उसको भलीभाँति समझा देनेकी आवश्यकता है; क्योंकि विना उसके समझे योगी, जीवकी साधारण दशा और योगीकी विशेष दशाको समझकर अपनी क्रमोन्नतिको स्थायी नहीं रख सकता है। एकाग्रता प्राप्त होते ही क्रमशः एकतत्त्वकी प्राप्ति जीवको होती है और एकतत्त्व प्राप्ति होतेही जीव स्वतःही समाधिभूमिमें पहुँच जाया करता है। अवश्य जीवकी यह समाधि दशा सविकल्प दशा है, इसमें सन्देह नहीं। जीव जब पुष्पादि रमणीय पदार्थका दर्शन करते हुए, रागादि मनोहर विषयोंका श्रवण करते हुए, स्त्री आदि

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

सङ्गजनित स्पृश्य विषयोंको अनुभव करते हुए, मिष्टान्नादि रसनेन्द्रियके तृप्तिकर पदार्थोंका सेवन करते हुए अथवा सुगन्धमय पुष्प आदिका आघ्राण करते हुए आनन्द प्राप्त करता है उस समय उसका अन्तःकरण स्वभावसे तत्तद्वैषयिक एकाग्रताको प्राप्त करके सविकल्प समाधिको प्राप्त कर लेता है। यद्यपि अविद्यान्धकार-ग्रस्त जीव यह नहीं समझ सकता कि वह तब सविकल्प समाधिमें स्थित है परन्तु यह निश्चय है कि उसके चित्तमें ऐसे आनन्दके उदयका कारण उसके अन्तःकरणकी स्वाभाविकरूपसे समाधि प्राप्ति ही है और उसके अन्तःकरणमें जो आनन्दका उदय होता है वह परमात्माका ब्रह्मानन्द ही है। विषयाकारवृत्तिसे अपने आपही एक क्षणभरके लिये उस विषयभोगपरायण जीवका अन्तःकरण योगिजनोंके लिये दुर्लभ एकतत्त्वको प्राप्त कर लेता है। एकतत्त्वप्राप्ति-के द्वारा उसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ उस एक क्षणके लिये क्षीण हो जाती हैं और तब सर्वव्यापक, निर्मल, शान्त, स्वच्छ आत्मा स्फटिकमणिके तुल्य विषयीके अन्तःकरणमें प्रतिफलित हो जाता है और तब स्वतःही आत्माका ब्रह्मानन्द विषयानन्दरूपसे जीवको सुख देने लगता है। इस विज्ञानके द्वारा यह स्पष्ट हुआ कि जीवको स्वतःही किस प्रकार विषयाकार वृत्तिमें भी एकतत्त्वकी प्राप्ति द्वारा सविकल्प समाधिकी प्राप्ति हुआ करती है। इस विज्ञानको यदि गुरुभक्तिपरायण योगी समझ जाय और पूर्वोल्लिखित साधनोंमें-से किसी एक या ततोधिक योगक्रियाका अभ्यास करता हुआ ज्ञान-पूर्वक एकतत्त्वकी भूमिसे सविकल्प समाधिकी भूमिमें पहुँच जाय तो वह अपनी योगसाधनकी क्रमोन्नतिको स्थायी रखकर क्रमशः समाधिकी उत्तरोत्तर भूमिमें अग्रसर हो सकेगा। एकतत्त्वके साधन-में सिद्धिलाभ करके जब आत्मा अनात्माका विचार रखता हुआ योगी समाधिभूमिमें पहुंचता है तो उस समय उसको इस उन्नत अधिकाररूपी सविकल्प समाधिकी समापत्ति दशा किस प्रकार और किस रूपसे प्राप्त होती है सो इस सूत्रमें कहा गया है और इसलिये कहा गया है कि योगी अपनी स्थितिको समझ कर अपनी क्रमोन्नतिको स्थायी रख सके। यदि साधारण विषयभोगियोंके तौर पर वह योगी इस समापत्तिरूपी उन्नत दशाको प्राप्त करके

असावधान रहेगा तो समाधिभूमिमें उसकी उत्तरोत्तर उन्नति नहीं होगी । इस कारण इस सूत्रमें समापत्तिका स्वरूप कहकर आगे इसके भेद कहे जाते हैं ॥ ४१ ॥

क्रमप्राप्त समापत्तिके भेदोंका वर्णन किया जाता है:—

शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्प द्वारा मिश्रिता समापत्ति सवितर्क होती है ॥ ४२ ॥

अब पूर्व्वकथित समापत्ति-अवस्थाकी प्रथमदशाका वर्णन कर रहे हैं। पहली दशा वह कहाती है कि जब समापत्ति-उत्पन्नकारी अवलम्बनकी शब्दमय संज्ञा, उसका अर्थ और उसके ज्ञानका विकल्प अन्तःकरणमें वर्त्तमान रहे। इस विज्ञानको उदाहरणके द्वारा समझानेके लिये दोनों ओरसे समझाना उचित होगा। प्रथम बहिर्विषयकी ओरसे और दूसरा अन्तर्विषयकी ओरसे। बहिर्विषयकी ओरसे समझानेके लिये कमलके पुष्पका उदाहरण दिया जाता है। कमलका पुष्प यह शब्द कहते ही कमलका पुष्प यह शब्द अन्तःकरणमें पहुँचा, उससे अन्तःकरणमें इसके अर्थका बोध हुआ और साथही साथ कमलके पुष्पका ज्ञान भी उदित हुआ। इन तीनोंके अन्तःकरणमें उदित होनेपर भी विकल्पकी सहायतासे इन तीनोंका स्वरूप अन्तःकरणमें अलग अलग प्रकट रहा। इन तीनोंके अलग अलग प्रकट रहते हुए यद्यपि अन्तःकरण एकतत्त्वकी ओर अग्रसर होता है परन्तु उसमें अन्तःकरणकी समापत्ति दशा पूर्णताको प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार जब अन्तःकरणके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवलम्बनका वर्णन किया जाय तो यही उदाहरण दे सकते हैं कि जब सच्चिदानन्दमय ब्रह्म ऐसा कहा जाय तो उस समय सच्चिदानन्दमय ब्रह्म यह शब्द, इसका अर्थ और इसका ज्ञान, तीनोंके ही एक साथ अन्तःकरणमें उदय होने पर जब तक विकल्पकी सहायतासे तीनोंका भेद रहेगा तब तक समापत्ति दशा सवितर्क कहावेगी। इस दशामें न समापत्तिकी पूर्णता हो सकेगी और न अन्तःकरणकी वृत्तियां अपने स्वरूपसे शून्य होकर अन्तःकरणकी भूमिको एकबार ही निर्मल और शान्त कर सकेंगी।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥४२।

सिद्धान्त यह है कि अन्तःकरणकी इस दशामें यद्यपि अन्तःकरण-वृत्तियां लयकी ओर चल देती हैं और एकतत्त्वका उदय होने लगता है, परन्तु यह दशा समाधिभूमिमें चलनेका मार्ग ही है। इससे उन्नत दूसरी अवस्थाका वर्णन आगेके सूत्रमें किया जायगा ॥ ४२ ॥

निर्वितर्कके समापत्तिका वर्णन किया जाता है—

शब्दार्थज्ञानमूलक स्मृतिके शुद्ध होजाने पर जिसमें स्वरूपरहितके समान भान होता है इस प्रकार ध्येयाकारभावयुक्त समापत्ति निर्वितर्क समापत्ति कहाती है ॥ ४३ ॥

निर्वितर्क समापत्तिकी अवस्थामें शब्दसंकेत, शब्दार्थका अनुमान और ज्ञानरूपी विकल्पयुक्त स्मृति आदिका कुछ भी भान नहीं रहता; अर्थात् केवल ग्राह्य पदार्थके रूपमें पदार्थवत् प्रतीत होनेवाली बुद्धि ही रह जाती है; और पूर्व्व सूत्रकथित सवितर्क अवस्थाकी शब्द, अर्थ और ज्ञानरूपी तीन अवस्थाओंमें साधनके द्वारा लय होकर एक लक्ष्यरूप अवस्थाको धारण कर लेती है उसही एकाकार अवस्थाका नाम निर्वितर्क समापत्ति है। यह पहले ही कह चुके हैं कि स्थूल-वस्तु अथवा सूक्ष्म-वस्तुमेंसे किसी न किसीकी सहायतासे समापत्ति लाभ होती है; उस समापत्तिकी पूर्व्वावस्था जो निकृष्ट है उसका नाम सवितर्क समापत्ति है; और एकाग्रता दृढ़ होनेसे जब समापत्ति पूर्णावस्थाको प्राप्त हो जाती है तबही उस उत्कृष्ट समापत्तिका नाम निर्वितर्क समापत्ति होगा। पूर्वसूत्रमें कहे हुए सवितर्क समापत्तिमें शब्द जो सुना गया या पढ़ा गया, उस शब्दका अर्थ और उस शब्दके विचाररूपी ज्ञान, इनकी स्मृतिके द्वारा विकल्पदशामें कुछ न कुछ अलग अलग वृत्तिको धारण किये हुए अन्तःकरणमें बने रहनेसे समापत्तिकी पूर्णता नहीं हो सकती। परन्तु इस समापत्तिकी सर्वोत्तम दशामें चित्तकी एकाग्रता ध्येयवस्तुमें बढ़ जानेसे शब्द, शब्दका अर्थ और शब्दका

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

ज्ञान ये सब स्मृतिके द्वारा अलग अलग नहीं बने रहते। एककी स्मृति दूसरेमें और दूसरेकी स्मृति तीसरेमें लय हो जाती है। तब इस दशामें शब्द और शब्दके अर्थ द्वारा ध्येयका जो ज्ञान उत्पन्न हुआ था उसी ध्येयके स्वरूपमें चित्तवृत्ति निर्म्मल और एकाग्र हो कर ठहर जाती है। उस समय चाहे वह ध्येय सूक्ष्म हो या स्थूल, उस ध्येयके सिवाय योगीको और कुछ भी बोध नहीं रहता। विषय चाहे स्थूल हो चाहे सूक्ष्म, चाहे दृश्यमान पंचभूत हो चाहे अदृश्यमान तन्मात्रा हो और चाहे सूक्ष्मभाव हो इन्हींकी सहायतासे निर्वितर्क समापत्ति होती है: यदिच समापत्तिकी इस पूर्णावस्थामें एकमात्र ज्ञानरूपी लयके अतिरिक्त और कुछ भी भान नहीं रहता, तथापि पाञ्चभौतिक विषय तो विषय ही है, प्राकृतिक अवलम्बन जहां है वहां वह अवलम्बन अनित्य ही रहेगा; इस कारण एकाग्रताकी चरमसीमारूप निर्वितर्क समापत्तिकी अवस्थामें पहुंचकर भी प्रकृतिका सम्बन्ध रहता है; इससे परेकी अवस्थामें साधक समाधि-लाभ द्वारा प्रकृतिका संग छोड़ परमात्मारूपी पुरुषका संग करता हुआ उनके ही रूपको प्राप्त कर मुक्त हो सकता है ॥ ४३ ॥

अब सूक्ष्मविषयके अवलम्बनसे क्रमप्राप्त द्विविध समापत्तियोंका वर्णन किया जाता है:—

ऐसी ही सविचार और निर्विचार नामक सूक्ष्म विषयवाली दो समापत्ति भी समझनी उचित है ॥४४॥

ऐसेही अर्थात् जैसे उत्कृष्ट और निकृष्ट अवस्था भेदसे एकाग्रता स्थापन करने वाली समापत्तिके दो भेद पूर्व्व सूत्रोंमें वर्णन कर आये हैं; वैसेही आत्मदर्शनरूपी समाधिकी प्रथम अवस्थाके भी सविचार और निर्विचार भेदसे दो भेद किये गये हैं। पूर्व्व कथित दो अवस्थाओंमें अवलम्बन प्रकृति ही रहती है; परन्तु इस सूत्रमें कथित उन दो अवस्थाओंमें (जो दो अवस्थाएँ पूर्व्वकथित दो अवस्थाओंसे आगेकी अवस्थाएँ हैं) अवलम्बन परमात्मा ही रहते हैं। सविचार अवस्था वह कहाती है कि जिसमें समाधि

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

द्वारा सूक्ष्म भूतके आश्रयसे देश, काल और निमित्तसे संयुक्त होकर आत्माका अनुभव मात्र किया जाय। इस दशामें भावके अवलम्बनसे योगी अग्रसर होता है और निर्विचार अवस्था वह कहाती है कि जिसमें सूक्ष्मभूत आदिका कोई सम्बन्ध न रहे परन्तु केवल परमात्माके साक्षात्-सम्बन्धसे समाधि की जाय। इस दशामें भावके द्वारा अनुभव प्राप्त होकर वह स्थिर होजाता है। इन दोनों अवस्थाओंमें ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भेदसे आत्मसाक्षात्कार होता रहता है, परन्तु सविचाररूपी जो निकृष्ट अवस्था है उसमें तो सूक्ष्म प्रकृतिका सम्बन्ध रहनेके कारण आत्माका केवल अप्रत्यक्ष अनुभव मात्र ही होता है; और निर्विचाररूपी जो उत्कृष्ट अवस्था है उसमें प्रकृतिका भान छूट जानेके कारण ज्ञाता,ज्ञान और ज्ञेय वृत्तिके अनुसार परमात्माका साक्षात् सम्बन्ध रहता है। ये भेद सविकल्प समाधिके हैं; निर्विकल्प समाधिकी अवस्था इस अवस्थासे भी आगेके अधिकारमें हुआ करती है और तत्पश्चात् निर्विकल्प समाधिकी पूर्णावस्थाको प्राप्त करके साधक मुक्त हो सकता है ॥ ४४ ॥

यह सूक्ष्म विषय कहां तक है :—

सूक्ष्म विषयकी अवधि अलिंग पर्यंत है ॥४५॥

अब इस सूत्र द्वारा पूर्व सूत्रमें कहे हुए विज्ञानोंको तथा अन्तःकरणकी सूक्ष्म अवस्थाओंको और भी स्पष्टरूपसे प्रकाशित करनेका प्रयत्न किया गया है। पृथिवीके अणुका सूक्ष्म विषय गन्ध है; उसी प्रकार जलके परमाणुका रस, अग्निके परमाणुका रूप, वायुके परमाणुका स्पर्श और आकाशके परमाणुका शब्द सूक्ष्म विषय है। वे विषय तन्मात्रा कहाते हैं, अहङ्कारव्याप्त अन्तःकरणमें इन तन्मात्राओंके लिङ्ग अर्थात् चिन्ह सूक्ष्म रूपमें रहते हैं, जब अहंकारसहित इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयोंके आगे और कुछ भी नहीं है तो यही अलिङ्ग कहाते हैं। इस अवस्थाको और रीतिसे भी इस प्रकार समझ सकते हैं कि गुणके हेर फेरसे तथा स्थूल सूक्ष्मके विचार से लिङ्गके चार भेद हैं; यथा—विशिष्टलिङ्ग, अविशिष्टलिङ्ग, लिङ्ग

सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

और अलिङ्ग। स्थूल-भूत और इन्द्रियाँ विशिष्टलिङ्ग हैं, सूक्ष्म-भूत और तन्मात्राएँ अविशिष्ट लिङ्ग हैं, बुद्धिरूपेण शुद्ध अन्तःकरण लिङ्ग है और अन्तःकरणसे अतीत प्रधान ही अलिङ्ग कहाता है। इस अलिङ्ग अवस्थासे अधिक और कोई सूक्ष्म विषय नहीं हो सकता। यदि ऐसा प्रश्न हो कि पुरुष इनसे परे हैं इस कारण वह इनसे भी सूक्ष्म हुए? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि जैसे लिङ्ग अवस्थासे परे अलिङ्गका सूक्ष्म भान है, वैसा पुरुषमें नहीं हो सकता। जैसे अलिङ्ग अवस्था लिङ्ग-अवस्थाका समवायि कारण है, वैसा सम्बन्ध अलिङ्ग अवस्थाका पुरुषसे नहीं है। पुरुष प्रकृतिसे सम्पूर्ण स्वतन्त्र हैं, किन्तु प्रधान तक प्रकृतिका राज्य है, इस कारण पुरुष अलिङ्गके सूक्ष्म कारण नहीं हो सकते। इस सूत्र का यही तात्पर्य है कि स्थूल जगत्से लेकर अलिङ्ग अर्थात् प्रधान तक विषय रहते हैं; परन्तु इस शेष अवस्थारूपी अलिङ्गमें विषय सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाते हैं, इससे आगे और सूक्ष्म होनेकी सम्भावना नहीं है। निर्विकल्प समाधिमें प्रकृतिका सम्बन्ध ही नहीं रहता वह अवस्था इस अवस्थासे परे है॥ ४५॥

इन सबकी कोटि कहां तक है:—

वे ही सबीज समाधि हैं॥ ४६॥

पूर्व्व सूत्रमें कही हुई चार प्रकारकी अवस्थाएँ; अर्थात् सवितर्क-समापत्ति, निर्वितर्क-समापत्ति, सविचार-समापत्ति और निर्विचार समापत्तिकी अवस्थाएँ सबीज समाधि कहाती हैं। इन चारों अवस्थाओंमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूपेण अवलम्बन रहता है। जब अवलम्बन है तो बीज रहा, इसही कारण ये अवस्थाएँ सबीज हैं। प्रकृतिके परिणामिनी होनेसे दृश्यरूपी जगत्की सृष्टि होती है। यह दृश्य प्रपञ्चरूप जगत प्रकृतिका ही कार्य है पुरुष निष्क्रिय निःसङ्ग, शुद्ध और मुक्त स्वभाव हैं। प्रकृतिके परिणामसे वृत्ति-सारूप्यको प्राप्त करके पुरुष बद्ध होता है। प्रकृतिमें परिणामरूपी वृत्तितरङ्ग उठते रहनेसे पुरुषमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ जानेसे पुरुष बद्धकी नाईं प्रतीत होता है। स्वच्छ मणिके सम्मुख कोई

ता एव सबीजः समाधिः॥ ४६॥

रङ्गका वस्त्र रखनेसे वह मणि उसी रङ्गकी प्रतीत होने लगती है। पुरुषके बन्धनका यह स्पष्ट उदाहरण है। परन्तु अष्टाङ्गयोगसाधन द्वारा अथवा अन्यान्य उपायोंसे एकतत्त्वके पूर्ण अभ्यास द्वारा योगी जब अपने अन्तःकरणको पूर्णरूपसे वृत्तियोंसे रहित करता हुआ सवितर्क अवस्थासे निर्वितर्क अवस्थामें, निर्वितर्क अवस्थासे सविचार अवस्थामें और सविचार अवस्थासे निर्विचार अवस्थामें पहुँच जाता है तो उस समय उसका अन्तःकरण क्रमशः स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर अग्रसर होता हुआ शुद्ध और वृत्तिरहित हो निर्मल हो जाता है। इसी क्रमके अनुसार उसका अन्तःकरण क्रमशः विशेष अवस्थासे अविशेष अवस्थामें, अविशेष अवस्थासे लिङ्ग अवस्थामें और लिङ्ग अवस्थासे अलिङ्ग अवस्थामें पहुँचता हुआ तरङ्गरहित तडागकी तरह निर्मल और शुद्ध हो जाता है। तब द्रष्टा पुरुषका यथार्थ स्वरूप जो वृत्तिरूपी तरङ्गोंसे छिपा हुआ था सो स्वतः ही प्रकाशित हो जाता है तभी निर्बीज समाधिभूमि प्राप्त होती है और योगी मुक्ति भूमिमें पहुँच जाता है। पूर्वकथित सब अवस्थाओंको एकतत्त्व अभ्यासकारी योगी अपने योगाभ्यासके क्रमके अनुसार क्रमशः प्राप्त करता हुआ अन्तमें इस उन्नत भूमिमें पहुँचकर परमात्मा परमपुरुषकी जिन जिन अलौकिक शक्तियोंको प्राप्त करता है उसका वर्णन आगे किया जायगा ॥४६॥

अब निर्विचार समापत्तिका फल बताया जाता है—

निर्विचार समापत्तिकी निर्मल अवस्थामें अध्यात्म-प्रसाद-का उदय होता है ॥ ४७ ॥

पूर्व प्रमाणोंसे यह सिद्ध ही हो चुका है कि सवितर्क-समापत्ति से निर्वितर्क-समापत्ति, निर्वितर्क-समापत्तिसे सविचार-समापत्ति और सविचार-समापत्तिसे निर्विचार-समापत्ति क्रमशः उन्नत हैं। इस शेष अवस्थामें अर्थात् निर्विचार-समाधिमें प्रकृतिके सम्पूर्णरूपेण शुद्ध हो जानेसे, रज और तमगुणका लय हो जाता है; और तब सत्त्वगुणका पूर्ण प्रकाश होनेसे अन्तःकरण-में अध्यात्म-प्रसादका उदय होता है। परम पुरुष ब्रह्म सत्, चित्

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

और आनन्दमय हैं। उनमें एक अद्वैत भावमें ये सत् चित् आनन्द-रूपी तीनों भाव विद्यमान हैं। उन्हींकी सत्तासे सत्तावती होकर जब प्रकृति परिणामिनी हो जगत् प्रसव करती है, तो उनका ब्रह्मानन्द सत् और चित्‌रूपी जड़ और चेतनके आश्रयसे अविद्यामय दृश्य और द्रष्टाके अभिनिवेशके रूपमें विषयानन्दमें परिणत होकर जीवको मुग्ध करता है। जीवकी बन्धन दशाका यही सूक्ष्म रहस्य है। जीव इस प्रकारसे अज्ञानजनित विषयानन्दमें फँसकर आवागमनचक्रमें नित्य घूमा फिरा करता है। यद्यपि विषयानन्दमें भी ब्रह्मानन्द ही व्याप्त है परन्तु वह अज्ञानसे उत्पन्न होनेके कारण क्षणभंगुर और मिथ्या है। सविकल्प समाधिकी इस सर्वोत्तम दशामें जब योगसाधन द्वारा एकतत्त्व अभ्यासके फलकी प्राप्ति होती है, उस समय अन्तःकरण वृत्तिरहित होकर निर्मल हो जाने पर उस योगिराजके विशुद्ध और स्थिर अन्तःकरणमें अपने आपही परमानन्दप्रद ब्रह्मानन्दका आभास प्रतिफलित होता है। इसीको अध्यात्मप्रसाद कहते हैं। रज और तमगुण ही दुःखके कारण हैं, इस अवस्थामें उन दोनों गुणोंका लय हो जानेसे योगी सब दुःखोंसे रहित होकर, परमानन्दमय परमात्माके सान्निध्यसे आत्म-प्रसाद रूपी परमानन्दका भोग करने लगता है ॥ ४७ ॥

इस अवस्थामें और क्या होता है:—

उस अवस्थामें जो बुद्धि होती है उसे ऋतम्भरा कहते हैं ॥ ४८ ॥

इस पूर्व्व सूत्र कथित अवस्थामें पूर्ण सत्त्वगुणके उदय होनेसे बुद्धि भी पूर्ण सात्त्विकी हो जाती है; अन्तःकरणमें जबतक रज और तमगुणका प्रभाव रहता है तब तक चंचलता रहनेके कारण बुद्धिका पूर्णरूपेण प्रकाश नहीं हो सकता, परन्तु इस निर्विचार समाधिकी अवस्थामें रज और तमगुणके लयके साथ बुद्धिकी चंचलता भी नष्ट हो जाती है; तब उस अन्तः-करणमें विपर्य्यय आदि मिथ्याज्ञान होनेकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती; समस्त पदार्थ यथावत् प्रतीत होने लगते हैं; इस ही

ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

अवस्थाकी बुद्धिको वेदान्त आदि शास्त्रोंने प्रबोध कहा है, और योग-शास्त्रमें इसीको ऋतम्भरा कहते हैं। "ऋतं सत्यं बिभर्त्ति धारयति इति ऋतम्भरा" अर्थात् जो बुद्धि सत्यको प्रकट करे उसे ऋतम्भरा कहते हैं। निर्विचार समाधिकी पूर्णतामें योगीके अन्तःकरणमें ऐसी ही सत्यसुधाकर-किरण-जालमण्डित अमृतमयी प्रज्ञाका उदय होता है। इसी लिये इस प्रज्ञाको योगिराज पतञ्जलिजीने ऋतम्भरा कहा है ॥ ४८ ॥

अन्य प्रज्ञाओंसे ऋतम्भरा प्रज्ञाकी विशेषता क्या है:—

विलक्षण विषयज्ञापिका होनेसे यह बुद्धि श्रुत और अनुमान बुद्धिसे भिन्नरूप होती है ॥ ४९ ॥

जिस विषयका ज्ञान शब्दश्रवण द्वारा हुआ करता है वह ज्ञान सम्पूर्ण नहीं हो सकता; चाहे कितना ही शब्द द्वारा भावोंको प्रकाश किया जाय तौभी विषयकी सूक्ष्मता, विषयके भावोंका विस्तार, विषयके गुण, और विषयके क्रमका ठीक ठीक पता नहीं लग सकता। इसी प्रकार जिस विषयका ज्ञान अनुमान द्वारा होता है, वह ज्ञान भी सम्पूर्णताको प्राप्त नहीं होता; यदि च दूरवर्त्ती पर्वतमें धूमके देखनेसे अग्निका होना अनुमान सिद्ध हो जाता है' परन्तु वह अग्नि कितनी है, किस पदार्थकी अग्नि है, इत्यादि सूक्ष्म कारणोंका ज्ञान अनुमानसे नहीं हो सकता। जहाँ तक अनुमान और शब्द प्रवेश कर सकते हैं वहीं तक वे ज्ञानका भी अनुभव करा सकते हैं, परन्तु उससे आगे वे कुछ भी नहीं कर सकते; उदाहरणमें ऐसा कह सकते हैं कि जितने लौकिक प्रत्यक्ष पदार्थ हैं, अर्थात् इंद्रिय द्वारा जो ग्राह्य होते हैं उन्हींको शब्द और अनुमान प्रकाशित कर सकते हैं, परन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयोंको वे दोनों प्रकाश करनेमें असमर्थ हैं। समाधिगत बुद्धि जिसका कि वर्णन पूर्व्व सूत्रमें हुआ है वह ऐसी असम्पूर्ण नहीं है, उसमें सत्त्वगुण रूपी ज्ञानका पूर्ण प्रकाश होनेके कारण उससे कोई भी विषय छिप नहीं सकता; चाहे स्थूलसे स्थूल विषय हो, चाहे

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

सूक्ष्मसे सूक्ष्मातीत विषय हो, ऋतम्भरा-बुद्धिप्राप्त साधक समाधिस्थ होकर उन सब विषयोंको यथावत् जान सकता है; इस कारण यह प्रज्ञा सर्व प्रकारकी बुद्धिसे कुछ विलक्षण ही है। अन्तःकरणके विभागोंमेंसे बुद्धिका साथी अहङ्कार है। इसी कारण जिस अहङ्कारको लिये हुए जो मनुष्य होता है उसकी बुद्धि उसी प्रकारकी होती है और उसके सिद्धान्त भी ऐसे ही बन जाते हैं। स्त्री स्त्रीभावसे, पुरुष पुरुषभावसे, राजा राजाभावसे, प्रजा प्रजाभावसे अपने अपने अहङ्कारको साथ लेकर अपनी बुद्धि द्वारा विचार करते हैं। इस कारण साधारण प्रज्ञा असम्पूर्ण रहती है। परन्तु योगिराज जब एकतत्त्वके अभ्यास द्वारा निर्मल चित्त होकर अपने अन्तःकरणको रज और तमके मलसे एक बार ही विशुद्ध कर लेता है तब उसमें पूर्वकथित असम्पूर्णताकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती है। उस समय उसका अन्तःकरण जिस प्रकार विशुद्ध और व्यापक हो जाता है उसकी प्रज्ञा भी उस प्रकार विशुद्ध और व्यापक हो जाती है। उसके अन्तःकरणमें तब कुछ भी बाधा देनेवाला कोई भी अहङ्कार शेष नहीं रहता है। शुद्ध चित्स्वरूप शुद्ध भगवद्बुद्धिरूपी ऋतम्भरा प्रज्ञाकी सहायतासे वह योगिराज तब सब पदार्थको यथावत् देख सकता है। चाहे लौकिक जगत्का सूक्ष्म पदार्थज्ञान हो, चाहे दैवजगत्का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय हो और चाहे अध्यात्म राज्यका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विज्ञान हो उसके अन्तःकरणके सामने उपस्थित होते ही उस विषयका पूर्ण स्वरूप उसकी ऋतम्भरा प्रज्ञा देख लेती है॥ ४९ ॥

इस प्रकार प्रज्ञाका फल क्या है:—

इसके द्वारा उत्पन्न हुए संस्कारसे और संस्कार सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ५० ॥

पूर्व्व सूत्रमें ऋतम्भरा बुद्धिके विशेष लक्षण और गुण वर्णन करके अब उससे जो विशेष फलकी प्राप्ति होती है वह वर्णन कर रहे हैं। इस अवस्थामें अन्तःकरणमें जो संस्कार उत्पन्न होता है वह अन्तःकरणके सम्पूर्ण पूर्व्व संस्कारोंका नाश कर देता है।

तजः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबंधी ॥ ५० ॥

नाना विषयोंके संस्कार नष्ट हो जानेसे विषयज्ञान भी नष्ट होजाता है, जब विषयज्ञान नष्ट हो जाता है तब ही निर्विषयरूपी शुद्ध ऋतम्भरा बुद्धिका उदय होता है; उस समय उसमें समाधिस्थ बुद्धिके संस्कारके अतिरिक्त और कोई व्युत्थान दशाके संस्कार शेष नहीं रहते और पूर्ण रूपेण जब वैषयिक संस्कारोंका नाश हो जाता है तब पुनः अन्तःकरणमें उनके प्रकट होनेकी और कोई सम्भावना नहीं रहती; इसी प्रकारसे ऋतम्भराबुद्धिरूपी निर्म्मल प्रवाहसे चित्त-रूपी शिला परके व्युत्थान संस्कार रूपी मलके चिन्ह पर्यन्त पूर्ण रूपेण धुल जाते हैं। ज्ञान दो प्रकारका होता है एक तटस्थज्ञान और दूसरा स्वरूपज्ञान। जहाँ तक ज्ञाताज्ञानज्ञेयरूपी त्रिपुटि विद्यमान रहती है वह तटस्थ ज्ञान है और जब ज्ञाताज्ञानज्ञेयरूपी त्रिपुटि नष्ट हो जाती है और अन्तःकरण एक बार ही व्युत्थानदशाके संस्कारोंसे रहित होकर निर्मल हो जाता है, उसके बाद अन्तःकरणके विलयके साथ ही साथ स्वरूपज्ञान प्रकट हो जाता है। वही आत्मज्ञान है। उसी ज्ञानको धारण करके आत्मा ज्ञानस्वरूप कहाता है। सबीज समाधिसे निर्बीज समाधिमें पहुँचते समय त्रिपुटिजनित दृश्यसम्बन्धीय और व्युत्थानदशाके सब संस्कार लय होते हैं। इस दशाका वर्णन आगे सूत्रमें आवेगा ॥ ५० ॥

अब योगफलरूपी असम्प्रज्ञात समाधिका निरूपण किया जाता है—

इसका भी निरोध होने पर जब सबीज समाधिके समस्त संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं तब निर्बीज समाधि होती है ॥ ५१ ॥

इस प्रकारसे अन्तःकरणकी वृत्तियां पूर्ण रूपेण निरुद्ध हो जानेसे जब सविकल्प-समाधिकी पूर्णावस्थामें साधक पहुँच जाता है, तब निर्बीज अर्थात् निर्विकल्प-समाधिका उदय होता है। इस अवस्थामें सम्प्रज्ञात संस्कार तकका निरोध अर्थात् लय हो जाता है और उससे पहले अन्तःकरणकी सब वृत्तियां अपने अपने कारणोंमें लय होती

तस्याऽपि निरोधे सर्व्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ।

इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे समाधिपादः ।

हुई सम्प्रज्ञात-संस्कारमें लय हो ही चुकीं थीं; इस कारण इस अवस्थामें पुरुष पूर्णरूपेण निर्म्मल होकर अपने रूपको प्राप्त हो जाता है। इस ही अवस्थामें पुरुषका अपने रूपको प्राप्त होना; अथवा जीवात्माकी अवस्थाका नाश होकर उसका परमात्मामें लय होना ही मुक्ति अथवा कैवल्य है। वृत्तिसारूप्यकी प्राप्ति जीवभाव है और योगसाधन द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध होनेसे द्रष्टा पुरुष जो अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है वही योगका फल है, वही मुक्तिपद है। चित्तवृत्ति निरोधरूपी योगप्राप्तिके लिये अभ्यास और वैराग्य प्रथम अवलम्बन हैं। वैराग्यसे दृश्य प्रपञ्चका बन्धन छूट जाता है। अभ्यास द्वारा क्रमशः चित्तवृत्तिनिरोध होकर निर्बीज समाधिकी प्राप्ति होती है। सर्वात्मा परम पुरुष ईश्वरमें भक्तिपूर्वक चित्तसंयमरूपी ईश्वर प्रणिधान भी कैवल्य प्राप्तिका प्रधान कारण है; परन्तु ईश्वर प्रणिधानमें पूर्णरीतिसे सफल काम होनेके लिये अथवा निर्बीज समाधि प्राप्त करके मुक्तिपद पानेके लिये अनेक अन्तराय हैं। उन अन्तरायोंको दूर करनेके लिये प्रणव-जप तथा अन्यान्य बहु प्रकारके साधनों द्वारा एकतत्त्वलाभ किया जाता है। एकतत्त्व द्वारा अन्तरायोंका नाश होता है और क्रमशः योगी सबीज समाधिकी कई एक भूमियोंको अधिक्रम करता हुआ अन्तमें आत्मप्रसाद और ऋतम्भरा बुद्धि प्राप्त करके निर्बीज समाधि-की भूमिमें पहुँचकर जीवन्मुक्त हो जाता है। तब योगिराज भाग्यवान् सिद्ध महात्माके पुनः दृश्य प्रपञ्चमें फँसकर बद्ध होनेकी सम्भावना नहीं रहती है। आत्मा नित्यमुक्त, शुद्ध, अद्वितीय, द्वैतप्रपञ्चरहित और ज्ञानस्वरूप है। वृत्तियोंके आवरणसे अन्तःकरण चञ्चल होकर आत्माके स्वरूपको ढके हुए रहता है। सबीज समाधिसे क्रमशः निर्बीज समाधिमें पहुँचते ही अपने आपही आत्माका स्वरूप प्रकट हो जाता है। एक वार स्वरूप प्रकट होनेपर पुनः न अज्ञान और न बन्धन रह सकता है। यही योग द्वारा निर्बीज समाधि प्राप्त करके कैवल्य प्राप्तिका रहस्य है ॥ ५१ ॥

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिकृत सांख्य प्रवचन सम्बन्धीय योगशास्त्रके समाधिपादके संस्कृत भाष्यका भाषानुवाद समाप्त हुआ।

साधनपादः ।

आत्मसाक्षात्कार द्वारा योगानुशासनका पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि योगानुशासनका पूर्णाधिकारी वही हो सकता है जिसमें सात्त्विक बुद्धिकी पूर्णतारूप ऋतम्भराका उदय हो। योगानुशासनका अधिकार केवल सात्त्विक बुद्धिसम्पन्न व्यक्तिके लिये ही विहित है। अतः योगानुशासनका अधिकारनिर्णय, योगानुशासनकी पूर्णता प्राप्तिकी दशाका वर्णन, योगानुशासनका चरम फल और योगप्राप्ति करनेके उपायोंके विज्ञान विस्तारित रूपसे पहले पादमें वर्णन करके अब इस पादमें महर्षि सूत्रकार योगपथमें प्रवृत्त, योगानुशासनके फलाकाङ्क्षी और चित्तवृत्तिनिरोधेच्छु साधकके लिये योगसाधनके विविध उपायोंका वर्णन कर रहे हैं—

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधानको क्रिया-योग कहते हैं ॥ १ ॥

प्रथम पादमें महर्षि सूत्रकार सावधान साधक अर्थात् स्थिर अन्तःकरणके लिये सम्प्रज्ञात आदि योगोंका वर्णन करके अब इस साधनपाद नामक द्वितीयपादमें अस्थिर अन्तःकरणवाले साधकोंके अर्थ विविध साधनोंका उपाय वर्णन कर रहे हैं। जिन ज्ञानी साधकगणके अन्तःकरणने उन्नत-भूमिमें पहुँचकर अस्थिरताको त्याग दिया है, उनके लिये पूर्व्वपादमें कहे हुए साधन ही कल्याणकारी हैं; परन्तु जिन निम्न अधिकारी साधकगणका चित्त अभी निर्मल नहीं हुआ है किन्तु मुक्तिकी इच्छा उनमें उत्पन्न हो गई है, उनको उचित है कि वे यथाक्रमसे तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान करते रहें, तो शनैः शनैः वे भी उन्नत-भूमिमें पहुँचकर, समाधिस्थ हो कैवल्यपदको प्राप्त करके मुक्त हो जावेंगे। शरीर, मन

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

और वचनकी अनर्गल प्रवृत्तिको रोक कर उनको विषय सम्बन्धसे हटाये रखनेको तप कहते हैं । जिस प्रकार नियमके साथ अवरुद्ध श्वान शक्तिमान् बनकर मृगयाका विशेष सहायक बन जाता है; उसी प्रकार शरीर, वचन और मनकी विषयवती शक्ति तपके द्वारा सुसंयत रह कर अतिप्रबल बन जाती है। तपस्वियोंमें जिस प्रकार तपके द्वारा अनेक अलौकिक सिद्धियोंका प्रकाश स्वतः ही हो जाता है, तपके द्वारा जिस प्रकार साधक असीम धर्मफल लाभ करता है, उसी प्रकार तप योगमार्गमें सफलता देनेके लिये सबसे प्रधान सहायक है । तपश्चर्यारहित पुरुषोंको योग-की सिद्धि होना असम्भव है, क्योंकि अनादि कर्म्म और अविद्या आदि क्लेशोंकी वासनासे उत्पन्न हुआ विषय-जाल और अन्तःकरणके नाना मल विना तप-साधन किये क्षीण नहीं होते; तप-साधनसे ही अन्तःकरण शुद्ध होकर साधन शक्तिकी प्राप्ति हो सकती है । प्रणव आदि सिद्ध मंत्रोंका जप और मोक्ष-प्रद शास्त्रोंके अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं; स्वाध्यायसे अन्तः-करणकी ज्ञानभूमिकी उन्नति होती है और क्रमशः साधक अपने लक्ष्यको स्थिर करके आगे बढ़ सकता है। ईश्वर प्रणि-धानका वर्णन पूर्व्व पादमें भलीभांति आही चुका है, परन्तु इस सूत्रमें ईश्वर-भक्ति शब्दसे गौणी-भक्तिका तात्पर्य्य है; जिस गौणी-भक्तिके साधन द्वारा क्रमशः पराभक्तिकी प्राप्ति हुआ करती है। ईश्वर-तद्गतभावरूप पराभक्तिके प्राप्त करनेके अर्थ जो भक्ति-शास्त्रोंमें श्रवण, मनन, कीर्तन आदि साधन वर्णित हैं उन्हींको गौणी भक्ति कहते हैं । गौणी भक्ति और पराभक्ति रूपसे भगवद्भक्तिके दो भेद हैं। पराभक्तिरूपी श्रेष्ठ ईश्वर प्रणिधान समाधिका साक्षात् कारण है सो पहले कह चुके हैं। और गौणी भक्ति जिसके वैधी और रागात्मिका दो भेद हैं वह प्रथम दशाकी भगवद्भक्ति योगपथके पथिकको योगशक्ति प्रदान करती है। फलनिरपेक्ष होकर परमगुरु श्रीभगवान्में सर्वकर्म समर्पणभी ईश्वर प्रणिधान शब्दका अर्थ है जैसा कि पहले ही बताया गया है, प्रणिधानकी प्रथम दशामें इस प्रकार समर्पण बुद्धि प्राप्त करनेकी चेष्टा और तदर्थ विधिनिषेधात्मक साधन होता है । यही

क्रियायोगान्तर्गत ईश्वर प्रणिधानका तात्पर्य है। इस प्रकार तपस्वाध्यायादिकी सहायतासे उन्नति करता हुआ साधक समाधि-की ओर अग्रसर होता जायगा ॥ १ ॥

इस प्रकारसे अनुष्ठित क्रियायोगका लक्षण क्या है:—

वह समाधिके प्राप्त करने और क्लेशोंके दूर करनेके अर्थ किया जाता है ॥ २ ॥

वहसे तात्पर्य्य क्रिया-योगका क्रम है जैसा पूर्व्व सूत्रमें कह चुके हैं। वह क्रिया-योग जब पूर्णताको प्राप्त होता है तब नाना वृत्तियुक्त अन्तःकरणके नाना क्लेशोंको दग्ध बीजकी नाईं नष्ट कर देता है; ईश्वर-प्रणिधानके साधककी कैसे सद्गति हो सकती है इसका प्रमाण पूर्व्व पादमें भली भांति वर्णन कर चुके हैं; उस ही प्रकार साधकके हृदयमें जब भगवत्प्रेमका उदय होजाता है तब सब क्लेशोंकी निवृत्ति अपने आपही होजाती है। अविद्यादि पञ्चक्लेश व्युत्थानदशामें ही विषयी जीवके चित्तको दुःखित करते हैं। अतः तप, स्वाध्याय आदिके साधन द्वारा व्युत्थान दशाका निरोध होकर समाधि दशाका उदय जितना होता जायगा उतना क्लेशोंका स्वयं ही क्षय होता जायगा इसमें सन्देह नहीं। जीव सुख दुःखरूपी द्वन्द्वोंमें फंसकर ही दुर्दमनीय क्लेशोंका अनुभव करता है। तप द्वारा साधक द्वन्द्व सहिष्णु होकर क्लेशका मूल शिथिल करने में समर्थ होता है। ईश्वरप्रणिधान क्रमशः साधकको समाधि भूमिकी ओर अग्रसर करता है और स्वाध्याय इन दोनों कार्योंका सहायक है। इस कारण योगपथके पथिकको इन तीनों साधनोंका आश्रय लेना उचित है और इसीप्रकार वह साधक उन्नत अधिकार को प्राप्त करता हुआ क्रमशः निर्विकल्प समाधिको प्राप्तकर मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥

वे क्लेश कौन और कितने हैं:—

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेशोंके भेद हैं ॥ ३ ॥

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥३॥

ब्रह्मानन्दकी अवरोधिनी वृत्तियोंको क्लेश कहते हैं। निष्काम भाव, भगवद्भक्ति और ज्ञान ये सब ब्रह्मानन्दके प्रकाशक हैं ; परन्तु ब्रह्मानन्दको स्वतः ही ढांक देनेवाली अथवा उसको विषयानन्दमें बदल देनेवाली अज्ञानसे उत्पन्न जो अनेक वृत्तियाँ हैं उनको योगाचार्य सूत्रकारने पांच भागमें विभक्त करके उनकी पांच संज्ञाएँ की हैं। उन्हींको क्लेश नामसे अभिहित किया है। यह पांच प्रकारके क्लेश अर्थात् दुःखोत्पन्नकारी मिथ्याज्ञान जैसे जैसे बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे ही तमोगुणकी वृद्धि द्वारा जीवमें अहंकारको दृढ़ करते हुए अन्तःकरणमें अज्ञानरूप जड़ताकी वृद्धि करते जाते हैं, और इसी रीतिसे क्रमशः संसारकी सुख-दुःखरूपी दो नदियाँ एक दूसरीकी सहायता द्वारा प्रवल वेगसे बहती हुई जीवको डुवा देती हैं। इन पांच प्रकारके क्लेशोंका पूर्णरूपेण वर्णन आगेके सूत्रोंमें आवेगा ॥ ३ ॥

इन पांच क्लेशोंमेंसे अविद्याका प्राधान्य बताया जाता हैः—

और सब क्लेशोंका अविद्या ही कारण है, चाहे उनकी अवस्था प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार हो ॥ ४ ॥

अविद्यासेही सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है; अविद्यासेही चैतन्यमय जीव अपने आपको जड़मय मानकर मायामें फंस गया है; यह आदि कारण रूपी अविद्या ही और चार क्लेशोंका कारण है। इन क्लेशोंकी चार भूमियाँ हैं, यथा—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। प्रसुप्तका अर्थ निद्रित है; जब अस्मितादि क्लेश निद्रित रूपसे अन्तःकरणमें रहते हैं; अर्थात् बहिरंगोंसे उनका कोई भी सम्बन्ध तब तक प्रतीत नहीं होता जब तक किसी कारणसे वे जाग न जायँ; जैसे बालकके अन्तःकरणमें क्लेश आदि वृत्तियाँ हैं तो सही, परन्तु सदानन्दमय बालकमें उनकी स्फूर्त्ति तब तक नहीं होती जब तक कोई बाहरके कारणसे वह क्लेशित न हो, क्लेशोंकी इस अवस्थाको प्रसुप्त कहते हैं। मनुष्योंमें सब क्लेश वृत्ति

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

रूपसे सदा अनुभव होते हैं; परन्तु बालकमें ये सब क्लेश सुप्त अवस्थामें रहते हैं, बालक उनको स्वतः ही वृत्तिरूपमें अनुभव नहीं करता है। किसी बाहरी कारणसे उत्तेजित या चालित होने पर वास्तवमें वे क्लेश जाग्रत अवस्थामें दिखाई देते हैं। तनुका अर्थ हलका होना है; अर्थात् एक वृत्ति जब किसी दूसरी वृत्तिके दबावसे हलकी अर्थात् क्षीण हो जाती है, क्लेशोंकी उस अवस्थाका नाम तनु है; जैसे साधन स्वाध्याय विचार तपस्या आदि द्वारा सात्विक वृत्तियोंके उत्पन्न करनेसे रागद्वेषादिमूलक तामसिक वृत्तियाँ धीरे धीरे क्षीण हो जाती हैं उस समय वे क्लेशमूलक वृत्तियां उस व्यक्तिमें रहती तो अवश्य हैं, परन्तु सत्सङ्ग और सच्चर्चाके प्रभावसे वे वृत्तियां क्षीण हो कर दब जाती हैं। विच्छिन्नका अर्थ अलग अलग होना है; अर्थात् परस्पर सहायकारी दो वृत्तियोंके उदयके समय एकके पश्चात् दूसरीका अनुभव होता है। जैसे कामसे ही क्रोधकी उत्पत्ति होती है; परन्तु क्रोध उत्पन्न होते समय काम-वृत्ति अलग हट जाती है; इस ही छिन्न भिन्न अवस्थाका नाम विच्छिन्न है। इसके उदाहरणमें यह समझ सकते हैं कि प्रेमिककी कोमल प्रेमवृत्ति उसके प्रेमपात्रमें निज स्वार्थके विरोधी दोष दर्शन करनेपर अन्तःकरणमें छिप जाती है और उस समय उस प्रेमपात्रपर क्रोध और द्वेषकी उत्पत्ति हो जाती है। तब स्वतःही उसकी पूर्वकी प्रेमवृत्ति विच्छिन्न दशाको प्राप्त हो जाती है। जब किसी वृत्तिका पूर्ण-रूपेण प्रकाश होता है, जैसे कि सांसारिक साधारण कर्म्मोंमें प्रतीत होता है; वृत्तिकी उस पूर्णावस्थाका नाम उदार है। इस उदार अवस्थामें वृत्तियाँ अपने पूर्ण स्वरूपमें प्रकट रह कर जीवको विमोहित करके पूर्ण क्रियाको उत्पन्न करती हैं। इस प्रकारसे प्रसुप्त-तनु-विछिन्न-उदार नामक चतुर्विध अवस्थाओंसे युक्त अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश नामक चार प्रकारके क्लेशोंका उत्पत्ति निदान अविद्या ही है। यह पूर्व्व ही कह चुके हैं; कि जैसे क्षुद्र वट-बीज महान् वट-वृक्षका कारण रूप है, वैसे ही नानावृत्तिमयी-सृष्टिका कारण अविद्या रूपी बीज है; जैसे बीजको एक बार दग्ध करनेसे पुनः उससे अङ्कुरोत्पत्ति होकर वृक्ष होनेकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती,

इसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्निसे अविद्यारूप बीजके दग्ध हो जानेसे पुनः नाना वृत्तिमयी सृष्टि होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इस सूत्रमें अविद्याका मौलिक प्राधान्य वर्णन किया गया, अब अगले सूत्र में उसके लक्षण वर्णन किये जायँगे ॥ ४ ॥

अविद्याका लक्षण क्या है:—

अनित्यको नित्य समझना, अपवित्रको पवित्र समझना, दुःखको सुख समझना और अनात्माको आत्मा समझना अविद्या है ॥ ५ ॥

अविद्यासेही विपरीत-ज्ञानकी उत्पत्ति होती है अर्थात् जिस वस्तुका जो वास्तविक स्वरूप है उसको न दिखाकर उस वास्तविक स्वरूपके विरुद्ध स्वरूपको जो प्रकट करे उसको अविद्या कहते हैं। यह अविद्याहीका कारण है कि जिससे नाश होनेवाले संसाररूपी इहलोक और स्वर्ग आदि परलोकोंको जीव नित्य करके मान रहा है; वह अविद्या हीका कारण है कि जिससे विष्ठा, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थोंसे भरा हुआ यह शरीर पवित्रसा प्रतीत होता है; और मांस तथा वसाका विकाररूपी स्त्री-शरीर मनोहरसा जान पड़ता है; यह अविद्याहीका कारण है कि जिससे नाशवान् और परम दुःखदायी विषयोंको जीव सुखदायी समझ रहा है; और यह अविद्याहीका कारण है कि जिससे अनात्मा अर्थात् जड़रूपी इस पाञ्च-भौतिक शरीरको जीव आत्मा अर्थात् चेतन करके मान रहा है। इस प्रकार नानारूप मिथ्याज्ञानमें जीवके फंसानेका एक मात्र अविद्या ही कारण है। ब्रह्मशक्ति महामायाके अज्ञान और ज्ञान सम्बन्धसे दो भेद हैं। ज्ञानप्रसविनी विद्या और अज्ञानजननी अविद्या कहाती है। स्मृतिमें भी कहा है—

विद्याऽविद्येति तस्या द्वे रूपे जानीहि पार्थिव !
विद्यया मुच्यते जन्तुर्बध्यतेऽविद्यया पुनः ॥

विपरीत भाव दिखाकर अविद्या सृष्टि उत्पन्न करती है और जीवको सृष्टिमें जकड़े रहती है। कालान्तरमें अभ्यास वैराग्यके

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

प्रभावसे योगानुशासन पथका पथिक ज्ञानप्रसविनी विद्याकी उपासना द्वारा अविद्याबन्धनको छिन्न करके परमपदकी प्राप्ति कर लेता है। अतः जबतक ज्ञानजननी विद्याका उदय न हो तब तक अज्ञानप्रसूति अविद्याके द्वारा जीव क्लेश प्राप्त करता रहता है। उसही अविद्यासे मोहित हुआ जीव सदा अनित्य में नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुख, और अनात्मामें आत्म बुद्धि करता रहता है। अविद्याके कारणसे ही जीव मोहित होकर पाप कार्य्योंको पुण्य-कार्य्य और अधर्म्मको धर्म्म मानकर सदा दुःखमेंही फँसा रहता है ॥ ५ ॥

अविद्याका लक्षण वर्णनानन्तर अन्य चार प्रकारके क्लेशोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है, यथाः—

दृक्शक्ति और दर्शन-शक्तिमें अभेद प्रतीतिको अस्मिता कहते हैं ॥ ६ ॥

पुरुषमें ज्ञान अर्थात् देखनेकी शक्ति विद्यमान है; और बुद्धि रूपी अन्तःकरणमें दिखलानेकी शक्ति है। स्वयं देखनेवाला और देखनेका यंत्र एक पदार्थ नहीं हो सकता; परन्तु जिस कारण द्वारा देखनेवाला पुरुष और दिखानेका यंत्र-रूपी अन्तःकरण एक पदार्थ ही प्रतीत होते हैं मायाके उसी प्रभावका नाम अस्मिता है। सर्व्व-शक्तिमान् पूर्णज्ञानमय परमेश्वर अस्मितासे रहित हैं, इस कारण उनमें कोई भी भ्रम नहीं; परन्तु जीवके ज्ञानअंशने जीवमें और अन्तःकरणमें एकता स्थापन कर रक्खी है, इसही कारण जड़रूपी अन्तःकरणके किये हुए कामोंका कर्त्ता भोक्ता चेतनरूपी जीवात्मा अपने आपको मान लेता है; और इस भ्रम-ज्ञानसे ही अपनेमें और अन्तःकरणमें अभेद समझकर जीव सकल प्रकारके दुःखोंको भोगता रहता है। परमात्मा परमपुरुषके स्वरूपमें सत्, चित् और आनन्द भाव एक अद्वैत भावमें रहनेके कारण स्वरूपमें अस्मिता नहीं रह सकती है। जब चिद्भावमय 'भाति' और सत्भावमय 'अस्ति'का पृथक् पृथक् अनुभव होता है उसी समय द्वैतभाव-प्रबोधक अस्मिताका उदय होता है। यही जीवब्रह्मभेदकारी द्वैतभावोत्पादिनी अस्मिता-

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता ॥ ६ ॥

का स्वरूप है । परन्तु जब चित्तवृत्ति-निरोधके चरमफलरूपी निर्विकल्प समाधिका उदय होता है, तब अपनी कारणरूपा अविद्याके साथ अस्मिता विद्याके बलसे अन्तर्हित हो जाती है और उसी समय द्रष्टा पुरुष निज स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं । इस सूत्रमें 'इव' शब्दका प्रयोग इसलिये किया गया है कि पुरुष और बुद्धिकी एकात्मता तात्त्विक नहीं है, केवल अनादि अविवेकके कारण दोनोंका यह भोक्तृभोग्यभाव औपचारिकमात्र है, जो विवेकका उदय होतेही नाशको प्राप्त हो जाता है और पुरुष अपने ज्ञानमय स्वरूपको पहचान कर मुक्त हो जाता है ॥ ६ ॥

अब रागरूप तीसरे क्लेशका वर्णन किया जाता है—

सुखके अनुस्मरण पूर्वक जो उसमें प्रवृत्ति होती है उसका नाम राग है ॥ ७ ॥

सुख भोगनेके पश्चात्, उस सुखको स्मरण करके उस सुखवृत्तिमें जो लोभ अर्थात् इच्छा होती है उसका नाम राग है । इसही रागके कारण अन्तःकरणरूपी जलाशयमें तरङ्गपर तरङ्ग लहराया करते हैं । वासनासे उत्पन्न संसारप्रपञ्चका प्रधान कारण राग है । रागसे वासना, वासनासे पुनः राग, इस प्रकारसे कर्मकी अनन्तधारा बहाकर जीव आवागमन चक्रमें निरन्तर परि-भ्रमण करता ही रहता है । राग रजोगुणमूलक है, रजोगुणसे संसार प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है, इस कारण संसारकी उत्पत्तिमें जनकत्वपद रागको ही दे सकते हैं । रागसे ही निम्नगामी स्नेह, उच्चगामी श्रद्धा और समगामी प्रेमकी उत्पत्ति होती है । इस प्रकारसे रागपाशबद्ध हो नानारूपसे जीव संसारमें भ्रमण करता है । रागरूपी इच्छासेही जीव विषयरूपी फन्देमें फंस जाया करता है ॥ ७ ॥

द्वेषरूप चतुर्थ क्लेशका वर्णन किया जाता है—

दुःखके अनुस्मरण पूर्वक उसमें उत्पन्न विरुद्धभावनाको द्वेष कहते हैं ॥ ८ ॥

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःखके जाननेवालेमें दुःखानुस्मरणके द्वारा, दुःखमें अथवा उसके साधनमें क्रोधवृत्तिके समतुल्य और रागवृत्तिके विपरीत जो एक वृत्ति हुआ करती है उसका नाम द्वेष है। दुःखका लक्षण पहले सूत्रोंमें ही कह चुके हैं, इस कारण यहां उसका विशेष वर्णन नहीं किया गया; उन्हीं दुःखोंके स्मरणसे दुःखदायी पदार्थोंमें दुःखके भयसे जो तीव्र अनिच्छा अर्थात् रागके विपरीत वृत्ति हो उसीका नाम द्वेष-वृत्ति है। द्वेष तमोगुण मूलक है और यह वृत्ति रागवृत्तिके विरोधी है। यही रागद्वेष वृत्ति आकर्षण और विकर्षण शक्ति उत्पन्न करके समस्त ब्रह्माण्डमें सृष्टिस्थिति और प्रलयकार्यकी सहायक बनती हैं। राग से सृष्टि, द्वेषसे लय और इन दोनोंकी समतासे स्थिति हुआ करती है। इस कारण रागमें रजोगुण, द्वेषमें तमोगुण और दोनोंकी समतामें सत्त्वगुणका उदय बना रहता है। अस्तु, राग और द्वेष दोनों ही अविद्याके सहायक हैं और इन दोनोंकी समतावस्था विद्या-सहायक है। जीवको बन्धन प्राप्त करानेके विषयमें राग और द्वेष दोनोंकी शक्ति समान ही है क्योंकि रागके विना द्वेष और द्वेषके विना राग ठहर नहीं सकता है। संसारमें जो द्वन्द्व प्रपञ्च है वह रागद्वेषमूलक है। इस कारण क्लेशके विचारसे द्वेष भी पूर्ण शक्तिशाली है ॥ ८ ॥

अब पञ्चम क्लेशका वर्णन किया जाता है—

जन्मजन्मान्तरोत्पन्न संस्कारधारा द्वारा ममत्वादिरूपसे अपनेपनको प्राप्त करनेवाली तथा अविद्वानोंकी तरह पण्डितगण तकमें भी रहनेवाली मरणत्रासजन्य जीवनलालसारूपी जो वृत्ति है वही अभिनिवेश है ॥९॥

चाहे मूर्ख हो चाहे पंडित, चाहे ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी, चाहे निरक्षर किरात हो चाहे वेदपाठी विप्र, सबमें एक रूपसे जो आत्म-हितचिन्तनरूपी वृत्ति है उसको ही अभिनिवेश कहते हैं। जन्म-जन्मान्तरोंमें बार बार प्राप्त होनेके कारण मरणदुःखानुभव तथा

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

जीवितेच्छाजनित जो संस्कारसमूह हैं उनको स्वरस कहते हैं। अभिनिवेश इन स्वरससंज्ञक संस्कारोंको वहन करनेवाला है इसलिये उसको स्वरसवाही कहा गया है। यह अभिनिवेश अविद्वान् मूर्खोंमें तो होता ही है अधिकन्तु विद्वान् पण्डित लोगोंमें भी होता है। इसलिये सूत्रमें 'अपि' शब्दका प्रयोग किया गया है। प्राणी मात्रको ही आत्महितचिन्तन सदा बना रहता है; "मैं अमर रहूँ" ऐसी इच्छा विद्वान्गण तकमें देखनेमें आती है; परन्तु विना मृत्यु-रूप दुःख-भोग भोगे जीवका यह आत्महित-चिन्तन असम्भव है। मृत्युमें अनिच्छा और चिरआयु होनेमें इच्छा-रूप जीवकी इस सामान्य वृत्तिका कारण मृत्युभय ही है; क्योंकि पूर्व जन्मोंमें मरते समय इस जीवको जो नाना क्लेशोंकी प्राप्ति हुई थी उन घोर क्लेशोंके अनुभवसेही प्राणीमात्रको मृत्युमें अनिच्छा होती है; पुनर्जन्म सिद्ध होनेका यह भी एक प्रमाण है; सद्यःप्रसूत बालक और ज्ञानरहित कीट तकमें जो मृत्युभय देखनेमें आता है वह पूर्व जन्मकेही संस्कारका कारण है, यदि उनको प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणसे मृत्युके दुःखोंका ज्ञान नहीं हुआ था तथापि उनको यह भय हुआ; इससे यह सिद्ध होता है कि अवश्य कोई पूर्व्व कारण है. वही पूर्वजन्म है। पूर्वजन्ममें अनुभव हुआ था, इस कारण संस्काराधीन होकर अब भी उसका बोध हुआ। इस ही मृत्युभयरूपी क्लेशके कारण स्वजीवनप्रार्थनारूप जो वृत्ति है उसे अभिनिवेश कहते हैं ॥ ९ ॥

क्लेशोंका वर्णन करके अब उनके लयका प्रकार बताया जाता है:—

सूक्ष्म पञ्चक्लेश क्रियायोगसे प्रतिलोम परिणाम द्वारा चित्त लयके साथ लय होते हैं ॥१०॥

वे अर्थात् पूर्व्वोक्त पांचों क्लेश जिनका वर्णन भली भांति हो चुका है। समाधि-पादमें जो व्याधि आदि चित्तके विक्षेप और योगके विघ्न-समूहका वर्णन किया गया है, उन सबोंके मूलमें ये पांच प्रकारके क्लेश हैं; इस कारण महर्षि सूत्रकार पहले इन

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

क्लेशोंके लक्षण वर्णन करके अब उनके नाशके उपाय वर्णन कर रहे हैं। योगाभिलाषीको प्रथम ही क्लेशोंका त्याग कर देना उचित है, परन्तु विना यथार्थरूपके जाने किसी वस्तुका त्याग अथवा ग्रहण नहीं किया जासकता; इसकारण पूर्वसूत्रोंमें उनके लक्षण, उद्देश्य और उत्पत्तिस्थानका वर्णन करके अब उनके त्यागका उपाय वर्णन कर रहे हैं। इन पांच प्रकारके क्लेशोंको दो अवस्थाओंमें बिभक्त करसकते हैं, यथा—एक सूक्ष्म अवस्था और दूसरी स्थूल-अवस्था। सूक्ष्म अर्थात् अन्तःकरणमें कारणरूपेण और स्थूल अर्थात् विस्तृतरूपेण। इस सूत्रका यही तात्पर्य है कि सूक्ष्म-अवस्थापन्न क्लेश बीजनाशके समान योगमें अन्तःकरण लीन होनेसे उसहीके संग अस्त हो जाते हैं और स्थित रहनेपर भी उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती। स्थूल-क्लेशोंके लय करनेका उपाय पर सूत्रमें कहा जायगा, परन्तु सूक्ष्म क्लेशोंके विषयमें इतना ही कहा गया कि वे अपने कारणरूप अन्तःकरणमेंही प्रतिलोम विधिके अनुसार अन्तःकरणके निरोध करनेसे लयको प्राप्त हो जाते हैं। ये पांचों क्लेश वृत्ति नहीं हैं किन्तु वृत्तियोंके निदानरूप चित्तगत सूक्ष्म भावसमूह हैं। इस कारण जिस प्रकारसे वृत्तियाँ लय होती हैं उस प्रकारसे इनका लय नहीं हो सकता है। जब समाधिके द्वारा अन्तःकरणका लय होता है तब अन्तःकरणके साथ ही साथ ये पञ्चक्लेश भी आमूल लयको प्राप्त होजाते हैं ॥१०॥

अब स्थूल-भावापन्न क्लेशोंका लयोपाय बताया जाता है—

क्लेशोंकी स्थूलावस्थागत वृत्तियाँ ध्यानसे त्यागने योग्य हैं ॥ ११ ॥

पूर्व्व सूत्रमें पञ्चक्लेशोंकी सूक्ष्मावस्थाके नाश होनेका उपाय वर्णन करके अब इस सूत्रमें स्थूल अवस्थाके नाश होनेका उपाय वर्णन कर रहे हैं। सूक्ष्म भावमय क्लेशोंकी सूक्ष्मावस्था जब कार्यमें परिणत होती है तो वे वृत्तिरूपसे अन्तःकरणको विचलित किया करती हैं। जिन क्लेशोंका कार्य आरम्भ हो रहा है ऐसी उदार अवस्था प्राप्त विस्तृत वृत्तियोंकोही स्थूल-वृत्ति जानना उचित है; सुख-दुःख मोहदायिनी ये स्थूल वृत्तियाँ अन्तःकरणपर आधिपत्य जमा

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

चुकी हैं, इस कारण अन्तःकरणको जब तक ध्यानादिक योग-क्रियाओं द्वारा नहीं रोका जायगा, तबतक वे भी नहीं रुक सकतीं, इसकारण ये स्थूल-वृत्तियां ध्यानरूप क्रिया-योगसे ही नाश करने योग्य हैं। उदाहरणके लिये कहा जाता है कि जब असद्वस्तुको सद्वस्तु-रूपसे वा पापको पुण्यरूपसे अन्तःकरणके द्वारा जीव विचारने लगता है, वही अविद्याकी वृत्ति समझने योग्य है। जब शरीरको जीव आत्मारूपसे अनुभव करने लगता है वही अस्मिताकी स्थूल वृत्ति है। रागसे जब प्रीति आदि और द्वेषसे जब शत्रुता आदि वृत्ति प्रकट होकर अन्तःकरणको चलायमान करती है वही राग द्वेषकी उदार स्थूलदशा है। उसी प्रकार जीनेकी इच्छा और मृत्युके भयजनित विशेष विशेष वृत्ति प्रकट होकर जब अन्तःकरणको मुग्ध करती है वही अभिनिवेशकी उदार स्थूल दशा है। इन स्थूल दशाओंका लय करना अपेक्षाकृत सुगम है; अर्थात् ध्याता ध्यान ध्येय-रूपी त्रिपुटिके द्वारा जब अन्तःकरणको बांध लिया जाता है, उस समय ये स्थूल वृत्तियां अपने आप ही अन्तःकरणसे अन्तर्हित हो जाती हैं क्योंकि ध्यानदशामें इन त्रिपुटियोंके सिवाय और कुछ भी नहीं रहता है, इस कारण स्थूल वृत्तियाँ अपने आप ही विलीन हो जाती हैं। जैसे वस्त्र परका स्थूलमल पहिले जलसे धौत करनेसे छूट जाता है, पुनः पीछेसे क्षार आदि लगानेसे सूक्ष्म-मल भी छूट सकता है; इसी प्रकार ध्यानादिक क्रियाओं द्वारा अन्तःकरणको ठहरानेसे उसके साथ ही स्थूल वृत्तियाँ लय होजाती हैं, और पुनः बीजरूपेण रही सही सूक्ष्म-वृत्तियाँ अन्तःकरणके समा-धिस्थ होने पर लय को प्राप्त होजाती हैं। इस सूत्रका यही तात्पर्य है कि नियमित ध्यानादि साधन द्वारा महाक्लेशदायक स्थूल वृत्तियां भी अति-क्षीण होकर अन्तःकरणमें लयको प्राप्त होजाती हैं, और तब ही साधक इन महाशत्रुओंसे बच सकता है ॥ ११ ॥

अब इन क्लेशोंसे किसकी उत्पत्ति होती है सो बताया जाता है—

पंचक्लेशोंके कारण ही कर्म्माशय उत्पन्न होता है जो दृष्टजन्म और अदृष्टजन्ममें भोगने योग्य है ॥१२॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टाऽदृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

पूर्व्व सूत्रों द्वारा महर्षि सूत्रकार प्रथम क्लेशोंके भेदोंका वर्णन करके तदनन्तर क्लेशोंकी निवृत्तिका उपाय कह कर, अब इस सूत्र द्वारा क्लेशोंसे उत्पन्न कर्म्माशयका वर्णन कर रहे हैं। शुभाशुभ-कर्मानुष्ठानजन्य वासनात्मक धर्माधर्मरूप जो संस्कारराशि है उसको कर्माशय कहते हैं। फलकालपर्यन्त संस्काररूपमें चित्तभूमि पर कर्मकी स्थिति रहनेके कारण ही 'आशय' शब्दका प्रयोग हुआ है। पञ्च क्लेशके हेतु ही इस प्रकार शुभाशुभात्मक कर्माशयकी उत्पत्ति होती है और इससे जो पापमय तथा पुण्यमय कर्म होते हैं उन कर्म्मोंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, यथा-एक दृष्टजन्म-वेदनीय और दूसरा अदृष्टजन्मवेदनीय। जिन कर्म्मोंका फल इसी जन्ममें भोग होजाता है वे दृष्टजन्मवेदनीय कहाते हैं; उसी प्रकार जिन कर्म्मोंका भोग इस जन्ममें नहीं होता, केवल उनके संस्कार साथ रहकर परजन्मोंमें भोग की उत्पत्ति करते हैं, ऐसे कर्म्म अदृष्टजन्म-वेदनीय कहलाते हैं। जीवके अन्तःकरणमें इन पाँचों क्लेशोंके प्रभावसे जो वृत्तिरूपी तरङ्ग उत्पन्न होते हैं, उनका चिन्ह-रूपी संस्कार जब अन्तःकरणके आकाशमें अङ्कित होजाता है, तब उसीको कर्माशय कहते हैं। जीव चाहे अन्तःकरणके द्वारा कुछ कर्म करे या शरीरके द्वारा कुछ कर्म्म करे, जीवके स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरके कर्म्मरूपी वृक्षका संस्काररूपी बीज उसके अन्तःकरण-के चित्ताकाशमें एकत्रित होजाता है और पुनः जन्मान्तरमें वे ही बीज-समूह कर्मभोगरूपी फल उत्पन्न करते हैं। जबतक वे फल उत्पन्न न करें, तबतक वे अदृष्टजन्मवेदनीय कहलाते हैं और जब वे फल उत्पन्न करने लगते हैं तब दृष्टजन्मवेदनीय कहलाते हैं। दृष्टजन्म-वेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म्म, किये हुए सत् असत् कर्म्मों की तीव्र और लघु गतिके अनुसार हुआ करते हैं। जिन सत् अथवा असत् कर्म्मोंका बल इतना तीव्र हो कि जिससे वह जीवके इस जन्मके कर्म्मोंको भेदन कर अपने कर्म्मोंके फल उत्पन्न कर सके वेही तीव्र कर्म्म दृष्टजन्म-वेदनीय कहलाते हैं; जैसे महात्मा नन्दीश्वर देवादिदेव महादेवकी प्रसन्नताके लिये तीव्र तप करनेसे उसी जन्ममें मनुष्य-योनि से देव-योनिको प्राप्त हुए; और जिस प्रकार तीव्र सत्-कर्म्म द्वारा नन्दीश्वर देवता हुए; उसी प्रकार तीव्र असत्-कर्म्म द्वारा एक ही

जन्ममें राजा नहुषको तिर्य्यक्-योनि प्राप्त हुई थी; यदिच इस जन्म के किये हुए कर्म्मोंका फल जन्मान्तरमें ही भोग हुआ करता है, परन्तु कदाचित् जब सत् असत् कर्म्मोंका वेग अति उग्र होता है तो तीव्रताके कारण वह इस जन्ममें ही फलदायक हो जाता है; कर्म्मकी इसी अलौकिक और विशेष अवस्थाको ही दृष्टजन्म-वेदनीय कहते हैं । अदृष्टजन्म-वेदनीय कर्म्मोंका स्वरूप साधारण ही है क्योंकि साधारण जीवोंमें इसी कर्म्मकी प्रबलता देखनेमें आती है; यदि ऐसा न होता तो जीवके किये हुए पाप और पुण्य कर्म्मोंका फल हाथों हाथ ही मिलजाता; इन कर्म्मोंके संस्कार जीवके अन्तःकरणमें बीजरूपेण रहकर जन्मान्तरमें वृक्षरूप होकर फल प्रदान किया करते हैं । यदिच दृष्ट और अदृष्ट भेदसे महर्षि सूत्रकारने कर्म्मोंके दो ही भेद लिखे हैं, परन्तु वेदान्त आदि शास्त्रोंमें इनको तीन प्रकारसे समझाया गया है; जिसका ज्ञान होनेसे इस सूत्रका अर्थ और भी सरल होजायगा । अवस्था-भेदसे कर्म्मोंको तीन प्रकारमें विभक्त कर सकते हैं, यथा—संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध । अनन्त जन्मोंसे जो जीव कर्म्म कर रहे हैं और जिनके भोग भोगनेकी बारी अभी जीवको नहीं मिली है, केवल संस्काररूपेण जीवके कर्म्माशयमें हैं उन कर्म्मोंको सञ्चित कहते हैं, जिन कर्म्मोंको जीव अब नवीन संग्रह करता जाता है, अर्थात् नवीन इच्छासे जो नवीन कर्म्म उत्पन्न होकर नवीन संस्कार उत्पन्न करते जाते हैं वे ही क्रियमाण कर्म्म हैं; और कर्म्माशयमें भरे हुए अनन्त कर्म्मोंमेंसे जिन थोड़ेसे कर्म्मोंने जीवके सङ्ग आकर इस स्थूल शरीररूपी फलकी उत्पत्ति करदी है, अर्थात् जिनका फलभोग इस जन्ममें होरहा है वेही प्रारब्ध कर्म्म कहाते हैं । साधारण रीति तो यह है कि प्रारब्ध कर्म्मोंका ही फल जीवको इस जन्ममें मिला करता है और संचित और क्रियमाण कर्म्मोंका फल जीवगणको जन्मान्तरमें क्रम क्रमसे मिलेगा; परन्तु इस सूत्रमें यही कहा गया है कि यदि क्रियमाण कर्म्म कभी कभी प्रबल हों तो वे भी प्रारब्ध कर्म्मोंके साथ मिलकर इसी जन्ममें ही फल दे जाते हैं । इस कारण अपनी शास्त्रोक्त ज्ञानभूमि के अनुसार एवं योग-विज्ञान-सिद्धकारी दृष्ट अर्थात् जिनका फल

जीवको इसी जन्ममें मिले और अदृष्ट अर्थात् जिनका फल जीवको जन्मान्तरमें मिले, महर्षि सूत्रकारने कर्म्मोंके ये दो ही भेद किये हैं। यदि यह शङ्का हो कि अन्य दर्शनमत तीन प्रकारके कर्म मानता है, परन्तु यह दर्शन केवल दो प्रकारके ही कर्म क्यों मानता है तो इस शङ्काका समाधान यह है कि योगका पुरुषार्थ सब विषयमें ही अलौकिकत्वको धारण करता है। अन्य दर्शनोंमें विचाररूपी ज्ञानके द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति बताई गई है; परन्तु योगदर्शनकी मुक्ति प्राप्तिकी शैली सबसे विलक्षण है। योगदर्शन अलौकिक एकतत्त्वके अभ्यास द्वारा मुक्तिके विघ्नोंके नाशपूर्वक निर्विकल्प समाधिमें पहुँचा कर मुक्तिपद दिलानेकी प्रतिज्ञा करता है। अन्य दर्शनसमूह केवल लौकिक प्रत्यक्षको मानते हैं; परन्तु योगदर्शन अपनी लोकोत्तर पुरुषार्थ-शैलीके द्वारा अलौकिक प्रत्यक्षकी सहायतासे दैवजगत्‌का दर्शन कराता है। अन्य दर्शनसमूह कर्मके ऊपर अपना प्रभाव पूर्णरूपसे डालनेकी शैलीको नहीं बताते हैं; परन्तु योगदर्शनविज्ञान संयमशक्तिका प्रभाव बताकर नाना प्रकारकी ऐसी सिद्धियोंका अधिकारी जिस प्रकारसे योगीको कर देता है, उसी प्रकारसे योगीकी इस प्रकारकी अलौकिक शक्तिको भी सिद्ध करता है कि जिसके द्वारा योगिराज अपने अदृष्ट कर्मको संयम द्वारा खींच कर दृष्ट कर देनेमें समर्थ होजाते हैं और उसी प्रकारसे दृष्ट कर्मको भी अदृष्ट कर देनेमें समर्थ होजाते हैं। यही योगदर्शनकी विचित्रता और अलौकिकत्व है और इसी कारण तीन कर्म्मोंके बदले योगदर्शन केवल दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय दो ही कर्मोंके माननेमें समर्थ है ॥ १२ ॥

उससे क्या परिणाम होता है सो बताया जाता है—

कर्माशयके कारणभूत क्लेशोंके मूलमें रहनेसे उनका फल जाति, आयु और भोग होता है॥ १३ ॥

यह पूर्व सूत्रमें ही कह आये हैं कि कर्म्मोंके संस्कारोंकी राशिको कर्म्माशय कहते हैं; जब उस कर्म्माशयके कर्म्मरूप वीजसे भोगरूप

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

वृक्षकी उत्पत्ति होती है तब उसे विपाक कहते हैं। जिस प्रकार जब तक तण्डुलके ऊपर तुष लगा रहता है तब तक वह तुष-सहित तण्डुल अर्थात् धान बोनेसे वह बीज जम सकता है; उसी प्रकार जब तक क्लेश विद्यमान रहते हैं अर्थात् साधन द्वारा जब तक पूर्व्वोक्त क्लेशोंका लय नहीं कर दिया जाता, तब तक कर्म्माशयसे विपाकरूपी कर्म्मफल उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है। यह कर्म्म-विपाक तीन प्रकारका होता है, यथा—एक जाति, दूसरा आयु और तीसरा भोग। जिस समुदायके व्यक्तियोंके गुण परस्पर मिलते हों उस समुदायका नाम जाति है; गुण ही कर्म्मोंके सहायक हैं इस कारण गुण और कर्म्मभेदसे ही जातिभेद हुआ है; यथा—जीवकी उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज जातियाँ हैं, मनुष्यकी अनार्य तथा आर्यजाति और आर्योंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र जाति हैं। उसी प्रकार दैवजगत्की ऋषि, देवता, पितर तथा देवताओंकी भी गन्धर्व, किन्नर, विद्याधर आदि अनेक जातियाँ हैं। जीवका सूक्ष्म-शरीर भोग-शरीर नहीं है अर्थात् स्थूल-शरीरकी सहायतासे जीव कर्म्मभोग करता है; एक स्थूल-शरीरके साथ जितने दिन जीवका सम्बन्ध रहे उसे आयु कहते हैं, यथा—एक मनुष्यकी आयु जन्मसे मृत्यु पर्यन्त है। विषय, इन्द्रिय और तन्मात्राकी सहायतासे अन्तःकरणमें सुखज्ञान और दुःखज्ञान होनेका नाम भोग है। आयुके विज्ञानके समझनेके लिये यह विचारना उचित है कि आयु कैसे उत्पन्न होती है। मनुष्येतर जीवोंकी आयु तो समष्टि प्रकृतिके अधीन है इसलिये उसमें कुछ विचारनेकी बात ही नहीं है; परन्तु मनुष्यकी आयु निश्चित होनेका क्रम यह है कि मनुष्य एक स्थूल शरीरको छोड़ जब दूसरा स्थूल शरीर धारण करता है उस समय उसके कर्माशयमें रहे हुए उसके पुराने संस्कार-राशिका कुछ अंश जो आगे बढ़ कर अङ्कुरोन्मुख हो जाता है उन्हीं संस्कारोंकी फलोत्पत्ति पर्यन्त उस जीवकी आयु समझी जाती है। जिस प्रकार सात प्रकारके धातुओंके बीचमें यदि चुम्बकको रख दिया जाय तो उसके चारों ओर बिखरे हुए और सब धातु जहाँके तहाँ पड़े रहते हैं परन्तु लोहा जहाँ जहाँ रहता है वह सिमट कर चुम्बकसे आ लगता है, ठीक उसी प्रकार जीवके एक स्थूल शरीरको

छोड़ कर दूसरे स्थूल शरीरको ग्रहण करनेसे पहले उसका अन्तिम प्रबल संस्कार जिस श्रेणीका होगा उसी श्रेणीके संस्कार उसके प्राचीन संस्कारराशिसे खिंचकर उसको दूसरा शरीर प्रदान करते हैं जिसका फल जाति, आयु और भोग होता है और भोगका जो समय निश्चित होता है उसीको आयु कहते हैं। इसको और तरहसे भी समझ सकते हैं। जिस प्रकार एक गभीर जलाशयके अन्तः-स्थलमें जो जलराशि रहती है सो दिखाई नहीं देती केवल उसके ऊपरकी सतहका जलही दिखाई देता है, उसी प्रकार चिदाकाशमें अङ्कित अनन्त कर्मराशि जहाँकी तहाँ बनी रहती है, केवल दूसरा स्थूल शरीरधारण करते समय जितनी संस्कारराशि चिदाकाशसे खिंच कर मनुष्यके चित्ताकाशमें संयुक्त हो जाती हैं उन्हींसे जाति आयु और भोगकी उत्पत्ति होती है और उनके भोगके कालको आयु कहते हैं। भोगके समझनेके लिये इतना विचार करना आवश्यक है, कि भोगमें तीन वस्तुओंका सम्बन्ध रहता है। मनुष्य की मानसिक प्रकृति, शारीरिक प्रकृति और विषय। साधु संन्यासी की मानसिक प्रकृति और विषयी राजाकी मानसिक प्रकृतिमें तारतम्य होनेसे विषयके भोगमें भी तारतम्य होगा। उसी प्रकार तामसिक मनुष्यकी शारीरिक प्रकृतिसे सात्विक मनुष्यकी शारी-रिक प्रकृतिमें आकाश पातालकासा अन्तर होनेसे विषय भोगमें बहुत अन्तर पड़ जायगा और विषयके अन्तर होनेसे भोगका अन्तर तो होता ही है। अतः भोगकी उत्पत्तिमें ये तीनों विषय अवश्य ही अवस्थान्तरको उत्पन्न करेंगे। इस प्रकार कर्म्माशयरूपी कर्म्म-बीजसे जो विपाकरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है उसके जाति, आयु और भोगरूपी तीन प्रकारके फल हुआ करते हैं। कर्म्माशयसे कर्म्म-विपाककी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जिज्ञासुगणको यह सन्देह हो सकता है कि एक कर्म्म एक ही जन्मका कारण हुआ करता है, वा एक कर्म्म अनेक जन्मका कारण हुआ करता है? दूसरा सन्देह यह हो सकता है कि, अनेक कर्म्म अनेक जन्म देते हैं अथवा अनेक कर्म्म एक जन्म ही उत्पन्न करते हैं? इनके उत्तरमें विचारने योग्य है कि यदि एक कर्म्मको ही एक जन्मका कारण समझें तो बड़ी ही कठिनता पड़ेगी, क्योंकि अनादि कालसे अनादि सृष्टि द्वारा असंख्य

कर्म्म-समूहमेंसे यदि परमेश्वर जीवको एक ही कर्मसे एक जन्मका दान करते हों तो कर्मसंग्रहके समय जब कि कर्म्म करनेका कोई भी नियम नहीं है अर्थात् एक ही दिनमें अथवा थोड़े ही समयके बीचमें मनुष्य देवयोनि, पशुयोनि और मनुष्ययोनि आदि कई योनियोंके उपयुक्त कर्म्म-संग्रह कर सकता है, तो उसही क्रमके अनुसार जन्म भी होना उचित है; परन्तु ऐसा माननेमें कोई भी शैली विचारके योग्य नहीं पाई जायगी और भगवत्-अभ्रान्त नियम में अनियमरूपी भ्रान्ति देख पड़ेगी, इस कारण ऐसा नहीं हो सकता; और ऐसा माननेसे मनुष्योंको घबराहट भी बहुत होगी, क्योंकि यदि एक दिनमें भ्रमवश मनुष्य सत्कर्म्मोंके साथ एक पशु-योनि-प्राप्ति-उपयोगी कर्म्म कर डाले और चाहे पुनः देवयोनिका कर्म्म करे, परन्तु इस नियमको माननेसे बीचमें उसको पशु होना ही पड़ेगा, इस कारणसे भी यह असम्भव है। यदि एक कर्म्मसे अनेक जन्मोंका होना मानें तो अगले पिछले अनन्त कर्म्म विफल जायेंगे; क्योंकि यदि एकही कर्म्मसे अनेक जन्मोंकी उत्पत्ति होगी तो किये हुए अन्य अनेक कर्म्मोंके फलोंकी बारी आनी असम्भव है। इसी प्रकार अनेक कर्म्म अनेक-जन्मोंके कारण भी नहीं हो सकते क्योंकि एक समयमें अनेक जन्मोंका होना असम्भव है। इन सब विचारोंसे यही सिद्धान्त हुआ कि अगले और पिछले सब कर्म्म कर्म्माशयरूपी एक ही स्थानमें मिल जाते हैं और क्रमशः प्रधान और अप्रधान होकर फल देते हुए दृष्ट और अदृष्टरूपसे जन्म और जन्मान्तरकी उत्पत्ति करते जाते हैं; अर्थात् जो कर्म्म प्रधान होंगे उन्हींसे जाति, आयु और भोगरूपी एक जन्मकी प्राप्ति होगी; और इसी जन्ममें यदि कोई तीव्र काम किया जायगा जैसा कि पूर्व्व सूत्र में कह आये हैं तो वह भी इन प्रधान कर्म्मोंसे मिल कर इस ही जन्ममें फल प्रदान करेगा; और इसी रीतिसे पर-जन्ममें भी अप्रधान कर्म्मोंमेंसे कुछ प्रधान-कर्म्म होकर वे दूसरे जन्मकी सृष्टि करेंगे। यह दर्शन यह सिद्ध करता है कि योगशक्ति द्वारा साधक अपने प्राचीन कर्मराशिसे अनेक संस्कारोंको खींचकर अथवा अपने नवीन कर्मों को दबाकर अपने जाति आयु भोगरूपी अधिकारोंको न्यूना-धिक कर सकता है। योगविज्ञान यह सिद्ध करता है कि अलौ-

किक तपस्या द्वारा मनुष्य नन्दीश्वरका मनुष्यजातिसे देवजाति हो जाना सम्भव है और उनको मानुषीभोगसे दैवीभोगका प्राप्त होना भी सम्भव है। उसी प्रकार योगदर्शनविज्ञान यह सिद्ध करता है कि राजर्षि विश्वामित्रकी तरह यदि कोई लोकोत्तर योग साधनमें प्रवृत्त हो तो अपने शारीरिक और मानसिक प्रकृतिको बदलकर एक ही जन्ममें ब्रह्मर्षि बन सकता है। यही योगदर्शन-विज्ञानकी अलौकिकता है ॥ १३ ॥

इनका फल क्या है—

वे पुण्य और पापके हेतु, सुख और दुःख-
फल-युक्त होते हैं ॥ १४ ॥

वे अर्थात् जाति, आयु और भोग। संसारमें कर्म्म दो प्रकारके होते हैं: एक पुण्यरूप शुभकर्म्म और दूसरा पापरूप अशुभ कर्म्म। इसी कारण जाति, आयु और भोगरूपी कर्म्म-विपाक पुण्य अर्थात् सुखदायक और पाप अर्थात् दुःखदायक होता है। पुण्यकर्म्मसे आरम्भ हुए जाति, आयु और भोग सुखदायक हैं. उसी प्रकार पापकर्म्मसे आरम्भ किये हुए जाति आयु और भोगसे दुःखकी प्राप्ति होती है। इसी संस्कारजन्य भोगवैचित्र्यके कारण सुख देनेवाले नाना स्वर्गलोक और दुःख देनेवाले नाना नरकलोक और घोर क्लेशमय प्रेतलोक तथा शान्तिपूर्ण पितृलोक आदिकी सृष्टि हुई है। ये सब भोगलोक कर्माशयकी क्रियासे ही सम्बन्ध रखते हैं। इस स्थूल संसारमें भी ज्ञानी सन्यासी और ज्ञानहीन गृहस्थ, बलवान् राजा और निर्बल प्रजा, सुखी धनी और दुःखी निर्धन आदिका भेद कर्माशयके प्रभावसे ही है। यह सुखदुःखरूपी भ्रान्त-अनुभव कीट आदिसे लेकर मनुष्य पर्य्यन्त हुआ करता है; परन्तु ज्ञानी योगिगणको कुछ और ही अनुभव होता है: इसका वर्णन अगले सूत्रमें किया जायगा ॥ १४ ॥

विवेकियोंके लिये यह सुख कैसा है—

विषयसुखके साथ परिणामदुःख, तापदुःख तथा संस्कार-दुःखके रहनेसे और सत्त्वरजस्तमोगुणजनित सुख-

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्याऽपुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

दुःखमोहात्मिका वृत्तियोंका भी परस्पर विरोध होनेसे विवेकिगण समस्त विषयसुखको दुःख ही मानते हैं ॥ १५ ॥

सुख और दुःख का ज्ञान प्राणीमात्रको रागके द्वारा हुआ करता है; जहां राग है वहां रागकी विरुद्ध-वृत्ति भी होगी। रागकी उस विरुद्ध वृत्तिका नाम द्वेष है; इस कारण जीव जो कुछ कर्म्म करता है, वे या तो रागसे उत्पन्न होकर रागजकर्म्म कहाते हैं, अथवा द्वेषसे उत्पन्न होकर द्वेषज-कर्म्म कहाते हैं; ये दो प्रकारके कर्म्म जीवगण किया करते हैं। इन कर्म्मोंका फल दो प्रकारका होता है, एक सुखदायक दूसरा दुःखदायक। सूक्ष्म विचारसे यही सिद्ध होगा कि सुखदायक कर्म्म और दुःखदायक कर्म्ममें इतना ही अन्तर है कि जिस कर्म्मके भोगसे जीवकी इन्द्रिय तृप्त होती है वह तो सुख कहाता है और जिन कर्म्मोंके द्वारा जीवकी इन्द्रियगण तृप्त नहीं होनेसे चंचल होती रहती हैं वेही दुःख कहाते हैं। इस विचारके विरुद्धमें देहवादिगण यदि सन्देह करें कि ऐसा नहीं होता क्योंकि इन्द्रियगण विषय-भोगसे स्वयं ही थककर शान्त हो जाते हैं, इस कारण विषय-भोगसे ही शान्ति लाभ हो सकती है। इस प्रश्नके उत्तरमें यह कथनीय है कि यदि प्रकृतिकी अवस्था एकही होती तो कदापि ऐसा सम्भव हो सकता था, परन्तु प्रकृति त्रिगुणमयी और अस्थिर है, एक अवस्थाके अनन्तर दूसरी अवस्थाका होना अवश्य सम्भव है। जब विषय-भोगसे इन्द्रियगण तमोगुणको प्राप्त होकर शान्तसे प्रतीत होने लगते हैं, उनके उस शान्त होनेका कारण तमोगुण है, परन्तु पुनः जब स्वाभाविक नियमके अनुसार गुणका परिवर्तन होकर तमोगुणके स्थानमें रजोगुणकी स्फूर्ति होगी तो अवश्य वे इन्द्रियगण कार्य्य करनेके योग्य होकर पुनः अपने लक्ष्योंको ढूँढ़ने लगेंगे; जिस भांति घृतकी आहुतिसे अग्नि शान्त नहीं होती परन्तु क्षणभरके लिये ज्वालाहीन होकर पुनः तीव्रतर ज्वालाको धारण करती है, उसी

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

प्रकार जीवके इन्द्रियगण विषय-भोगसे शान्त नहीं होते परन्तु पुनः पुनः अभ्यास द्वारा सबलता धारण करके विषय-भोगमें प्रवलतर होते जाते हैं। ऐसे विचारसे योगिगण सुख और दुःख इन दोनोंको ही परम दुःख मानते हैं। जिस प्रकार शारीरिक रोगोंके निवृत्त करनेवाला आयुर्वेद शास्त्र चतुर्व्यूह अर्थात् रोग, हेतु, आरोग्य और चिकित्सा इन चारोंसे शरीरके रोगोंका नाश करता है; उसही प्रकार भवरोग-नाशकारी योग-शास्त्र अपने चतुर्व्यूह अर्थात् हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय इन चार उपायोंसे जीवके महान् भव-रोगका नाश करता है। इन चारोंमेंसे, दुःखबहुल संसार हेय है, प्रकृतिपुरुषका संयोग हेयहेतु है, संयोगकी अत्यन्त निवृत्ति हान है और विवेकद्वारा पुरुष-साक्षात्कार हानोपाय है। जीव-हितकारी पूज्यपाद महर्षिगणने दर्शनशास्त्र द्वारा सुख और दुःखका विचार करते हुए यही सिद्धान्त किया है कि वास्तवमें सुख और दुःख दोनों एक ही पदार्थ हैं; क्योंकि सुखके अभावको दुःख और दुःखके अभावको ही सुख मानते हैं, अर्थात् जब इन्द्रियगण अपने विषयोंके प्राप्त करनेके अर्थ चंचल हो रहे थे और उस चंचलतासे जो अन्तःकरणकी विकलता थी उसी विकलताका नाम दुःख है; पुनः जब विषयकी प्राप्तिसे इन्द्रियगण अपने लक्ष्यको प्राप्त करके थोड़ी देरके लिये चंचलतारहित हो जाते हैं उसी अवस्थाका नाम सुख है; तदनन्तर पुनः विषय क्षणभंगुर होनेके कारण इन्द्रियगण-की उस अवस्थाका परिवर्तन हो जाता है, अवलम्बनके नाशसे पूर्ववत् वे चंचल होकर दुःखकी उत्पत्ति करते हैं, इसी क्रमसे सुखसे दुःख और दुःखसे सुखकी प्राप्ति होती है, इसी कारण परस्पर एक दूसरेका कारण होनेके हेतु ज्ञानवान् योगिगण दोनोंकोही दुःखरूप मानते हैं। स्वरूपके विचारसे दुःखकी तीन अवस्थाएँ होती हैं, यथा—एक ताप-दुःखता, दूसरी परिणाम-दुःखता, और तीसरी संस्कार-दुःखता। सुख-अवस्थामें अपने समान मनुष्योंको देखकर ईर्षा, निकृष्टोंको देखकर घृणा आदि वृत्तियोंसे जो एक प्रकारके दुःखकी उत्पत्ति होती है उस अवस्थाका नाम ताप-दुःखता है; एतद्व्यतिरिक्त सुखभोगकालमें सुखसाधनकी पूर्णताके अभावसे, सुखविरोधी पदार्थोंके अस्तित्व और तत्प्रति

द्वेषके द्वारा तथा सुखाभावकी आशङ्का और सुखवृद्धिकी अनुक्षण चिन्तासे भी जो दुःख सुखप्रयासी विषयीको प्राप्त होता है उसका नाम तापदुःख है। परिणामदुःखताके विषयमें पहलेही बताया गया है; अर्थात् सुखभोगके परिणाममें भोगतृष्णा निवृत्त न होकर घृताहुत वह्निकी तरह क्रमशः और भी वर्द्धित होनेसे जो अशान्ति और चाञ्चल्यजनित दुःख प्राप्त होता है उसीको परिणामदुःख कहते हैं। एतद्व्यतिरिक्त सुखभोग होतेही; अर्थात् जिस विषयके प्राप्त करनेके अर्थ इन्द्रियाँ धावित हुई थीं उस विषयके पूर्ण होनेपर (जैसे कि रतिके अन्तमें) जो विकलताका पुनः उदय होता है उस अवस्थाका भी नाम परिणाम-दुःखता है। सुखकर अथवा दुःखकर वस्तुके उदय होनेसे भोगद्वारा रागद्वेषजनित संस्कारकी उत्पत्ति होती है और संस्कारसे पुनः वासनाका उदय होकर सुखके प्रति राग और दुःखके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। इस तरहसे संस्कारधाराकी अविराम गति द्वारा आवागमनचक्रमें जीवको जो दुःख उत्पन्न होता है उसको संस्कार-दुःख कहते हैं। एतद्व्यतिरिक्त विषय-भोगका काल अतीत हो जानेसे (जैसे वृद्धावस्थामें विषय सुखकी स्मृति) पुनः प्राप्तिमें निराश हो पूर्व्व सुखकी स्मृति द्वारा जो दुःखकी प्राप्ति होती है उसका भी नाम संस्कार-दुःख है। प्रकृति त्रिगुणमयी होनेसे सत्त्वगुणके द्वारा सुखमय चित्तवृत्ति, रजोगुणके द्वारा दुःखमय चित्तवृत्ति और तमोगुणके द्वारा मोहमय चित्तवृत्ति विषयीके अन्तःकरणमें परिणामिनी प्रकृतिके स्वधर्मानुसार सदाही होती रहती है और इन सुख-दुःख-मोहात्मिका वृत्तियोंमें परस्पर विरोध-सम्बन्ध रहने के कारण कभी सुखमयवृत्तिका उदय और अन्य दो वृत्तियोंका पराभव, कभी दुःखमयवृत्तिका उदय और अन्य दो वृत्तियोंका पराभव, कभी मोहमयवृत्तिका उदय और अन्य दो वृत्तियोंका पराभव इस प्रकारसे गुणवृत्तिविरोधजनित दुःख विषयी जीवके चित्तमें सदाही बना रहता है। यह तीनों प्रकारका दुःखरूपी परिणाम तथा गुणवृत्ति-विरोधजन्य दुःख प्रत्येक सुखके साथ लगा हुआ है, ऐसे विचार-युक्त होकरही प्रज्ञायुक्त योगिगण विषय-सम्बन्धी सुख और दुःख उभयकोही सुवर्णमयी शृंखला और लोहमयी शृंखलाकी नाईं परिणामतः बन्धनरूप समझते हुए दुःख-

रूपी जानते हैं। वैषयिक सुखोंमें इस प्रकार दुःखबोध केवल विवेकी पुरुषके हृदयमेंही होता है। अन्यथा अविवेकी विषयी पुरुष इन सभोंमें कुछ भी दुःख न देखकर विषयमुग्ध रहता है। इसलिये सूत्रमें "विवेकिनः" शब्दका प्रयोग किया गया है। महर्षि वेदव्यासने इस सूत्रके भाष्यमें लिखा है कि विवेकिगण अक्षिपात्रकी तरह होते हैं अर्थात् जिस प्रकार ऊर्णातन्तु शरीरके किसी अन्य अङ्गपर पड़नेसे यद्यपि उससे कोई भी क्लेश नहीं होता है, परन्तु वही तन्तु आँखपर गिर जानेसे बड़ा क्लेश होता है और कभी कभी आँखें अन्धी भी हो जाती हैं। ठीक उसी प्रकार विषयसुखके साथ अवश्य सम्भावी परिणामादि दुःख अविवेकी विषयीके चित्तमें कुछ भी दुःख उत्पन्न न करनेपर भी विवेकिगण उसे दुःखही समझते हैं। पिछले सूत्रोंमें कह चुके हैं कि मिथ्याज्ञानरूपी अविद्याही क्लेश, कर्म और कर्मफल-समूहकी कारण है; अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकारने यही सिद्धान्त कर दिखाया है कि इनसे जो सुख और दुःखरूपी फलोंकी उत्पत्ति होती है उनके मूलमें अविद्या होनेके कारण यथार्थमें वे दोनों ही परम दुःखरूपी हैं; इस कारण योगयुक्त ज्ञानी पुरुषके विचारमें वे त्यागने योग्य ही हैं॥ १५॥

अब चतुर्व्यूहोंमेंसे हेयका स्वरूपनिर्णय किया जाता है—

अप्राप्त दुःख त्यागने योग्य है॥ १६॥

जो दुःख भोग हो चुका है उसके लिये तो कुछ कहने योग्यही नहीं है; जो अब वर्त्तमान कालमें भोग होरहा है वह भी विचारने योग्य नहीं है, क्योंकि यह दोनों दुःखही जीवके सन्मुख आ चुके हैं; अब केवल वही दुःख विचारने योग्य है जो भविष्यत्में आवेगा; अर्थात् जिसका भोग अभी आरम्भ नहीं हुआ है परन्तु होना अवश्य सम्भव है। उसही अप्राप्त दुःखकी गतिको विचार कर योगिगण सदा त्याग कर देनेमें पुरुषार्थ करते हैं; महर्षि सूत्रकारका इस सूत्रसे यही तात्पर्य है कि अप्राप्त दुःखहीको साधकगण त्यागने योग्य समझ कर साधन करें। विवेकज्ञानका उदय होनेसे जब भविष्यत्में आनेवाले आध्यात्मिक आधिदैविक और

हेयं दुःखमनागतम्॥ १६॥

आधिभौतिक दुःखोंके बीज तक नाश होजायँगे तो पुरुषके लिये बन्धनकी कोई भी वस्तु न रहनेसे पुरुष अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होसकेगा। अतः योगीको पुरुषार्थ द्वारा सदाही ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे अनागत भविष्यद् दुःखकी प्राप्ति न हो। त्रिविध दुःखके विचार करनेसे यही निर्णय होगा कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरसे साक्षात् उत्पन्न जो शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, उन सब दुःखोंको आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। दैवकी प्रेरणासे वज्रपातादिके द्वारा या ऐसेही अन्य कारणोंसे जो दुःख उत्पन्न होते हैं, उनको अधिदैव दुःख कहते हैं और अन्य व्यक्ति तथा अन्य जीवोंके द्वारा जो दुःख प्राप्त होते हैं उनको आधिभौतिक दुःख कहते हैं। यद्यपि ये सब दुःख कर्मज हैं परन्तु आध्यात्मिक दुःख स्वतःही जीवपिण्डमें उत्पन्न होता है, आधिदैविक दुःख देवतागण स्वयं उत्पन्न करते हैं और आधिभौतिक दुःख कर्मकी प्रेरणासे अन्य पिण्डोंके द्वारा उत्पन्न होता है। यद्यपि सब कर्मके प्रेरक देवतागणही होते हैं परन्तु इन तीनोंमें निमित्तोंका भेद है और इन दुःखोंकी जो स्वतन्त्र स्वतन्त्र अवस्थाएँ हैं सो पहले सूत्रोंमें भलीभांति वर्णन कर चुके हैं। अतः तत्त्वज्ञानिगण जब अपने विचार द्वारा दुःखोंका स्वरूप और उनकी अवस्थाओं का निर्णय कर लेते हैं तो अवश्यही उनको हेय समझकर उनसे बचनेका प्रयत्न निरन्तर करते रहते हैं ॥ १६ ॥

क्रमप्राप्त हेयहेतुका निर्णय किया जाता है—

द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेयहेतु अर्थात् अनागत त्रिविध दुःखों का कारण है ॥ १७ ॥

द्रष्टा अर्थात् देखनेवाला, दृश्य अर्थात् जो देखा जाय इन दोनोंका जो एकत्व-सम्बन्ध है वही त्रिविध दुःखमय संसारका कारण है। द्रष्टा पुरुष, दृश्य अर्थात् बुद्धि-तत्त्व-रूपी अन्तःकरणके साथ अविद्याके कारण मिलकर अपने आपको अन्तःकरणवत् मानने लगता है; यह माननाही द्रष्टा और दृश्य का एकत्व-सम्बन्ध है। अनादि अविद्याके कारण जब शुद्ध-मुक्त-चैतन्य अपने आपको अन्तः-

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

करण मानने लगा तब जड़रूपी त्रिगुणात्मक प्रकृतिके स्वाभाविक गुणों द्वारा प्राकृतिक अन्तःकरणमें भी परिवर्त्तन होने लगा; अर्थात् विषयों की सहायतासे अन्तःकरण विषयवत् होकर उसको उन्ही विषयोंके कारण सुख-दुःखरूपी क्लेशोंका अनुभव होने लगा और वही अनुभव चैतन्यरूपी पुरुषको भी पहुँचने लगा। जैसे संसारमें अनेक बालक हैं और पीड़ा भी अनेक बालकोंको होती है, परन्तु पीड़ित बालकको पीड़ाकी यंत्रणासे क्लेशित देखकर उस बालककी स्नेहमयी जननी जिस प्रकार अपने आपको क्लेशित मानके क्लेश अनुभव करती है, परन्तु उस प्रकार संसारके अन्य बालकोंको क्लेशित देखकर क्लेश अनुभव नहीं करती; तैसेही शुद्ध-मुक्त-चैतन्यने भी अविद्याके कारण अपने आपको जड़मय अन्तःकरण मान रक्खा है, इसी कारण अन्तःकरणके अनुभव किये हुए क्लेशों को वे अनुभव किया करते हैं। तत्त्वज्ञानी हेयहेतुका विचार करनेमें प्रवृत्त होकर यह समझ लेते हैं कि अज्ञानजननी अविद्यासे ही जो चिज्जडग्रन्थिरूप द्रष्टा और दृश्यका मिथ्या सम्बन्ध बन गया है वही सब दुःखोंका मूल है। द्रष्टा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव और दुःखसे अतीत है और दृश्यरूपी प्रकृति परिणामिनी होनेसे दुःख-प्रसविनी है। और इन दोनों का अज्ञानसे उत्पन्न मिथ्या सम्बन्ध जब सब दुःखों का कारण है तो वह संबन्ध न रहने पावे इसीके लिये तत्त्वज्ञानिगण सदा योगानुष्ठानमें रत रहकर प्रयत्न करते हैं। इस सूत्रसे महर्षि सूत्रकारका यही तात्पर्य्य है कि द्रष्टा-पुरुष और दृश्य-अन्तःकरणका जो एकत्व-सम्बन्ध है, आदि कारण होनेसे यही सब क्लेशोंका मूल है; इस कारण मुमुक्षुगणको यह द्रष्टा और दृश्यका एकत्व-सम्बन्ध त्याग देने योग्य है ॥ १७ ॥

अब हानके लिये पहले दृश्यका स्वरूप कहा जाता है—

प्रकाश, क्रिया और स्थिति-स्वभाव, स्थूलसूक्ष्मभूत तथा इन्द्रियात्मक और भोग-मोक्षकी हेतु त्रिगुणमयी प्रकृतिही दृश्य है ॥ १८ ॥

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाऽपवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

सत्त्वगुणका स्वभाव प्रकाश है, रजोगुणका स्वभाव क्रिया करना है और तमोगुणका स्वभाव स्थिति अर्थात् आलस्य है। प्रकाश, क्रिया और स्थितिरूपी सत्त्व, रज और तमोगुण प्रकृति के स्वभावसिद्ध गुण हैं: ये तीनों परस्पर मिले जुले रहते हैं। जहां जिस गुण की प्रधानता होती है वहां उसी गुण का रूप दिखाई देता है, और इसी प्रधानता के कारण उस गुण और उस गुण के कार्यको उसी गुणका कहते हैं। इसलिये सत्त्व-रजस्तमोगुणमय दृश्यको प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील कहा है। सूत्रमें कथित 'भूत' शब्दके द्वारा पृथिव्यादि पञ्चस्थूलभूतोंसे रूप-रसादि पञ्च तन्मात्रापर्यन्त स्थूल-सूक्ष्म भूतात्मक दश वस्तु समझनी चाहिये। इन्द्रिय शब्दसे पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण जिसमें महत्तत्त्व, अहंतत्त्व और मन है, यह त्रयोदश वस्तु समझनी चाहिये इस प्रकारसे महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, मन, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और पञ्चमहाभूत ये त्रयोविंशति तत्त्व दृश्य कहलाता है जो त्रिगुण-वैषम्य द्वारा प्रकट होता है। और त्रिगुणकी समताकी जो अवस्था है उसको प्रकृति कहते हैं। प्रकृति-विकाररूप इस दृश्यके साथ औपचारिक सम्बन्ध होनेसेही पुरुष दृश्यके भोक्ता हैं और इस दृश्यके स्वरूपको जानकरही पुरुष अपवर्गको लाभ कर सकते हैं। इस कारण पुरुषके लिये भोग तथा अपवर्गका प्रयोजन होनेसेही सूत्रमें दृश्य को 'भोगापवर्गार्थं' अर्थात् पुरुषके लिये भोग और अपवर्गका कारणरूप कहा गया है। प्रकृति जब अपने त्रिगुण-वैषम्यके कारण परिणामिनी होकर चतुर्विंशति अङ्गों में विभक्त होती है तभी वह अविद्या कहलाती है और प्रकृतिकी यह वैषम्यदशा ही बन्धन-का कारण है और जब प्रकृति अपनी परिणाम दशासे बगदकर अपने तेईस विकारोंको अपनेमें समेट अपनी चौबीसवीं साम्यावस्थामें पहुँचकर शुद्ध-सत्त्व-गुणमयी बनती है तभी वह विद्या कहाती है: और यही विद्या जीवकी मुक्तिका कारण बनती है। इसी कारण दृश्यको भोग और मोक्ष दोनोंका ही कारण बताया गया है त्रिगुण-मयी प्रकृतिका विस्तार ही यह संसार है: जिह्वा, नासिका, कर्ण, नेत्र और त्वचा रूपी पञ्च इन्द्रिय, रस, गन्ध, शब्द, रूप

और स्पर्शरूपी पंच-तन्मात्राकी सहायतासे त्रिगुणप्रकृतिमय अन्तःकरण बहिर्विषयोंको ग्रहण करता हुआ अपनी गुण-प्रधानता-के अनुसार सृष्टि किया करता है; इस कारण सृष्टि केवल त्रिगुणमयी-प्रकृतिका विस्तारमात्र ही है। यह पूर्व्व ही कह चुके हैं कि निष्क्रिय पुरुष अविद्याके कारण अपने आपको अन्तःकरण माने हुए हैं; इस कारण जैसे प्रतापशाली दिग्विजयी महाराजाके नाना योद्धागण ही जय पराजयरूपी युद्ध-कार्य्य किया करते हैं, परन्तु उनके किये हुए कर्म्मोंका फल उस नृपवरमें ही आरोपित होकर वही उन फलोंका भोगी होता है; वैसे ही प्रकृति के किये हुए बन्धन और मोक्ष रूपी कर्मोंका भोगी पुरुष होजाता है। द्रष्टा पुरुष और दृश्य प्रकृति है; अविद्याके कारण जब तक द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध है तब तक सृष्टि है और तबही तक भोग भी है, यह सम्बन्ध छूट जानेसे ही मुक्त-स्वभाव पुरुष प्रकृतिके फन्देसे छूटकर मुक्त हो जायगा ॥ १८ ॥

दृश्यका लक्षण बताकर अब उसकी चार अवस्थाएँ बताई जाती हैं-

गुणों की चार अवस्थाएँ हैं; यथा—विशेषावस्था, अविशेषावस्था, लिङ्गावस्था और अलिङ्गावस्था ॥१९॥

दृश्यरूपी प्रकृतिको और भी विशेषरूपसे वर्णन करनेके लिये उसकी चार अवस्थाओंका वर्णन इस सूत्र द्वारा किया गया है। सांख्यदर्शनकर्त्ता महर्षि कपिलने त्रिगुणमयी-प्रकृतिको चौबीस-तत्त्वोंमें विभक्त किया है; यथा—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँच भूत कहाते हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच तन्मात्रा कहाती हैं, कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पाँच ज्ञान-इन्द्रिय कहाती हैं, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुदा ये पाँचों कर्म्म-इन्द्रिय कहाती हैं, और इन सबोंके आधार-रूपी अन्तःकरणके मन, बुद्धि, और अहङ्कार ये तीन भेद हैं; इस प्रकार तेईस और अव्यक्ता प्रकृति मिलकर त्रिगुणमयी प्रकृतिके चौबीस भेद हुए। इन्ही चौबीस तत्त्वोंकी स्थूल सूक्ष्म और कारण

विशेषाऽविशेषलिंगमात्राऽलिंगानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

भेदसे तीन अवस्थाएँ और अव्यक्त प्रकृति ये सब मिलकर गुणके चार भेद कहाते हैं; यथा—पञ्च-भूत पञ्चकर्म्मेन्द्रिय पञ्चज्ञानेन्द्रिय और मन तक विशेषावस्था, पञ्च तन्मात्रा और अहङ्कार तक अविशेषावस्था, ज्ञानका आधार महत्तत्त्वही लिङ्गावस्था और साम्यावस्थायुक्त प्रकृति अर्थात् प्रधानकी अवस्थाही अलिङ्गावस्था कहाती है। योगिगणको इन चारों अवस्थाओंका ज्ञान होना उचित है; क्योंकि ये चार अवस्था ही हेय हैं और इस चतुरवस्थामय दृश्यके ज्ञानसे ही द्रष्टा पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित हो सकता है। क्योंकि जो पदार्थ पुरुषके फँसानेका कारण है, यदि योगयुक्त अन्तःकरण द्वारा योगी उसीका यथार्थ स्वरूप जान जाय तो उसमें विराजमान पुरुष अपने दृश्यमें कदापि नहीं फँसेगा ॥ १९ ॥

हेयरूप दृश्यका वर्णन करके अब द्रष्टाका वर्णन किया जाता है—

द्रष्टा अर्थात् पुरुष यद्यपि चेतनमात्र और धर्म्माधर्म्म-रहित है तथापि बुद्धिवृत्तिके उपरागसे द्रष्टाकी तरह प्रतीत होते हैं ॥ २० ॥

पूर्व्व सूत्रमें महर्षि सूत्रकार दृश्यके रूपको विस्तृतरूपेण वर्णन करके, अब इस सूत्र द्वारा द्रष्टाका रूप वर्णन कर रहे हैं। ज्ञानरूपी बुद्धि द्वाराही जीव सत् असत् कर्म्मोंका विचार कर सकता है; जीवका आधारस्थल अन्तःकरण है और अन्तःकरणकी प्रधान-वृत्ति बुद्धि है; बुद्धि ही पुरुषसे निकट सम्बन्ध रखती है। जब विचारवान् पुरुषको अपनी बुद्धिके सत् असत् होनेका विचार हुआ करता है, तो इससे यह भी प्रमाणित होता है कि बुद्धिकी सत् असत् अवस्थाका विचार करनेवाला पुरुष ही है; जब तक बहिर्दृष्टि-वृद्धि होनेके कारण बुद्धि चञ्चल रहती है तब तक उसमें यह विचार नहीं आसकता, पुनः बुद्धि स्थिर होने पर ज्ञानस्वरूप पुरुषकी सहायतासे वह इस विचार करनेकी योग्यताको प्राप्त कर लेता है; ज्ञानस्वरूप चेतन-पुरुषकी सहायतासे ही बुद्धिमें सत् असत् विचाररूपी ज्ञानकी शक्ति होती है, बुद्धिमें जितना पुरुषका

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

सम्बन्ध अधिक होता जाता है उतनी ही बुद्धिकी शक्ति बढ़ती जाती है; इन्हीं कारणोंसे बुद्धिकी और पुरुषकी स्वतन्त्रता सिद्ध होती है। द्रष्टा पुरुष शुद्ध साक्षीरूप और केवल चेतनमात्र हैं, दृश्य प्रकृतिके सङ्गसे सङ्गदोषके कारण उनमें प्रकृतिके दोष भान होने लगते हैं और वे प्रकृतिके द्रष्टारूपमें प्रतीत होने लगते हैं। इस सूत्रमें 'मात्र' शब्दका प्रयोग इसलिये किया गया है कि पुरुष वास्तवमें चेतनस्वरूप हैं, चेतनावान् या चैतन्यधर्मसे धर्मी नहीं हैं। इस प्रकार धर्मधर्मिभावके निरसनार्थ ही मात्र शब्दका प्रयोग हुआ है। 'शुद्ध' शब्दका अर्थ परिणाम आदि धर्मसे रहित है। प्रत्यय अर्थात् बुद्धिवृत्ति है; इसीका अनुसरण करके चैतन्यस्वरूप और धर्मधर्मिभाव-रहित उदासीन पुरुष भी द्रष्टाकी तरह प्रतीत होते हैं। यही 'प्रत्ययानुपश्य' शब्दका तात्पर्य है। पुरुषका इस प्रकार बुद्धिप्रतिबिम्बित होकर द्रष्टृरूपमें प्रतिभात होना ही बन्धन है और विवेक द्वारा अपने उदासीन, चैतन्यमय स्वरूपको समझना ही मुक्ति है। जिस प्रकार शुद्ध स्फटिकमणिके सामने यदि कोई रङ्गीन पदार्थ रक्खा जाय तो स्फटिकमणि स्वभावतः निर्मल, शुद्ध और सङ्ग रहित होने पर भी उसी रङ्गीन वस्तुका रङ्ग धारण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव परिणामरहित पुरुष प्रकृतिरूपी दृश्यके सम्पर्कसे उसके द्रष्टा-रूपसे प्रतीत होने लगते हैं। ऐसाही दृश्यके रूपमें द्रष्टाका प्रतीत होना बन्धन है और दृश्यका यथार्थ स्वरूप तथा अपना यथार्थ स्वरूप समझ लेना-ही पुरुषकी मुक्ति है ॥ २० ॥

दृश्य और द्रष्टाका स्वरूप वर्णन करके अब उनका परस्परापेक्षित्व-सम्बन्ध बताया जाता है—

दृश्यका स्वरूप द्रष्टा पुरुषके भोगापवर्ग-सम्पादनार्थ ही है, किसी स्वार्थसिद्धिके लिये नहीं है ॥२१॥

यह पहलेही कह चुके हैं कि सृष्टि-क्रिया दृश्य अर्थात् परिणा-मिनी प्रकृति करती है, पुरुष निष्क्रिय हैं; परन्तु द्रष्टा अर्थात् पुरुष और दृश्य अर्थात् परिणामिनी प्रकृतिका एकत्र सम्बन्ध होनेके

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

कारण दृश्यके किए हुए कार्य्यको द्रष्टा अपना करके मानता है। अब इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकार यह कहते हैं कि यदिच ऐसा ही है तथापि प्रकृति जो कुछ करती है वह पुरुषके भोग और मोक्षके अर्थ ही करती है; जिस प्रकार पुत्रके उत्पन्न होनेपर माताके स्तनमें दुग्धका होना स्वाभाविक है, परन्तु वह दुग्ध पुत्रके भोगार्थही उत्पन्न हुआ है। पुरुषकी स्थिति है, इस कारण ही प्रकृतिकी भी स्थिति है, यदि पुरुषका अस्तित्व न होता तो प्रकृति भी कदापि न रह सकती। जिस प्रकार निष्क्रिय चुम्बकके सामने रहनेसे स्वतः ही लोहेमें क्रिया उत्पन्न होती है, उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुषके सान्निध्यमें रहनेसे दृश्यमें तन्मात्रा इन्द्रिय आदि रूप जो कुछ विकार और क्रिया उत्पन्न होती है, उन सभोंका प्रयोजन दृश्यके अपने अर्थ नहीं है, परन्तु पुरुषके भोगापवर्ग-सम्पादनार्थ ही है। यही सूत्रगत 'एव' शब्दका तात्पर्य है। पुरुष प्रकृतिके उन विकारोंको देखता हुआ उनसे पृथक् होकर जब स्वरूपस्थित होजाता है उस समय उस पुरुषके लिये प्रकृतिके अस्तित्वका भी कोई प्रयोजन नहीं रहता है। इसलिये स्वरूपस्थित पुरुषकी प्रकृति उनके लिये लयको प्राप्त होजाती है, जैसा कि आगेके सूत्रमें वर्णन किया जाता है। इस सूत्रसे यह भी तात्पर्य है कि नित्य मुक्त पुरुषके लिये प्रकृतिका अस्तित्व केवल बन्धनदशामें ही अपेक्षित है, मुक्तदशामें नहीं। परन्तु प्रकृति पराधीना होनेसे प्रकृतिके अस्तित्वके लिये पुरुषका अस्तित्व अवश्यम्भावी है; क्योंकि प्रकृतिके शक्तिरूपिणी होनेसे, प्रकृतिके जडा होनेसे और प्रकृतिके पराधीना होनेसे शक्तिमान्, चेतन और स्वाधीन पुरुषकी सत्ताके विना प्रकृतिकी सत्ता रह ही नहीं सकती है। अतः दृश्य प्रकृतिकी सत्ता द्रष्टा पुरुषके भोग और मोक्षके लिये ही है॥ २१॥

मुक्तामुक्त पुरुषोंके लिये दृश्यकी स्थिति कैसी है?

मुक्तपुरुषके संगकी प्रकृतिके नष्ट होने पर भी वास्तवमें प्रकृति नष्ट नहीं होती है, क्योंकि वह दूसरेमें व्याप्त होती है॥ २२॥

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२॥

द्रष्टा अर्थात् पुरुषके निमित्त ही दृश्य अर्थात् परिणामिनी प्रकृतिका प्रयोजन है जैसा कि पूर्व्वसूत्रमें कह चुके हैं, इस कारण यदि ऐसा सन्देह उठे कि जब दृश्य ही परिणाम-रहित और अक्रिय होजायगा तो जगत्के सभी द्रष्टा मुक्त होजायँगे। इसके उत्तरमें यह कथनीय है कि यद्यपि ज्ञानके उदय होने से जब अविद्यारूपी भ्रम का नाश होजाता है तो दृश्य पदार्थ भी नाशको प्राप्त होजाता है, परन्तु ऐसे पूर्ण-ज्ञानरूपी ऋतम्भरा का उदय होना और दृश्यरूपी प्रकृति का नष्ट होना एकही जीवपिण्डमें होता है; तथापि प्रकृति और पुरुष का अनादि और अनन्त-सम्बन्ध और और असंख्य जीवपिण्डोंमें रहता ही है; जिसमें दृश्य नष्ट होजाता है केवल उसही का द्रष्टा मुक्त होजाता है परन्तु द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध प्राप्त हुए अनन्त-जीव अनादि कालसे हैं और अनन्त काल तक रहेंगे क्योंकि जीवसृष्टिका प्रवाह अनादि और अनन्त है। जिस पुरुषमें की प्रकृति नष्ट होगई है केवल उसीमें प्रकृति का अन्त समझना उचित है, परन्तु और और अनन्त-जीवोंमें प्रकृति अनन्त ही रहेगी। तत्त्वज्ञानप्राप्त जीवपिण्डमें पुरुषके दृश्यके बन्धनसे मुक्त होजाने पर भी अन्यान्य जीवपिण्डोंमें प्रकृतिका वैभव वैसाही बना रहेगा। इस कारण यह शंका निर्मूल है ॥२२॥

अनन्त जीवोंमें इस प्रकार अनादि संयोग किसलिये होता है:—

दृश्य और द्रष्टामें स्वरूपोपलब्धिनिमित्तक जो भोग्य-भोक्तृभाव सम्बन्ध है उसे संयोग कहते हैं ॥२३॥

स्वशक्ति अर्थात् दृश्यस्वभाव और स्वामिशक्ति अर्थात् द्रष्टृ-स्वरूप इन दोनोंका अविद्याजनित जो भोग्यभोक्तृरूपसे सम्बन्ध है उसका नाम संयोग है। प्रकृतिपुरुषका अविद्यामूलक यह संयोग अनादि और वियोगान्तस्थायी है; क्योंकि अविद्या अनादि है। द्रष्टा अर्थात् पुरुष जब प्रकृतिके त्रिगुणमय स्वरूपको पहचान कर उससे अलग होजाता है तभी उस प्रकार भोग्यभोक्तृभाव का नाश होकर पुरुषको स्वरूपप्राप्ति होती है। इसलिये सूत्रमें "संयो-

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुस्संयोगः ॥ २३ ॥

गका हेतु प्रकृति और पुरुषकी स्वरूपोपलब्धि है" ऐसा कहा गय है। 'स्वरूपोपलब्धि' इस पदके साथ स्व अर्थात् दृश्य और स्वामी अर्थात् द्रष्टा दोनोंका ही सम्बन्ध रहनेसे यह पद दोनोंही का वाचक है ऐसा समझना चाहिये। पूर्व सूत्रसे पुरुष की मुक्तिका सिद्धान्त निश्चय होनेपर भी प्रकृतिके अनादि और अनन्त होनेका भी प्रमाण मिलता है। जब प्रकृति अनादि और अनन्त है, तब उसके द्वारा उत्पन्न जीवसृष्टि—प्रवाह भी अनादि और अनन्त होगा, यह निश्चय है। इस कारण स्वतः ही शंका हो सकती है कि इस प्रकार जीव-सृष्टिलीला-प्रवाह यदि अनादि और अनन्त हुआ तो ऐसे हेयहेतुक सृष्टिप्रवाह की उत्पत्तिका कारण क्या है। अतः सृष्टिकी कारणान्वेषणरूपी बड़ी भारी शंकाके निराकरणके लिये महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। प्रकृति जब पुरुषके लिये ही है तो प्रकृति पुरुषकी ही है यह सिद्ध हुआ। अस्तु, परमात्मारूपी परमपुरुष की मूलप्रकृतिरूपिणी महाप्रकृति अपने त्रिगुणजनित स्वभावसे सदा परिणामिनी होती हुई अनादि अनन्त जीवसृष्टि-प्रवाहको बहाती ही रहती है और उसके इस प्रकार स्वभावसिद्ध परिणामधर्मिणी होनेके कारण परम पुरुष परमात्माके अंशरूप अनन्त जीवात्माएँ अविद्या-जालमें फंसकर जीवरूपसे अनादि अनन्त सृष्टिप्रवाहमें उत्पन्न होतेही रहते हैं। अतः चिज्जडग्रन्थिरूप जीवभावोत्पन्नकारी संयोग उत्पन्न करना मूलप्रकृतिका स्वभाव है। इसलिये मूल-प्रकृतिका अविद्यारूप धारण करके जिस प्रकार एक ओरसे जीव-भाव उत्पन्न कर देना स्वभाव है, उसी प्रकार दूसरी ओरसे विद्या-रूप धारण करके द्रष्टृदृश्यसम्बन्धको दूर करते हुए जीवभाव की विमुक्ति करदेना भी उसका स्वभाव है। त्रिगुणमयी मूलप्रकृति तमोगुणकी ओरसे जीवपिण्डको उत्पन्न करती है और सत्त्वगुणकी ओरसे जीवपिण्डका विलय करके अपना स्वरूप और परम—पुरुषका स्वरूप दिखाकर जीवको मुक्त भी कर देती है। इस कारण यह माननाही पड़ेगा कि स्वशक्तिरूप दृश्य और स्वामि-शक्तिरूप द्रष्टा दोनोंका ही स्वरूपोपलब्धि करादेना ही अघटन घटनापटीयसी मूलप्रकृतिकी इस संयोगरूपी क्रियाका प्रयोजन है और यही अलौकिक सृष्टितत्त्व का रहस्य है ॥ २३ ॥

अब हानके वर्णनार्थ संयोगका मूलकारण बताया जाता है।

उसका हेतु अर्थात् कारण अविद्या है ॥ २४ ॥

इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकार पूर्व्व सूत्रकथित संयोग का कारण वर्णन कर रहे हैं। अविद्या जिसका वर्णन पहिलेही कर चुके हैं वह अर्थात् विपरीत-ज्ञानकी वासना से भरी हुई बुद्धि आत्मज्ञानको प्राप्त नहीं करा सकती; जब तक अन्तःकरणमें वासना है तबतक वह वासनायुक्त पदार्थ कैसे निर्विषयरूपी मोक्षपद को प्राप्त करा सकता है। इस स्थलपर श्रीभगवान् वेदव्यासजीने एक हास्योद्दीपक इतिहासका वर्णन किया है कि एक नपुंसककी स्त्रीने अपने पतिसे पूछा "हे आर्य्यपुत्र! मेरी भगिनीके तो सन्तान हैं परन्तु आप मुझसे क्यों नहीं सन्तान उत्पन्न करते ?" तब उस नपुंसक पतिने उत्तर दिया कि "मैं मरकर पुनः तुमसे सन्तान उत्पन्न करूंगा"; अब विचारने योग्य है कि जब वह पति जीते जी सन्तान उत्पन्न नहीं कर सका तो मरकर कैसे करेगा। ऐसे ही जब उपस्थित अवस्थामें बुद्धिरूपी अन्तःकरण तो कुछ कर ही नहीं सकता तो पुनः मरकर अर्थात् नाश होकर क्या कल्याण करेगा। विपर्यय—ज्ञानरूपी अविद्या ही विवेकख्याति—हेतुरूप संयोगका कारण है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि सृष्टिप्रवाहका उत्पन्न करना प्रकृतिका स्वभाव है और वह प्रवाह अनादि और अनन्त है, परन्तु द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध स्थापन करके पुरुषको बन्धनदशा प्राप्त करनेका मूल कारण अविद्या है। अविद्याके दूर होनेसे द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध दूर हो सकता है, अन्यथा यह सम्बन्ध नहीं दूर हो सकता ॥ २४ ॥

हेय और हेयका कारण बताकर अब तृतीय व्यूहरूपी हानका स्वरूप बताया जाता है—

अविद्याके अभावसे संयोगका अभाव होता है इसको हान कहते हैं और यही पुरुषकी कैवल्य-प्राप्ति है ॥ २५ ॥

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

जब उसका अभाव हो जाता है अर्थात् अविद्याका अभाव जब होजाता है; तब अन्तःकरण और आत्माके संयोगका भी अभाव होजाता है; अर्थात् शुद्ध-मुक्त-आत्माने जो अपने आपको अन्तःकरण या दृश्यवत् मान रक्खा था वह भ्रम दूर होजाता है; तो बन्धनकी निवृत्ति होकर पुरुष मुक्त होजाता है; और वही मुक्तावस्था कैवल्य-पद है। पूर्व्व सूत्रोंमें कथित ऋतम्भरा नामक पूर्णज्ञानके उदय होनेसे अविद्यानामक मिथ्याज्ञानका नाश हो जाता है; तब अविद्या का अभाव होनेसे द्रष्टा और दृश्यके संयोगका भी अभाव होजाता है, इसही अवस्थाका नाम हान है; इस हान अवस्थाकी प्राप्तिके अनन्तर निर्विकल्प-समाधिरूपी कैवल्यकी प्राप्ति होती है। अविद्या रूपी-मिथ्याज्ञानसे ही असत्यको सत्य मानकर अज्ञानजनित चिज्जडग्रन्थि उत्पन्न हुई थी और उसी कारण द्रष्टा और दृश्यका संयोग बनकर जीवभावकी उत्पत्ति हुई थी। योगमें सफलता द्वारा ऋतम्भरा की सहायतासे अविद्याका नाश होते ही द्रष्टा—दृश्य—संयोगरूपी चिज्जडग्रन्थिका नाश हो जाता है। तात्पर्य्य यह है कि इन अवस्थाओंका ठीक ठीक वर्णन शब्दद्वारा होना कठिन है; निरवयव रूपरहित वस्तुका विभाग करना असम्भव है; जब विवेकख्याति उत्पन्न होती है तब अविवेकसे उत्पन्न हुआ पूर्वोक्त संयोग आपही नष्ट होजाता है और यही हान कहाता है; जो संयोगका हान है, वही पुरुषका कैवल्य है ॥ २५ ॥

अब चतुर्थ व्यूहरूप हानोपायका वर्णन किया जाता है—

मिथ्या-ज्ञानरहित विवेकख्याति हानका उपाय है ॥२६॥

मूलप्रकृति अविद्यारूप धारण करके चिज्जडग्रन्थि उत्पन्न कर द्रष्टृदृश्यका सम्बन्ध स्थापन करती है। यही जीवकी बन्धनदशा है। परन्तु पुनः वही मूलप्रकृति जब विद्यारूप धारण करके ज्ञान-प्रसविनी बन जाती है तभी चिज्जडग्रन्थि कट कर द्रष्टा और दृश्यका मिथ्यासम्बन्ध अपने आप ही नष्ट होजाता है। बुद्धि सब जीवोंमें ही है परन्तु उस बुद्धिमें रज और तमोगुणका न्यूनाधिक सम्बन्ध

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

रहनेसे बुद्धिकी ज्ञान-शक्तिमें तारतम्य आजाता है; अर्थात् जिस जीवमें जितना सत्त्वगुण अधिक होता है उसकी बुद्धि उतनी ही तीव्र होती है; परन्तु कितना ही हो जीवबुद्धिमें कुछ न कुछ रज और तमोगुण रहता ही है, इस कारण जीव-बुद्धि असम्पूर्ण है; और जीव-बुद्धिका परिवर्त्तन भी अवश्य सम्भव है। जब बुद्धि रज और तमोगुणसे उपराम होकर, कर्तृत्व और भोक्तृत्व अभिमानसे रहित होकर, शुद्ध-सत्त्वगुणमें पहुंचकर और अन्तर्मुखी होकर निश्चल पूर्ण-ज्ञान-रूपी विवेक अवस्थाको प्राप्त करलेती है; और उसमें विप्लव अर्थात् मिथ्याज्ञानकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती है तब वह स्थिर-बुद्धि ही हानअवस्थाप्राप्तिका उपाय है। इस सूत्रका यही तात्पर्य्य है कि पूर्णज्ञान-रूपी बुद्धि जो स्थिर और निर्मल हो अर्थात् जिसमें परिवर्त्तन की सम्भावना ही नहीं रहे, उसी विवेकख्याति नामक बुद्धि के उदय होने से मिथ्याज्ञानरूप अविद्याका बीज तक नाश होजाता है; और तब ही हान-अवस्था की प्राप्तिके द्वारा जीव मुक्त होसकता है॥ २६॥

अब विवेकख्यातिकी सप्त दशाएँ बताई जाती हैं—

विवेकख्यातिनिष्ठ पुरुषकी प्रज्ञा उत्तरोत्तर उन्नतिशील सप्त भूमियोंमें विभक्त होती है॥ २७॥

पूर्व्व सूत्रमें जो हानोपायरूप विवेकख्यातिकी अवस्था वर्णित की गई है उस अवस्थाप्राप्त योगीमें स्वरूप-प्रतिष्ठाके लिये धीरे धीरे जो प्रज्ञाका उदय होता है जिसको पुरुषके लिये कैवल्यप्रद होनेसे प्रान्तभूमि अर्थात् उत्तम परिणामशील कहा गया है उस प्रज्ञाको शास्त्रकारोंने सात प्रकारसे विभक्त किया है और पुनः इन सात अवस्थाओंके भी दो भेद किये हैं, जिनमेंसे प्रथम वर्गमें चार भूमियाँ और द्वितीय वर्गमें तीन भूमियाँ समझी गई हैं। प्रथम अवस्था वह है कि जिसमें साधकको बोध हो कि पूर्व्व-कालमें मुझको हेय-विषयक कुछ जाननेकी आवश्यकता थी सो अब पूर्ण होगई। द्वितीय अवस्था वह है कि जब साधकको यह अनुभव हो कि पूर्व्व-कालमें मेरे त्याग देने योग्य 'काम' आदि अनेक हेय विषय

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा॥ २७॥

थे, परन्तु अब मुझमें कोई भी हेय-विषय शेष नहीं है; अर्थात् मैंने उन सबोंको जय कर लिया है। तृतीय अवस्था वह है कि जिसमें साधकको यह अनुभव होता है कि पूर्व्व कालमें मुझको हानविषय बहुत कुछ प्राप्त करने योग्य थे, परन्तु अब मुझे किसी भी हातव्य वस्तुका प्राप्त करना अवशिष्ट नहीं रहा; अर्थात् अब सब कुछ प्राप्त होगया है। चतुर्थ अवस्था वह है कि जिसमें साधकको ऐसा अनुभव होता है कि मैंने सम्प्रज्ञात समाधिमें विवेक नामक ख्यातिकी भावना प्राप्त करली है, अब मुझे कोई भी भावनीय पदार्थ अवशिष्ट नहीं है; अर्थात् जो कुछ करना था वह मैं पूर्ण कर चुका। यह चारों अवस्था प्रथमवर्गकी हैं और इनके नाम कार्य्यविमुक्ति-अवस्थाएँ हैं। पञ्चम अवस्था वह कहाती है कि जिसमें साधकको ऐसा अनुभव होता है कि पूर्व्व-कालमें मैं अनेक बुद्धि (वासना) युक्त होनेके कारण नाना दुःखों में फँसाथा, परन्तु अब मेरे सारे दुःख क्षयको प्राप्त होगये; अर्थात् मेरा अन्तःकरण अब शान्तियुक्त होगया है। षष्ठ अवस्था वह कहाती है कि जिसमें साधकको ऐसा अनुभव होता है कि मैं अब किसी दूसरी भूमिमें आगया हूं, मेरे अन्तःकरणके सब गुण दग्ध-बीजके समान होगये हैं; अर्थात् दग्ध बीजसे जैसे अङ्कुरोत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार मेरे अन्तःकरणमें अब कोई वृत्ति उठ ही नहीं सकती; और सप्तम अवस्था वह कहाती है जिसमें साधकको और कोई अनुभव अवशेष नहीं रहता; अन्तःकरण का लय होनेसे तद्भावमें स्थिर होकर आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होजाती है, इसी सप्तम अवस्थाका नाम कैवल्य पद है। ये शेषकी तीन अवस्थायें द्वितीयवर्ग कहाती हैं और इनका नाम चित्त-विमुक्ति अवस्थाएँ है। साधक जितना उन्नत होता जाता है उतना ही इन सप्त भूमियों-में अग्रसर होता हुआ सबके शेषमें कैवल्यपदको प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

अब इस प्रकार सप्तधा विभक्त विवेकख्याति का उदय कैसे होता है सो बताया जाता है—

योगके आठ अंगोंके साधनसे क्रमशः चित्तकी मालि-

नता का नाश होकर विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञान की अभिव्यक्ति होती रहती है ॥ २८ ॥

महर्षि सूत्रकार पूर्व्व सूत्रमें विवेकख्यातिकी अवस्थाओं का भलीभांति वर्णन करके अब इस सूत्र द्वारा उसकी उत्पत्ति का उपाय वर्णन कर रहे हैं। जिस प्रकार गांठ का लगाना कर्म्म है, उसी प्रकार गांठ का खोलना भी कर्म्म है। इसी प्रकार जीवके साधारण कर्म्म भी कर्म्म हैं और अष्टांगयोग-साधनरूप कर्म्म भी कर्म्म हैं, जैसे गांठ लगानेरूप कर्म्मसे पदार्थ बँध जाते हैं, उसी प्रकार जीवके साधारण कर्म्मसे भी जीव सदा बँधे रहते हैं; परन्तु जिस प्रकार गांठ खोलनेरूप कर्म्मसे पदार्थ खुल जाता है, उसी प्रकार सुकौशलपूर्ण अष्टाङ्गयोगके साधनसे जीव क्रमशः पूर्णज्ञान-को प्राप्त करके मुक्त होजाता है। जैसे जैसे यम-आदिका अनुष्ठान करते करते साधक आगेके साधनोंका अधिकारी होजाता है वैसे वैसे ही उसके अन्तःकरण की मलिनता धुलती चली जाती है जिससे ज्ञानकी दीप्ति उसमें बढ़ती जाती है और अन्तमें वह पूर्णज्ञान-रूप विवेकख्याति की पूर्ण-अवस्था को लाभ करके मुक्त होजाता है। जिस प्रकार मनुष्य पौडी पौडी चढ़ कर नीचेसे गृहके ऊपरकी छत पर चढ़ जाता है ठीक उसी प्रकार योग-साधनकी सुकौशल-पूर्ण क्रियाओंका साधन करते करते क्रमशः योगके आठों अङ्गोंकी सहायतासे योगी अन्तमें निर्मल विवेकख्यातिको प्राप्त कर निर्वि-कल्प समाधिमें पहुंच मुक्तिको प्राप्त कर लेता है ॥ २८ ॥

ये योगाङ्ग कौन कौन हैं: —

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, योगके ये आठ अङ्ग हैं ॥२९॥

योगसाधन कि जिससे कैवल्यपद की प्राप्ति होती है उसके आठ विभाग हैं, यही आठ विभाग आठ अंग कहाते हैं; अर्थात् जैसे २ साधक क्रमशः उन्नत होता जाता है वैसे ही अष्टांगसाध-

---

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२९॥

नोंमेंसे उन्नत-अंगों का अधिकारी होता जाता है। अधिकारके अनुसार ही इन अंगों का उपदेश श्रीगुरु महाराजसे साधक को मिलता रहता है और इसी विचारसे इन आठ अंगों की दो भूमियां हैं; यथा—एक बहिरंग-भूमि और दूसरी अन्तरंग-भूमि; प्रथम चार अर्थात् यम, नियम, आसन और प्राणायाम, ये बहिरंग-भूमिमें समझे जाते हैं और शेष चार अर्थात् प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये अन्तरंग-भूमिमें समझे जाते हैं। बहिरंग-भूमिके साधनसे केवल अन्तःकरण की निर्मलता बढ़कर अन्तःकरण शुद्ध होजाता है और तब योग-साधनमें रुचि बढ़ जाती है; ये बहिरंग-साधन मुक्ति प्राप्त करनेके साक्षात्-कारण नहीं हैं। परन्तु अन्तरंग-साधन द्वारा अन्तःकरण एकाग्रता को प्राप्त होजाता है, एकाग्रता ही मुक्ति प्राप्त करनेका साक्षात्-कारण है; इस कारण अन्तरंग-भूमिके साधनसमूह ही मुक्तिपद लाभ करनेके साक्षात्-कारण कहाते हैं। इन आठ योग-अंगों का विस्तारित विवरण अगले सूत्रोंमें किया जावेगा॥ २९॥

प्रथमाङ्गका वर्णन किया जाता है—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह, ये यम कहाते हैं॥ ३०॥

किसी प्रकारसे भी किसी कालमें किसी प्राणीको द्वेषबुद्धिसे किसी प्रकारकी हानि न पहुंचानेको अहिंसा कहते हैं; अर्थात् जैसे अपनेको क्लेश होता है वैसे ही प्राणी-मात्रको भी होता है ऐसा विचार करके सब प्रकारके प्राणियों पर समदृष्टि होकर उनको किसी प्रकारका भी क्लेश न पहुंचानेको अहिंसा कहते हैं; यह अहिंसासाधन यमके और साधनोंसे सर्व्व-प्रधान है। वाणी और मनको ठीक रखकर जैसा विषय हो वैसा ही प्रकाश करनेको सत्य कहते हैं; श्रीभगवान् वेदव्यासजीने सत्यका अर्थ ऐसा भी किया है कि जो वाक्य छल कपटसे भरा नहो, जो वाक्य भ्रमशून्य हो, जो वाक्य निरर्थक न हो, जो वाक्य सब प्राणियोंका उपकारकारी हो और जिस वाक्यसे प्राणियोंको किसी प्रकारका क्लेश न पहुंचे,

अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्य्याऽपरिग्रहा यमाः॥ ३०॥

वही सत्य है। निषिद्ध रीतिसे दूसरेके द्रव्यको लेना अर्थात् विना दिये और विना कहे दूसरेकी वस्तुको ग्रहण करनेका नाम चोरी है, इस चौर्य-वृत्तिका अभाव, अर्थात् अन्तःकरणके इस वृत्तिसे शून्य होनेको अस्तेय कहते हैं। उपस्थ इन्द्रियको वशमें रखना, अर्थात् मन-दमन द्वारा वीर्यकी रक्षा करनेको ब्रह्मचर्य्य कहते हैं। इसमें स्मरणकीर्त्तनादि अष्टविध मैथुनत्याग भी अन्तर्भुक्त है; और धनका संग्रह करनेमें, धनकी रक्षा करनेमें और धनके नाशमें सर्व्वत्र ही हिंसारूप दोषको देखकर विषयके त्यागको अपरिग्रह कहते हैं। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रहरूप यमके साधनसे साधकको योगका प्रथम अधिकार प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

प्रथमाङ्गरूप यमकी विशेषता बताई जाती है—

जाति, देश, काल और समयसे भिन्न इन यमोंका सर्वथा पालन करना महाव्रत कहाता है ॥३१॥

जाति, देश, काल और समयका कुछ भी विचार न करके, समदर्शी होकर, सब समय यमके पालन करनेसे परम कल्याणकी प्राप्ति होती है; अर्थात् जैसे मनुष्यगण मनुष्य-जातिमें ब्राह्मणको और पशुजातिमें गो आदि जातिको हिंसा करना अनुचित समझते हैं, जैसे देशके विचारसे काशी आदि तीर्थोंमें हिंसा करना अनुचित समझते हैं, जैसे कालके विचारसे मनुष्यगण पर्वके दिनमें हिंसा करनेसे बचते हैं और समयके विचारसे जैसे सन्ध्या आदि समयमें मनुष्यगण हिंसा नहीं करते, वैसे पक्षपातको त्याग करके, सार्वभौम लक्ष्य जमाकर मनसे ऐसी दृढ़-प्रतिज्ञा की जाय कि कभी किसी कालमें किसी प्रयोजनसे भी हिंसा करनेमें प्रवृत्ति न हो; इस प्रकार जाति, देश, काल और समयके विचारसे रहित होकर यदि साधक हिंसासे बचेगा, तबही वह साधक अहिंसा-साधनका महाव्रतधारी कहावेगा। और इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह आदिके साधनमें भी जाति, देश, काल और समयके विचारको त्यागकर दृढ़-साधनसे महाव्रत कहावेगा।

एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

इस सूत्रसे यही तात्पर्य्य है कि यदिच सांसारिक जीवोंके लिये जाति, देश, काल और समयके विचारसे ही शनैः शनैः यमका अभ्यास कराया जाता है तथापि वह नियम गौण है; दृढ़व्रत होकर सब कालमें सार्व-भौम-दृष्टि रखकर यमके साधनसे ही यथार्थ कल्याणकी प्राप्ति होती है; और ऐसा ही करणीय है। स्वार्थपरता ही जीवभाव है और परार्थपरता ही ईश्वरभाव है। केवल अपना अथवा अपने आत्मीयोंका ही सम्बन्ध रखना जीवभाव है और संसारके सब जीवोंको अपना समझना ईश्वरभाव है। तात्पर्य यह है कि जब जगत्‌के साथ तादात्म्यभावमें जीव अपने अन्तःकरणको युक्तकर देता है तभी वह महाव्रत धारण करके ईश्वरराज्यमें पहुँच जाता है और इसी अवस्थामें पहुंच कर साधक योगानुशासनरूपी मुक्तिमार्गके द्वारके भीतर पहुंच जाता है॥ ३१॥

द्वितीयाङ्गका वर्णन किया जाता है—

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, ये नियम कहाते हैं॥ ३२॥

शौच शुद्ध करनेको कहते हैं; अर्थात् स्नान, मार्ज्जन आदि क्रियाओं द्वारा शरीरकी शुद्धि और मैत्री, सरलता आदि सत्-वृत्तियोंसे मनके मैलको धोनेका नाम अन्तःशौच है; इस प्रकार बाह्य और अन्तःशौचसे शौच साधन होता है। सब अवस्थाओंमें अपने आपको सुखी समझनेको संतोष कहते हैं; अर्थात् विचार द्वारा जब साधकको यह अनुभव हो जाता है और यह भी विचारमें आजाता है कि सुख और दुःख दोनों ही क्षणभंगुर हैं, तब वह ज्ञानवान् साधक सब अवस्थाओंमें ही अविचलित रह सकता है और यह अविचलित-अवस्था ही संतोष कहाती है। शीतकी तीव्रता और ग्रीष्मकी प्रबलतासे जो क्लेश होता है, भूख और प्यासके उदयसे जो विकलता होती है इत्यादि शरीरके विकारोंको सह लेनेका नाम तप है; शास्त्रोंमें जो कृच्छ्‌चान्द्रायण सान्तपन, अनशन आदि व्रत लिखे हैं वे सब तपके ही साधन हैं।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ ३२॥

यद्यपि तपका विस्तारित सूक्ष्म लक्षण पहले कर चुके हैं परन्तु यहां शारीरिक तपसे अधिक सम्बन्ध है ऐसा समझना उचित है। मोक्षधर्म्म-उपदेशक शास्त्रोंके पठन और मननको स्वाध्याय कहते हैं। जगत्कर्त्ता परमेश्वरमें अचल-भक्तियुक्त होकर अपने किये हुए सत्कर्म्मोंका फल उनके चरणोंमें अर्पण करदेनेको ईश्वर-प्रणिधान कहते हैं; ईश्वर-प्रणिधानका विस्तारित विवरण पूर्व्व ही आ चुका है, इस कारण पुनः इस स्थल पर पुनरुक्ति नहीं कीगई। यहां पर वैधीभक्ति ही ईश्वर-प्रणिधानका तात्पर्य है। इस प्रकार शौच, संतोष, तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान रूपी नियमके साधनसे साधक शुद्धचित्त होता हुआ योगमार्गके उन्नत अधिकारोंको प्राप्त होता जाता है॥ ३२॥

अब यमनियमविरोधिनी वृत्तियोंकेउदयमें कर्त्तव्य निर्देश किया जाता है—

वितर्कबाधन अर्थात् योगविरोधी हिंसादि वृत्तियोंके द्वारा यमादि योगाङ्गोंकी उच्छेदाशङ्का होनेपर उन वृत्तियोंके प्रतिपक्ष भावोंकी चिन्ता करे॥ ३३॥

ऐसा विचार न किया जाय कि यम और नियम आदिमें हिंसा आदिका पूर्णरूपेण नाश होना सम्भव है. अर्थात् जिन २ धर्म्म-प्रतिकूल वृत्तियोंके निरोध यम और नियमके साधनमें लिखे हैं उनकी विरुद्ध-वृत्तियोंके ही प्राप्त करनेको यम और नियम कहते हैं; और उन प्रतिकूल-वृत्तियोंके रोकनेसे ही इनका साधन होता है; अर्थात् जब जब हिंसा आदि वृत्तियां अन्तःकरणमें उठें और अन्तःकरण ऐसा चाहने लगे कि "अमुकको मार डालूँ या दुःख पहुँचाऊं, अपने इन्द्रिय-सुखके लिये अमुक असत्य बोलं, अमुककी वस्तु चुरालूं, विषयवासनाकी तृप्तिके लिये व्यभिचार करूं, धर्माधर्म-विचाररहित होकर दान ग्रहण करूं इत्यादि, अथवा साधकके अन्तःकरणमें शौचकी निरोधिनी अशुचिता की वृत्ति उठे,

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्॥ ३३॥

सन्तोषके विरोधी असन्तोषकी वृत्ति उठे, तप नष्ट करनेकी वृत्ति उठे, स्वाध्यायमें अश्रद्धा होने लगे और नास्तिकता भाव कदाचित् प्रकट हो जाय तो गुरु-उपदेशके अनुसार साधकको ऐसी विरुद्ध वृत्तियोंका स्मरण करना उचित है जिससे उसके अन्तःकरणकी वह पापकारी यम नियमकी प्रतिकूल-वृत्तियां दब जावें। दिग्दर्शनके लिये कहा जाता है कि कर्मकी प्रतिक्रिया-भावनासे हिंसाका नाश हो सकता है; अर्थात् हिंसा करनेमें जन्मान्तरमें मुझसे भी प्रतिहिंसा-रूपसे बदला लिया जायगा इस विरुद्ध भावनाके द्वारा साधक हिंसासे बच सकता है। इसी प्रकार कर्म-विपाकरूपी नरकादि दुःखके भयसे अन्यान्य विरुद्ध वृत्तियोंसे बचनेका प्रयत्न गुरु आज्ञाके अनुसार साधक यदि करेगा, वह योगपथका पथिक बन सकेगा। और इसी रीति पर साधन करनेसे साधक दिन पर दिन यम और नियमके साधनमें अग्रसर होता जायगा ॥ ३३ ॥

अब वितर्कका स्वरूप उसका क्रम तथा तत्प्रतिपक्ष-भावनाका विचार किया जाता है—

वितर्क हिंसा आदि हैं, वे (हिंसा आदि) स्वयं किये जायं वा दूसरे से कराये जायं वा करनेमें सम्मति दी जाय, लोभ से क्रोध से अथवा मोह से उनकी उत्पत्ति होती है, वे मृदु मध्य और अधिमात्र होते हैं, इनका फल अनन्त दुःख और अज्ञान है, यही इनमें प्रतिपक्ष भावना है ॥३४॥

पूर्व्व सूत्रोंमें महर्षि सूत्रकार यम और नियमरूपी योगके प्रथम दो अङ्गोंका वर्णन कर पुनः उनके साधन-उपायका विस्तारित विवरण कह अब इस सूत्र द्वारा उनकी विरोधिनी वृत्तियोंके

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

विस्तारित भेद तथा अवस्थाओंका वर्णन कर रहे हैं। प्रधानतः हिंसादि तीन प्रकारके होते हैं, यथा—कृत, कारित और अनुमोदित; जो हिंसा स्वयं की जाय वह कृत, जो हिंसा दूसरेसे कराई जाय वह कारित और जिस हिंसाके करनेमें सम्मति दी जाय वह हिंसा अनुमोदित कहाती है। पुनः इन तीन प्रकार की हिंसाओंमें भी प्रत्येकके लोभ, क्रोध और मोहके विचारसे तीन २ भेद होते हैं; अर्थात् जब मांस आदिके लोभसे हिंसा की जाय तब वह लोभज, जो हिंसा बदला लेनेके अर्थ क्रोधसे की जाय वह क्रोधज और जब ऐसा विचार किया जाय कि "अमुक को मार डालना मेरा धर्म्म है" तो मोह से की हुई उस हिंसा का नाम मोहज है। पुनः इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके मृदु, मध्य और तीव्र भेदसे तीन तीन भेद हैं; इस प्रकारसे पूर्व्व कथनके अनुसार हिंसाके सत्ताईस भेद हुए। प्रकृति-भेदसे जब प्राणियोंके असंख्य भेद हैं, तो उसी प्रकार गुणके तारतम्यसे इस हिंसारूपी पापके सत्ताईस भेदोंके भी अनन्त भेद होजावेंगे। और इसी रीतिके अनुसार असत्य आदि पापवृत्तियोंके भी अनन्त भेद होते हैं। अब इन हिंसादि योगविरोधिनी वृत्तियोंके दमनार्थ प्रतिपक्षभावना किस प्रकारसे करनी चाहिये सो बताया जाता है। किसी को मारते समय पहिले मनुष्य उसके बलवीर्य्य की निन्दा करता है, पुनः शस्त्र द्वारा उसको क्लेश देता है और तत्पश्चात् उसे मार डालता है; इसी क्रमके अनुसार उस जीव को अपने किये हुए इस पापकर्म्म का भोग भी मिलता है, अर्थात् वीर्य्य की निन्दासे परजन्ममें वह हीन-वीर्य्य होता है, दुःख देनेसे वह भी दुःख पाता है और हनन करनेसे या तो वह उससे मारा जाता है अथवा अल्पायु होता है। स्मृतिमें भी लिखा है:—

योयं हन्ति विना वैरं प्रकामं सहसा पुनः।
हन्तारं हन्ति तं प्राप्य जननं जननान्तरे।

विना कारण किसीका हनन करनेपर वह निहत जीव आगेके जन्ममें उस पूर्व हन्ताको भी निधन करता है। इस प्रकार कर्म्मकी गहन गतिसे उसको यथावत् दुःखरूपी फल की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार यदि मनुष्य शास्त्रोक्त पुण्यके विचारसे भी पुण्य समझकर हिंसा करेंगे तो परलोकमें उनको पुण्यसे सुखकी तो प्राप्ति

होगी, परन्तु हिंसारूपी कार्य्यसे वे अवश्य अल्पायु होंगे; मीमांसा दर्शनमें इस प्रकार कर्म्मोंकी अद्भुत गति वर्णन की गई है। इसके सिवाय हिंसादि तमोगुणात्मक पापकार्योंके अनुष्ठान द्वारा पापीका अन्तःकरण क्रमशः घोर अज्ञानतमसाच्छन्न हो जायगा जिससे इस प्रकार हिंसादि पापासक्त जीवको अत्यन्त अधोगति और घोर नरक-यन्त्रणा प्राप्त होगी। इस प्रकारसे हिंसादि योगविरोधिनी वृत्तियोंके निवारणके लिये जो प्रतिकूल विचार है उसको प्रतिपक्ष भावन कहते हैं। इस सूत्रका यही तात्पर्य्य है कि पाप-वृत्तिरूपी वितर्कोंके अनन्त भेद हैं और उनसे यथावत् दुःखकी ही प्राप्ति अन्तमें होती है; इस कारण इन योग-विघ्नकारि-वृत्तियोंको यमनियमरूपी प्रति-पक्ष-भावना से नष्ट कर देना ही उचित है॥ ३४॥

अब योगीके चित्तमें उत्साहवर्द्धनार्थ इन योगाङ्गोंके नियमित अनुष्ठान द्वारा प्राप्त सिद्धियोंका वर्णन क्रमशः किया जाता है—

जब अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो जाती है तब उसके समीप सब जीव वैर-भाव त्याग कर देते हैं॥ ३५॥

अब इस सूत्रमें अहिंसाके पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो जानेपर जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब योगी हिंसा आदि कुवृत्तियोंको पूर्णरूपेण जय करके अपने अन्तःकरणमें अहिंसा-वृत्तिकी प्रतिष्ठा कर लेता है, तब उसके सन्मुख आये हुए जीवोंका वैर-भाव भी दूर हो जाता है; अर्थात् उस समयके लिये उस महापुरुषके संगसे वे भी अहिंसा-वृत्तिको प्राप्त करते हैं। इसमें यदि ऐसा कोई सन्देह करे कि "व्याघ्र आदि जीवोंका स्वभाव ही हिंसा करना है तो प्रकृति अपने स्वभावको कैसे छोड़ेगी"? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि व्याघ्र आदिका स्वभाव हिंसा करना नहीं है, यदि ऐसा होता तो वे अपने पुत्र कलत्रकी भी हिंसा करते; परन्तु उनमें तमोगुणका प्रभाव अधिक होनेके कारण थोड़ेसे ही कारणसे तमोगुणकी उत्पत्ति हो जाती है और यही हिंसा अधिक होनेका कारण है; किन्तु जहां उस कारणका अभाव रहेगा वहां हिंसा-वृत्ति उठ ही नहीं सकेगी; अर्थात्

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥ ३५॥

जिन साधक महात्माओंमें हिंसाका बीजतक नाश हो गया है, पूर्ण शांतिके प्रभावसे उनके निकट वह हिंसक पशु भी शान्त ही बना रहेगा। यह विज्ञान और भी सूक्ष्म रीतिसे समझने योग्य है। हृदयाकाश, ब्रह्माण्ड और पिण्डमें व्याप्त है। इस कारण अन्तःकरणको भी व्यापक कहा गया है। जैसे एक ब्रह्माण्डका समष्टि अन्तःकरण ब्रह्माजीका अन्तःकरण है और प्रत्येक जीवका अन्तःकरण व्यष्टि अन्तःकरण है उसी प्रकार प्रत्येक जीवके अन्तःकरणका आकाश व्यष्टि आकाश है; जिसको चित्ताकाश कहते हैं और एक ब्रह्माण्डका समष्टि चित्ताकाश अर्थात् समष्टि अन्तःकरणका आकाश चिदाकाश कहलाता है। समष्टि और व्यष्टि सम्बन्धसे ये दोनों मिले हुए हैं। यही कारण है कि प्रेमियोंका प्रेम परस्परके अन्तःकरणमें प्रतिफलित हुआ करता है। यही कारण कि योगिगण दूसरेके अन्तःकरणका भाव जान लेते हैं। यही कारण है कि देवतागण मनुष्योंके शारीरिक और मानसिक सब कर्मोंका हिसाब रखते हैं। अस्तु, जब योगीके चित्तमें अहिंसावृत्ति प्रतिष्ठित होजाती है और उनके अन्तःकरणमें हिंसा उपयोगी धक्का लगनेपर भी कभी हिंसावृत्ति नहीं उठती तो उस समय उनके निकटस्थ जो अन्तःकरण होगा उसमें भी वही भाव स्वतः ही प्रतिफलित होजायगा। और ऐसा होनेपर हिंस्र पशुका अन्तःकरण अपने आपही हिंसारहित होजायगा। गुरुशक्तिके सामने लघुशक्ति अपने आप दब जाती है इस कारण लघुशक्ति-विशिष्ट पशुका अन्तःकरण गुरुशक्ति-विशिष्ट योगीके अन्तःकरणके प्रभावसे स्वतःही शान्त होजायगा ॥ ३५ ॥

तथा च—

सत्यकी प्रतिष्ठासे योगीके क्रिया न करनेपर भी क्रियाफलका आश्रय हो जाता है ॥ ३६ ॥

अब इस सूत्र द्वारा सत्यकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो जानेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब योगी सत्यताअभ्यासमें दृढ़तायुक्त हो जाता है अर्थात् जब उनके मुखसे असत्य वाक्य निकलताही नहीं, तब उनकी वाक्य-सिद्धि हो जाती है

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

अर्थात् तब वे जो कुछ मुँहसे वचन निकालते हैं उसका फल अवश्य होता है, जैसे यदि वे किसी मूर्खको पंडित कहें तो वह मूर्ख पंडित हो जाता है, यदि दरिद्रको धनवान् कहें तो दरिद्र धनवान् हो जाता है, यदि वन्ध्याको पुत्रवती कहें तो वन्ध्या पुत्रवती हो जाती है। इसमें यदि कोई सन्देह करे कि असम्भव कैसे सम्भव हो सकता है? तो इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि योगीका अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे वह जो कुछ देखता है और पुनः उसका स्वभाव सत्यमय हो जानेसे, वह जो कुछ करता है वह सत्य ही करता है; इस कारण जैसा होने वाला है उसको ही उसका अन्तःकरण अनुभव कर लेता है और वैसे ही रेख पर मेख मार कर उसका वचन भी मुखसे निकलता है ॥ ३६ ॥

तथा च—

अस्तेयकी प्रतिष्ठासे सब रत्नोंकी प्राप्ति हो जाती है ॥३७॥

अब अस्तेयकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो जानेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब साधक ऐसा अभ्यास कर लेता है कि लोभके जय कर लेनेसे उसमें चोरीकी वृत्ति उठती ही नहीं तब समस्त संसारके प्राणी उसका विश्वास करने लगते हैं और विना अभिलाषाके ही अच्छे अच्छे पदार्थ उसके निकट आ जाते हैं। जैसे अहिंसा-वृत्तिके उदय होनेसे हिंस्रक व्याघ्र भी उसके सम्मुख अहिंसा-वृत्तिको धारण कर लेता है, उसी प्रकार अस्तेय-वृत्तिके उदय होनेसे अविश्वासी संसार भी उसका विश्वास करने लगता है। जब तक मनुष्यकी इच्छा रहती है तब ही तक उसको अभाव भी अनुभव होता है; परन्तु लोभरूपी इच्छाके दूर होनेसे साधकके सब अभाव दूर होजाते हैं, और तब इस संसारका कोई पदार्थ भी उनके अर्थ अप्राप्त नहीं रहता। इसको और तरहसे भी समझ सकते हैं कि मनुष्यको अभावका अनुभव पूर्वजन्मके कर्मानुसार ही होता है। पूर्वजन्ममें मनुष्यने जिन पदार्थोंका दुर्व्यवहार किया है अथवा अयथासंग्रह किया है जन्मान्तरमें उस मनुष्यको उन्हीं पदार्थोंका अभाव बोध होता है। अस्तु जब योगीके अन्तः-

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

करणमें अस्तेय वृत्तिकी प्रतिष्ठा हो जाती है तो अभाव-उत्पन्नकारी कर्म्मके बीजका नाशही होता है। यही कारण है कि ऐसे योगिराज को पुनः संसारमें कोई पदार्थ अलभ्य नहीं रहता है ॥ ३७ ॥

तथा च—

ब्रह्मचर्य्यकी प्रतिष्ठासे वीर्य्यका लाभ होता है ॥३८॥

अब ब्रह्मचर्य्यकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होनेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब ब्रह्मचर्य्य-साधन पूर्णरूपेण हो जाता है तो साधकको शारीरिक और मानसिक वीर्य्यकी प्राप्ति होती है। शरीरमें रेत ही प्रधान धातु है. इस कारण इसका नाम वीर्य्य है; यही शरीरमें सप्तम अर्थात् सबसे उन्नत धातु है। उस रेतकी पूर्ण रक्षा करनेसे शरीर पूर्णताको प्राप्त होता है; अर्थात् ब्रह्मचर्य्यके साधनसे शरीर ऐसा उपयोगी होजाता है कि किसी प्रकारसे भी विचलित नहीं होता। जब प्रधान धातुसे शरीर पूर्ण रहेगा तो उससे और धातु भी स्वतः ही पूर्णताको प्राप्त होंगे; यह पूर्णता ही शारीरिक-वीर्य्य कहाता है। शरीर और मनका एकही सम्बन्ध है, अर्थात् शरीर वीर्य्यवान् होनेसे मन भी वीर्य्यवान् हो जाता है; दूसरे मन, वायु और वीर्य्यसे बहुत निकट-सम्बन्ध है, क्योंकि सृष्टि क्रियामें देखा जाता है कि उस क्रियाके करनेमें मन कर्त्ता और वीर्य्य कारण है; इसी कारण ब्रह्मचर्य्य-व्रतके द्वारा मन भी इतना बलशाली हो जाता है कि वह जो चाहे सो ही कर सकता है ॥ ३८ ॥

तथा च—

अपरिग्रहके स्थिर होनेसे जन्म क्यों हुआ इसका बोध होता है ॥ ३९ ॥

अब अपरिग्रहकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होनेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। जब साधकका हृदय एक बार ही लोभ-शून्य हो जाय और किसी प्रकारकी भी विषय-प्राप्तिकी इच्छा उसके अन्तःकरणमें न रहे तब उस पूर्ण-वैराग्ययुक्त अन्तः-

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

करणमें पूर्ण-शान्ति विराजने लगती है; और तब ही अपरिग्रहकी पूर्णावस्था कहाती है। अपरिग्रहकी इस पूर्णावस्थामें साधकको पूर्व्व-जन्मका ज्ञान होता है; अर्थात् इस पदको प्राप्त कर साधक जान सकता है कि मैं पूर्व्व-जन्ममें कौन था, पूर्व्व-जन्ममें मैंने कैसे कर्म्म किये थे इत्यादि। तीव्र-वैराग्यके उदय होनेसे जब अन्तः-करण विषय-वासनासे रहित होकर शान्त हो जाता है, तब उसे फँसानेवाले और कोई पदार्थ नहीं रहते; इस प्रकार अन्तःकरणके बाहरकी ओरसे मुख फेर लेनेसे उसमें यथार्थ-ज्ञानकी वृद्धि होती है और इसी शुद्ध-ज्ञानकी सहायतासे वह बहुत विषय जान सकता है। चित्तमें जीवके सब किये हुए कर्म्मोंका संस्कार रहता है, परन्तु नाना-वृत्तियोंसे चित्तके चंचल रहनेके कारण वे संस्कार दिखाई नहीं पड़ते, जब अपरिग्रहकी पूर्णावस्था प्राप्त होनेसे चित्त ठहर जाता है तो आपही आप उन संस्कारोंसे स्मृतिका उदय होकर पिछले सम्पूर्ण कर्म्म जीवको स्मरण हो आते हैं ॥ ३९ ॥

यमाङ्गान्तर्गत सिद्धियोंका वर्णन करके अब नियमसाधन-जनित सिद्धियोंका वर्णन किया जाता है।

शौचसे अपने अंगोंके प्रति घृणा और दूसरोंसे असंसर्गकी प्राप्ति होती है ॥ ४० ॥

अब शौचकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होनेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। शौच-अभ्यास करते करते जब साधक चरम-सीमापर पहुँचता है तब उसे ऐसा अनुभव होता है कि यह शरीर परम अपवित्र है, इसका संग ही अपवित्रताका कारण है। देहाध्यास अर्थात् देहको अपना करके जानना ही जीवके बन्धनका कारण है; जब शौचके साधनसे इस पांचभौतिक शरीरमें तीव्र द्वेषबुद्धि हो जाती है अर्थात् इसको परम अपवित्र समझकर जब जीवकी वृत्ति इससे हट जाती है तब ही जीवमें मोक्ष-साधनकी इच्छा प्रबल हो सकती है। यह तो प्रमाणित ही है कि जब अपने शरीरमें ही द्वेष-बुद्धि होगी तो और शरीरोंसे भी उसकी प्राप्ति और संसर्गेच्छा जाती रहेगी। इस

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

विज्ञानको और भी स्पष्टरूपसे समझनेके लिये शौचके लक्षणकी ओर अधिक ध्यान देना होगा। स्थूलशरीर-सम्बन्धीय अपवित्र मलादिकमें अरुचि और उससे बचनेसे जब बहिःशौच होता है और पापजनक क्लिष्टवृत्तियोंमें अरुचि और पुण्यजनक अक्लिष्ट वृत्तियों द्वारा अन्तःकरणको परिपूर्ण करके कौशल द्वारा पापजनक वृत्तियोंसे बचनेसे जब अन्तःशौच होता है तो यह स्वीकार करना ही होगा कि अपवित्र और असत्से पवित्र और सत्की ओर शौच-साधन-तत्पर योगीकी प्रवृत्ति और गति सदा बनी रहती है। ऐसा होने पर शरीरकी क्षणभंगुरता और विषयसुखकी अलीकता योगीके अनुभवमें आजानेसे उसके चित्तमें स्वतः ही अपने शरीरकी ओर आसक्तिका अभाव और दूसरेसे सम्बन्ध-स्थापनमें अरुचि उत्पन्न होगी इसमें सन्देह नहीं॥ ४०॥

शौच सिद्धिका फलान्तर बताया जाता है—

सत्त्वशुद्धि, मनमें प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त होती है॥ ४१॥

जब अन्तःकरणकी मलिनता दूर होनेसे अन्तःकरणमें केवल सत्त्वगुणका विशेष प्रकाश होने लगता है तो ज्ञानाधिक्यके कारण और क्लिष्टवृत्तिरूपी तमोगुणके दूर होनेसे वह अवस्था सत्त्व-शुद्धि कहाती है। मलरूपी क्लिष्टवृत्तिके दूर हो जानेसे मनमें जो एक प्रकारकी सुखकी उत्पत्ति होती है उसीका नाम सौमनस्य अर्थात् मनकी प्रसन्नता है। सत्त्वशुद्धिका सौमनस्य एक प्रधान फल है; अर्थात् जिस अन्तःकरणमें सत्त्वशुद्धि होगी, अपने आप ही उसमें सौमनस्य होना स्वतः सिद्ध है। मन शुद्ध होनेसे वह आप ही स्थिरताको प्राप्त होता है; और इसी अवस्थाका नाम एकाग्रता है। विषयोंमें न लगनेसे इन्द्रियगणका जय होता है; अर्थात् शौचसे जब शरीरमें ही प्रीति नहीं रहती तो इन्द्रियोंके विषयोंमें क्या रहेगी; इसही विषयोंसे मुख फेरनेका नाम इन्द्रियजय है। इस प्रकार जब अन्तःकरणकी वृत्तियाँ ठहरने लगती हैं तो आपही आप अन्तःकरणमें आत्मदर्शनकी योग्यता आजाती है। इस सूत्रसे यही

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥ ४१॥

तात्पर्य है कि शौचका साधन पूर्ण होनेपर केवल पूर्वसूत्रोक्त एक फलकी ही प्राप्ति नहीं होती; परन्तु सत्त्वशुद्धि, चित्तप्रसाद, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शनकी योग्यता भी लाभ होती है॥४१॥

तथा च—

संतोषसे श्रेष्ठतम सुखका लाभ होता है ॥ ४२ ॥

अब इस सूत्र द्वारा संतोषकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होजानेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने लिखा है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

संसारमें जो कामजनित सुख और स्वर्गमें जो महान् दिव्यसुख हैं, वे सभी तृष्णाक्षयजनित सुखके षोडशांशके भी एक अंश नहीं हो सकते। तात्पर्य्य यह है कि वासना ही नाना दुःखों का कारण है, जब संतोषके उदय होनेसे इच्छाका एकवार ही नाश हो जायगा तो दुःख रहेगा ही नहीं; तब सुखही सुख शेष रह जायगा। इसी कारण संतोष ही परम सुखका रूप है। सुखरहस्यपर विचार करनेसे यही सिद्धान्त होता है कि विषय स्वयं सुख नहीं देता है परन्तु विषयके अवलम्बनसे चित्त एकाग्र होनेपर उस एकाग्र अन्तःकरणमें सुखमय आत्माका जो प्रतिबिम्ब भासमान होता है उसीसे विषयीको सुख प्राप्त होता है, विषयके परिणामी और क्षणभङ्गुर होनेसे उसमें एकाग्रता भी क्षणभङ्गुर और परिणामिनी है और इसलिये आत्मप्रतिबिम्बजनित सुखकी प्राप्ति भी विषय-संयोगसे क्षणभङ्गुर ही होती है। परन्तु तृष्णाका क्षय होकर चित्तमें सन्तोष प्राप्त होनेसे चित्तका चाञ्चल्य एक बारही नष्ट होकर उसमें चिर एकाग्रता बनी रहती है और उस एकाग्रचित्त में आत्माका प्रतिबिम्ब सदाही भासमान रहता है जिससे सन्तोषी पुरुषको अत्युत्तम अविनश्वर सुखकी प्राप्ति हुआ करती है ॥४२॥

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

तथा च—

तपद्वारा अशुद्धिक्षय होजानेसे कायसिद्धि और इन्द्रिय-सिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

अब इस सूत्रद्वारा तपकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो जानेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। रजोगुण-तमोगुणजनित मल आवरण आदि अशुद्धिके द्वारा ही जीवकी आभ्यन्तरीण समस्त शक्ति कुण्ठित रहती है। जब तपके अनुष्ठान द्वारा ये सब अशुद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं तो योगीको स्वतः ही अणिमा लघिमा आदि अनेक प्रकारकी शरीर-सम्बन्धीय सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं इसीका नाम कायसिद्धि है। इस प्रकार तप-साधनद्वारा अन्तःकरणकी दृढ़ता और शुद्धता से अन्तःकरण जब एकाग्र होने लगता है तब स्वतः ही उस योगीकी इन्द्रियशक्ति पूर्णताको प्राप्त होजाती है; अर्थात् तब योगी दूर-दर्शन दूर-श्रवण आदि इन्द्रिय-शक्तिकी पूर्णताको प्राप्त होजाता है; यह ऐसी-सिद्धिका अंशरूप इन्द्रियगण की पूर्णता ही इन्द्रिय-सिद्धि कहाती है। तप-साधनकी पूर्णतासे इस प्रकार अद्भुत कायसिद्धि और इन्द्रिय-सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है। रज तमका मल रहने तक जीवभाव रहता है। परन्तु जितनाही अन्तःकरण निर्मल होता जाता है उतना ही वह अन्तःकरण ईश्वर-सान्निध्यको प्राप्त करता है। अतः मलरहित और ईश्वरभाव-राज्यमें मग्न अन्तःकरणमें ऐसी सिद्धियोंका प्रकाशित होना सम्भव ही है। इस कारण इस प्रकारके अधिकार-प्राप्त योगीमें स्थूल-कायसिद्धि और सूक्ष्मराज्यविषयक ज्ञानेन्द्रिय-सिद्धिका प्रकाशित होना स्वतः सिद्ध है ॥ ४३ ॥

तथा च—

स्वाध्यायसे अभिलषित देवताकी प्राप्ति होती है ॥४४॥

अब इस सूत्र द्वारा स्वाध्याय की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो जानेसे जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। वेद अथवा

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

वेद-सम्मत मोक्षशास्त्रका पठन और मनन करनेसे अथवा मंत्र-जप से स्वाध्याय होता है; ऐसे स्वाध्यायरूपी साधनकी पूर्णताके प्राप्त होनेसे अभिलषित देवताकी प्राप्ति होती है। मोक्षरूपी अभिलाष-के प्राप्त करानेवाले जो गुरु महात्मा अथवा इष्ट-देव हों, वेही अभिल-षित देव हैं। वेद अथवा मोक्षशास्त्र पढ़ते पढ़ते जब अन्तःकरण शुद्ध होजाता है तब ही मनुष्यको साधु, महात्मा अथवा गुरुदेवके दर्शन हो सकते हैं। वेदार्थ और मोक्ष-शास्त्रका मनन करते करते जब पूर्णज्ञानकी प्राप्तिसे साधक समझने लगता है कि प्रकृतिका यह रूप है और परमात्माका यह रूप है; तब ही साधक भक्तके हृदयमें भक्तमनोरंजन देवोंके देव इष्टदेव श्रीभगवान् प्रकट होजाते हैं। और प्रणवरूपी मंत्रके जपसे कैसे भगवद्दर्शन होता है इसका वर्णन पूर्व्व ही आचुका है। इस प्रकार स्वाध्याय-साधनके सिद्ध होनेसे साधक गुरु और गोविन्दरूप अभिलषित देवताकी प्राप्ति कर लेता है। उसी प्रकार दूसरी ओर सगुणोपासनामें भी अपने अपने सम्प्रदायके गुरूपदिष्ट मन्त्रके जप और अर्थानुगमनपूर्वक अपने अपने सम्प्रदायकी गीताके पाठद्वारा ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिकी सहायतासे अपने अपने इष्टदेवकी प्राप्ति होती है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ४४ ॥

तथा च—

ईश्वर-प्रणिधानसे समाधि सिद्ध होती है ॥४५॥

अब इस सूत्र द्वारा ईश्वर-प्रणिधानकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होजाने से जो फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। ईश्वर-प्रणिधान से निर्विकल्प-समाधिको प्राप्त करके कैसे साधक मुक्त हो सकता है उसका वर्णन प्रथमपादमें भलीभांति आचुका है; इस कारण यहाँ पुनरुक्ति नहीं की गई। जब भक्त-साधक ईश्वर-भक्तिकी पूर्णताको प्राप्त करके पराभक्तिके राज्यमें पहुँच कर अपने सब कर्म्म-फलोंको अपने प्रियतम हृदयनाथके प्रीत्यर्थ अर्पण करके, उनके ही प्रेममें उन्मत्त होकर भीतर बाहर, जड़में चेतनमें, सुखमें दुःखमें, भलेमें बुरेमें, जहां तहां सकल स्थानोंमें उस एक परमात्माको ही देखताहै, तब

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ही वह भक्तकुलतिलक कैवल्यपदरूपी समाधिको प्राप्त होजाता है। इस विज्ञानको और तरहसे भी समझ सकते हैं। ईश्वर-प्रणिधान द्वारा कैसे एकतत्त्वकी प्राप्ति होती है, इसका विस्तारित विवरण पहले ही आचुका है। समाधिभूमिमें अग्रसर होते समय संयमद्वारा सिद्धिकी प्राप्ति और एकतत्त्वद्वारा निर्विकल्प समाधिकी प्राप्तिमें सुविधा प्राप्त होती है। इस कारण जब ईश्वर-प्रणिधान द्वारा एकतत्त्व स्वतः ही लाभ होता है और एकतत्त्व जब योगिराजको निर्विकल्प समाधिभूमिमें पहुंचाता है तो यह सिद्ध हुआ कि एकतत्त्वका प्रधान सहायक ईश्वर-प्रणिधान निर्विकल्प समाधिका प्रधान सहायक है, इसमें सन्देह नहीं। यहां तक महर्षि सूत्रकार केवल यम और नियमरूपी योगके दो अङ्गोंका वर्णन कर चुके। इन पूर्व्वोक्त सूत्रोंसे यही समझना उचित है कि यम और नियमके प्रत्येक अङ्गोंको पूर्णरूपेण अभ्यास करलेनेसे जो फलकी प्राप्ति होसकती है उसीका स्वतंत्र स्वतंत्ररूपेण-वर्णन किया गया है और यम और नियमकी साधन-अवस्थामें इन पूर्व्वलिखित अवस्थाओंकी पूर्णता नहीं होती; अर्थात् जैसे २ योगी साधनमें अग्रसर होता जाता है वैसे २ ही उसको इन फलोंकी प्राप्ति होसकती है॥ ४५॥

यम और नियमका साधन और सिद्धि बता कर अब तृतीय योगांगरूप आसनका लक्षण बताया जाता है—

जो स्थिर सुखकर हो वह आसन कहाता है॥४६॥

जिस प्रकार शरीरको रखनेसे शरीर सुखको प्राप्त हो और उसके साथ मन भी स्थिरताको प्राप्त होकर आत्माको भी सुख पहुंचे शरीरको उसी प्रकारसे रखनेकी रीतिको आसन कहते हैं। एक अवस्थामें मनुष्य कभी स्थिर सुखको प्राप्त नहीं होसकता इसी कारण मनुष्य कभी चित होता है, कभी पट होता है, कभी करवट लेता है, कभी बैठता है और कभी खड़ा होता है, शरीरके चंचल होनेसे मनकी भी चंचलता होती है; इस कारण त्रिकालदर्शी आचार्य्यों ने बहुतसे बैठनेके ऐसे उपाय निकाले हैं कि जिनके अभ्यास करनेसे

स्थिरसुखमासनम्॥ ४६॥

शनैः शनैः साधक शरीरकी शान्ति प्राप्त करके मनकी शान्तिको प्राप्त करलेता है और तब मन भी योग-उपयुक्त होजाता है। स्थूल-शरीर सूक्ष्मशरीरका ही विस्तार है इस कारण स्थूलशरीरके चञ्चल होनेसे उसका मूलभूत सूक्ष्मशरीर भी चञ्चलताको प्राप्त होता है; परन्तु यदि किसी क्रियाद्वारा स्थूलशरीरको स्थिर सुखमें पहुंचा दिया जाय तो मनमें भी स्थिर सुखका उदय होगा इसमें सन्देह ही क्या ? योग-शास्त्रके नाना आचार्य्योंने नाना प्रकारके आसनोंका वर्णन किया है और उनके स्वतन्त्र २ फल भी बताये हैं। चार प्रकारके योग-साधनोंमेंसे हठयोगके आचार्य्यगणने चौरासी प्रकारके आसनोंका वर्णन किया है; परन्तु लययोगके आचार्य्यगणने केवल चार आसनोंको ही माना है। इन आसनोंके सिवाय योगशास्त्रोंमें चौबीस प्रकारकी मुद्राओंका भी वर्णन है। ये मुद्राएँ कुछ तो आसनोंमें काममें आती हैं, कुछ प्राणायामकी सहायता करती हैं और कुछ प्रत्याहार, धारणा और स्थूल एवं ज्योतिर्ध्यानमें कार्य्य-कारिणी हुआ करती हैं ॥ ४६ ॥

आसनका लक्षण बताकर उसकी सिद्धिका उपाय बताया जाता है—

प्रयत्नकी शिथिलता और अनन्त-समापत्तिसे आसन-सिद्धि होती है ॥ ४७ ॥

अब इस सूत्रद्वारा आसन सिद्धिका लक्षण और उपाय वर्णन कर रहे हैं। प्रयत्नकी जब शिथिलता होजाती है अर्थात् आसन-का अभ्यास करते करते जब वह आसन साधकका प्रकृतिगत होजाता है अर्थात् देहाध्यासका विचार न रहनेके कारण जब पूर्णरूपेण आसनमें प्रयत्नकी शिथिलता हो जाती है तब ही आसन-साधनकी सिद्धावस्था समझना उचित है। इस प्रकार शरीरके साधनसे साधक जब मन भी एकाग्रताको प्राप्त करलेता है तब योगीका चित्ताकाश चिदाकाशमें और चिदाकाश महाकाशमें युक्त होने से वह योगी अनन्त नागरूपी अनन्त आकाश या अनन्तशायी परमा-त्मा विष्णुतकमें भी चित्तको एकतान कर सकता है जिसको अनन्त

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

समापत्ति कह कर सूत्रमें वर्णन किया गया है और इस प्रकारसे आसन-अभ्यास द्वारा शरीर और मनके स्थिर होनेसे पूर्वोक्त अङ्गमेजयत्व आदि सम्पूर्ण योगविघ्नोंकी शान्ति हो जाती है; यही आसनसिद्धिका उपाय और लक्षण है। इस प्रकार आसनसिद्धिसे योगसाधनमें साधकको बहुत ही सहायता मिलती है॥ ४७॥

अब आसनसिद्धिका फल बताया जाता है—

आसन जय करने से द्वन्द्वों की बाधा मिट जाती है॥४८॥

इस सूत्रद्वारा आसनसिद्धिका फल वर्णन कर रहे हैं। एकमें दूसरे का जो अभाव हो उसे द्वन्द्व कहते हैं; अर्थात् शीतमें ग्रीष्मका अभाव और ग्रीष्ममें शीतका अभाव; इसी प्रकार सुखमें दुःखका अभाव और दुःखमें सुखका अभाव इत्यादि द्वन्द्वकी बाधाएँ हैं। आसनसाधनामें सिद्धिलाभ करनेसे जिस समय शरीर सम्पूर्ण स्थिरता और निश्चलताको प्राप्त होजायगा और मन भी निश्चल होकर किसी अनन्तभावमें लवलीन होजायगा तो उस समय स्वतः ही शीतोष्णादि द्वन्द्वोंका प्रभाव उस शरीर या मनपर नहीं हो सकेगा और वह आसनसिद्ध धीर योगी आध्यात्मिक मार्गमें अनायासही क्रमशः अग्रसर हो सकेगा यही आसनसिद्धि-द्वारा द्वन्द्वबाधानिवृत्तिका तात्पर्य है॥ ४८॥

अब आसनसिद्धिके साथ प्राणायामका सम्बन्ध बताकर उसका लक्षण किया जाता है।

आसन के स्थिर होजानेसे जो श्वास और प्रश्वास की गति का अवरोध होजाता है उसे प्राणायाम कहते हैं॥ ४९॥

अब प्राणायाम का वर्णन कर रहे हैं। जो साधकगण आसन सिद्ध नहीं कर सकते, मन की चंचलताके कारण उनकी वायु भी चंचल रहती है; इस कारण वे प्राणायाम-साधन के अधिकारी नहीं हो सकते। श्वास का बाहिर निकलना और भीतर जाना रूप जो

ततो द्वन्द्वानभिघातः॥ ४८॥

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥ ४९॥

प्राण की क्रिया है, उसके अवरोध-साधन को प्राणायाम कहते हैं। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि मनुष्य दौड़ते दौड़ते या घोड़ा दौड़ाकर मनःसंयमकारी कोई गभीर चिन्ता नहीं कर सकता है। मनः-संयमके लिये शरीर को निश्चल करनेकी आवश्यकता अवश्यही होती है। सुतरां विना आसन दृढ़ किये मनोजयकारी प्राणायाम-क्रियाका साफल्य होना असम्भव है। यह प्राणायाम–क्रिया श्वास प्रश्वासके सुकौशलपूर्ण-साधनसे सिद्ध हो सकती है उसका विस्तारित विवरण अगले सूत्रों में किया जावेगा ॥ ४६ ॥

प्राणायामका विशेषरूप वर्णन किया जाता है—

वह प्राणायाम देश काल और संख्याओं से अवधारित होकर बाह्यवृत्ति अर्थात् रेचक, आभ्यन्तरवृत्ति अर्थात् पूरक और स्तम्भवृत्ति अर्थात् कुम्भक के साथ दीर्घ और सूक्ष्म-रूपसे होना है ॥ ५० ॥

पूरक अर्थात् श्वास लेना आभ्यन्तरवृत्ति है और रेचक अर्थात् प्रश्वास फेंकना बाह्यवृत्ति है, इन दोनों का नाम पूर्व्व सूत्रमें आचुका है, जहां श्वास और प्रश्वास दोनों न हों वही भीतर की स्तम्भ वृत्ति कुम्भक कहाती है। रेचक, पूरक और कुम्भक-क्रियाओं द्वारा प्राणायाम साधन होता है, परन्तु लक्ष्य कुम्भक पर ही रहता है; अर्थात् प्राणवायु जितनी ठहर जायगी उतनी ही प्राणायाम की सिद्धि होगी। प्राणायाम-साधनमें शरीरके विशेष विशेष स्थानोंमें स्तम्भन की विधि है, इस कारण प्राणायाममें देश है; रेचक, पूरक और कुम्भकमें समयका भेद भी रक्खा गया है, इस कारण प्राणायाममें काल है; और संख्याद्वारा प्राणायाम-साधन-अभ्यासकी नियम रक्षा की जाती है, इस कारण प्राणायाममें संख्या भी है; इस प्रकार देश, काल और संख्याकी सहायतासे कुम्भक अभ्यास करता हुआ साधक प्राणायाम सिद्ध कर सकता है। पहले पहल प्राणायाम का विस्तार दीर्घ रहता है अर्थात् प्राणवायु वेगसे

बाह्याऽभ्यन्तरस्तंभवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥५०॥

चलता रहता है, पुनः जितना कुम्भक अभ्यास होता जाता है है उतनी ही प्राणवायु की गति मन्द होकर सूक्ष्म होती जाती है; और जितनी उसकी गति सूक्ष्म होती जाती है; उतनी ही अन्तः-करणकी वृत्तियाँ स्तम्भित होती जाती हैं । प्राणायामकी परावस्था का अगले सूत्रमें प्रकाश किया जायगा ॥ ५० ॥

तथा च—

बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंका जिसमें त्याग हो वह चतुर्थ अवस्था है ॥ ५१ ॥

जितने प्रकारकी प्राणायाम-क्रिया हुआ करती हैं उन सबोंकी गति, चार भागमें विभक्त कर सकते हैं; अर्थात् रेचककी गति पूरककी गति, कुम्भककी गति और चौथी इन तीनोंके विचारसे रहित गति। योगशास्त्रके नाना ग्रन्थोंमें आठ प्रकारके प्राणा-याम की क्रियाएँ पाई जातीं हैं; उनके नाम सहित, सूर्य्यभेदी, भ्रामरी, शीतली, भस्त्रिका, उज्जायी, मूर्च्छा और केवली हैं। इनमेंसे सबों की गति इन तीनों सूत्र कथित उपायपर है; अर्थात् किसीमें रेचक पूरकके नियमबद्ध करने की विधि है, किसी किसीमें कुम्भक ही पर अधिक विचार है और किसी किसी साधनमें कुम्भककी परावस्थामें पहुंचकर रेचक पूरक और कुम्भकसे उपराम होकर शान्ति अवस्था प्राप्त करने पर लक्ष्य है। प्राणायाम का कुछ विषय प्रथमपादमें भी आचुका है और इसका विस्तारित ज्ञान शब्दद्वारा नहीं होसकता क्योंकि क्रिया-सिद्धांश श्रीगुरुदेवके क्रिया-उपदेशसे ही प्राप्त हो सकता है । इस सूत्र का यही तात्पर्य्य है कि रेचक, पूरक और कुम्भकरूपी प्राण-वायुकी सुकौशलपूर्ण-क्रिया करते करते जब प्राण और अपानकी क्रिया रोध होजाती है तो उस समय साधकका अन्तःकरण ठहर कर बाह्य और आभ्यन्तरके विषयोंसे शून्य होजाता है। प्राणायामकी यह पूर्णावस्था और रेचक पूरक कुम्भककी यह परावस्था ही इस सूत्र-कथित प्राणायामकी चतुर्थावस्था है ॥ ५१ ॥

बाह्याऽभ्यन्तरविषयापेक्षी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

अब प्राणायाम साधनका फल बताया जाता है—

प्राणायाम-सिद्धिसे ज्ञानके आवरणरूप मलका नाश होजाता है ॥ ५२ ॥

पूर्व्व सूत्रोंमें महर्षि सूत्रकार प्राणायामका विस्तारित विवरण करके अब उसकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होजानेसे जो फलकी प्राप्ति होती है सो कह रहे हैं। अन्तःकरणकी चंचलता ही ज्ञानका आवरण करनेवाली मलरूपा है: अर्थात् बुद्धि जितनी चंचल रहेगी उतना ही उसमें चैतन्यरूपी ज्ञानका प्रकाश कम होगा और तमका प्रकाश बढ़ जायगा, परन्तु अन्तःकरण जितना ठहर जायगा उतनी ही बुद्धि अपने रूपको प्राप्त होती जायगी: इस प्रकार यदि अन्तःकरणमें वृत्ति न उठनेसे अन्तःकरण एक-बार ही शान्त हो जायगा तो अवश्य ही बुद्धिपरका तमरूपी मल दूर होकर बुद्धि अपनी पूर्णताको प्राप्त होजायगी। पूर्व्व सूत्रोंमें मन, वायु और वीर्य्यकी एकताका वर्णन कई स्थानोंपर आचुका है, तो जब प्राणायाम-साधनसे प्राण और अपानकी गति रुद्ध होकर प्राणवायु ठहर जाता है तो मन और वायुका एक सम्बन्ध होनेके कारण अन्तःकरण भी ठहर जायगा: और जब अन्तःकरण-की वृत्तियाँ ठहर जायँगी तो स्वतःही बुद्धिपरका मल दूर होकर बुद्धि पूर्णरूपेण प्रकाशित होने लगेगी ॥ ५२ ॥

फलान्तरका वर्णन किया जाता है—

तब धारणाओंमें मनकी योग्यता होती है ॥ ५३ ॥

पूर्व-लिखित रूपसे जब प्राणायाम-साधन द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होजाता है तब योगीके मनकी शक्तिकी वृद्धि होनेके कारण क्रमशः धारणा अर्थात् मन एकाग्र करनेकी शक्ति बढ़ जाती है। इस सूत्रका यही तात्पर्य्य है कि प्राणायाम-साधनसे पहले योगी केवल बहिर्जगत्में ही रहता है, परन्तु प्राणायाम-साधनमें योग्यता प्राप्त करनेसे तब वह मन-राज्यरूपी अन्तर्जगत्में अधिकार स्थापन कर

ततः क्षीयते प्रकाशाऽऽवरणम् ॥ ५२ ॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

सकता है। इस सूत्रका यह भी तात्पर्य है कि प्राणायाम-भूमिके अनन्तर प्रत्याहार-भूमि होने पर भी प्राणायाम केवल प्रत्याहार ही का सहायक नहीं बनता है परन्तु मनको योग्य बनाकर धारणाका भी सहायक बना देता है ॥ ५३ ॥

अब क्रमप्राप्त पञ्चमाङ्गरूप प्रत्याहारका वर्णन किया जाता है-

इन्द्रियगण अपने अपने विषयको त्याग करके चित्तके स्वरूपका जब अनुकरण करें तबही वह प्रत्याहार कहाता है ॥ ५४ ॥

अब इस सूत्रद्वारा महर्षि सूत्रकार प्रत्याहार अर्थात् पंचम योग-अंगका वर्णन कर रहे हैं । तन्मात्राकी शक्तिद्वारा जब मन इन्द्रियोंसे लगकर इन्द्रिय-द्वारा विषयको ग्रहण करके विषयवत् हो जाता है तब ही अन्तःकरण फँस जाता है । परन्तु जब ऐसी क्रिया की जाय कि इन्द्रियगण विषयमें नहीं मिलें परन्तु विषयसे पृथक् होकर बुद्धितत्त्वका अनुगमन करें तो उस अवस्थाका नाम प्रत्याहार कहावेगा । कछुआ जब कोई क्रिया करता है तब वह अपने हाथ पैरों को उदरसे बाहिर निकालकर काम करता है, परन्तु जब वह काम करना नहीं चाहता तब वह अपने हाथ पैरोंको सकोड़ लेता है; उसी प्रकार इन्द्रियगणको विषयोंसे समेट कर अन्तःकरणके शुद्ध स्वरूपकी ओर चलानेका नाम प्रत्याहार है जैसे प्राणायाम-साधनकी बहुतसी क्रियाएँ हैं वैसे ही प्रत्याहार-साधनकी भी नाना-क्रियाएँ हैं; परन्तु वे क्रियासिद्धांश होनेके कारण श्रीगुरुदेव द्वारा ही उपदेश पानेके योग्य हैं। जिस प्रकार रानी मक्षिका (शहदकी रानी मक्खी) के अधीन और सब मक्षिकाएँ रहती हैं, अर्थात् वह जिधरको जाती है और कीट भी उधर ही उड़ भागते हैं; उसी प्रकार अन्तःकरण अर्थात् मन जिधरको चलता है उधरही इन्द्रियें भी चलकर विषयमें लग जाती हैं । प्रत्याहार मनोराज्यका साधन है और सुकौशलपूर्ण-प्रत्याहारकी क्रियाओंसे मनका तन्मात्राओं द्वारा इन्द्रियोंसे सम्बन्ध छूट जानेके कारण इन्द्रियगण अन्तःकरणमें लय होकर स्थिर हो रहती हैं, यही प्रत्याहार कहाता है ॥ ५४ ॥

स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥५४॥

प्रत्याहारसाधनका फल बताया जाता है---

प्रत्याहारसे इन्द्रियगण अत्यन्त वश हो जाती हैं ॥५५॥

अब इस सूत्र-द्वारा प्रत्याहारकी पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो जानेसे जो अतिउत्तम फलकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। शब्दादि विषयोंमें पूर्णरूपेण विरक्ति हो जानेसे, अर्थात् विषयोंसे एकबार ही मुख फेर लेनेसे इन्द्रिय-जय कहाता है। परन्तु अनादि-कालसे विषयके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेके कारण विषयसे इन्द्रियोंका अपने आप मुख मोड़ना असम्भव है; और इस कारण ही इन्द्रियगणकी यह स्वाभावसिद्ध-विषयवती-शक्ति ही व्यसन कहाती है; इन्द्रिगणका यह व्यसन तब ही दूर हो सकता है जब इन्द्रियगणकी ऐसी पुरुषार्थहीन अवस्था कर दी जाय कि वे चलायमान ही न हो सकें। मन जब तन्मात्राओंकी उत्तेजनाके कारण इन्द्रियोंसे आकर मिलता है तब ही इन्द्रियगण अपने आपेसे बाहिर हो जाती हैं; परन्तु जब प्रत्याहार-साधनसे अन्तःकरण इतना वशीभूत हो जाता है कि वह पूर्णरूपेण वैराग्य उत्पन्न होनेके कारण विषयभोगके निमित्तसे इन्द्रियगणके साथ सम्बन्ध स्थापन करना ही नहीं चाहता; तब अपने आपही इन्द्रियगण पुरुषार्थहीन होजाती हैं। यही प्रत्याहार-साधनकी पूर्णावस्था है। इस ही अवस्थामें यदि इन्द्रियोंका सम्बन्ध भी विषयोंसे हो जाता हो तो वे भी पुरुषार्थ-हीन होनेके कारण आसक्त होकर पूर्वरूपसे उन विषयोंमें नहीं लग सकतीं; अर्थात् विषयगण पूर्व अवस्थामें जैसे उनको मोहित कर लिया करते थे वैसा अब नहीं कर सकते। इस प्रकार प्रत्याहार-साधनकी सिद्धावस्थामें साधक विषयसे एकबार ही मुख फेर कर पूर्णरूपेण जितेन्द्रिय हो जाता है ॥ ५५ ॥

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिकृत सांख्यप्रवचन सम्बन्धीय योगशास्त्रके साधनपादके संस्कृतभाष्यका भाषानुवाद समाप्त हुआ।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे साधनपादः।

विभूतिपादः ।



प्रथमपादमें योग क्या वस्तु है सो कहा गया है । द्वितीयपादमें योगसाधन, उसका अवान्तर भेद तथा अङ्ग प्रत्यङ्गोंका वर्णन किया गया है । अब इस पादमें उसका फलाफल वर्णन किया जाता है । योगरूपी महान् कल्पतरु यमनियमादिद्वाराप्राप्त बीज, आसनप्राणायामादिद्वारा अङ्कुरित तथा प्रत्याहारादि द्वारा कुसुमित होकर अब धारणाध्यानादिद्वारा सुमधुर शाश्वत फल प्रसव करेगा । इसलिये पूर्वपादमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार साधनका वर्णन करके अब क्रमप्राप्त धारणाङ्कका वर्णन किया जाता है—

अन्तर्जगत्के विशेष विशेष स्थानोंमें चित्तका स्थिर करना धारणा कहलाता है ॥ १ ॥

द्वितीयपादमें अन्तःशुद्धि, क्लेशोंका दूर करना, और योगाङ्गके पांच अङ्गोंका वर्णन करके अब महर्षि सूत्रकार तृतीयपाद आरम्भ करते हैं; और इस सूत्रद्वारा योगके छटे अङ्ग धारणाका वर्णन कर रहे हैं । जब पूर्व्व साधनोंसे बहिर्जगत्को जीतकर साधक अन्तर्जगत्में प्रत्याहार-साधन द्वारा पहुँच जाता है तब ही वह अन्तर्जगत्में भ्रमण करनेके योग्य हो जाता है । अन्तर्जगत्के विशेष विशेष स्थानोंमें अधिकार जमानेको धारणा कहते हैं; जिस प्रकार प्राणायामआदिके बहुप्रकारके साधन हैं उसी प्रकार धारणा अङ्गके भी बहुप्रकारके नियम हैं जो श्रीगुरुदेवसे ही प्राप्त हो सकते हैं। धारणा भी दो प्रकारकी है, यथा—स्थूल-धारणा और सूक्ष्म-धारणा; नाभिआदि शारीरिक स्थानोंमें जो धारणा की जाती है वह स्थूल अर्थात् एक प्रकारकी है, और पञ्च सूक्ष्म महाभूतोंमें जो धारणा

देशबंधश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

की जाती है वह सूक्ष्म अर्थात् दूसरे प्रकारकी धारणा है। इसी प्रकार बाह्य और अन्तर् भेदसे भी इसके और दो भेद हैं; अर्थात् पूर्व्वलिखित दो प्रकारकी धारणा तो अन्तर्धारणा कहाती है, और प्रथम अधिकारियोंके लिये जो बाहिरसे धारणाका अभ्यास किया जाता है उसे बाह्य धारणा कहते हैं। धारणाकी क्रियामें सफल-काम होनेसे योगीके लिये पुनः बार बार प्रत्याहार करनेकी आवश्यकता नहीं होती। वह तब बहिर्जगत्से उपराम हो अन्तर्जगत्में ही अपने अन्तःकरणको ठहरा रखनेमें समर्थ होता है। योगीकी धारणाकी अवस्थामें उसकी समाधिके पथमें कोई भी बहिर्विषय बाधा नहीं डाल सकता। यह धारणा-साधन ही समाधिमें जानेका प्रथम द्वार है ॥ १ ॥

क्रमप्राप्त ध्यानका वर्णन किया जाता है—

वहां ध्येयाकार चित्तवृत्तिकी स्थिरतासे ध्यानकी प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

अब महर्षि सूत्रकार योग-अङ्गके सप्तम अङ्ग ध्यानका वर्णन कर रहे हैं। धारणासे धारण किये हुए स्थानोंमें धारणाक्रिया-साधनके अन्तमें धारणामेंकी ध्येय-वस्तुके साथ जो मनकी एकता है उसे ध्यान कहते हैं; अर्थात् उन उन स्थानोंमें ध्येयके अवलम्बनसे उसके ज्ञानमें लय होकर अनुपम ज्ञानको प्राप्त करके उसी ज्ञानमें स्थायी सम्बन्ध रखनेका नाम ध्यान है। जिस प्रकार पूर्व्व साधनोंके नाना प्रकारके भेद हैं उसी प्रकार ध्यानके भी हैं और वे श्रीगुरु-मुखसे ही प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार योगसाधन-मार्गके चार भेद हैं जिनका कि पूर्व्वमें वर्णन आ चुका है, उसी प्रकार ध्यानके भी चार भेद हैं; यथा—स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान, बिन्दुध्यान और ब्रह्मध्यान। ध्यानके विज्ञानको इस प्रकारसे समझ सकते हैं कि जब योगी स्थूलध्यान करते समय अपने इष्ट देवकी मनोमयी सर्वाङ्गसुन्दर स्थूलमूर्त्तिको अपने हृदयपटमें देखता है तो प्रथम उस मूर्त्तिकी धारणा क्रमशः अपने अन्तःकरणमें उत्पन्न करता है। तदनन्तर उसी धारणासे जब ध्येयाकार वृत्ति उत्पन्न

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

हो जाती है तब उसीको ध्यान कहते हैं। ज्योतिर्मय ज्योतिर्ध्यान और बिन्दुमय बिन्दुध्यानके भी सगुण होनेसे उनमें भी यही शैली रहती है। परन्तु ब्रह्मध्यानका उदय कुछ विचित्र ही है। सर्वोत्तम ब्रह्मध्यान करते समय प्रथम योगिराज सच्चिदानन्दमय भावत्रयद्वारा अपने अन्तःकरणको ब्रह्मधारणासे युक्त करता है, तदनन्तर त्रिभावमय ब्रह्मधारणासे युक्त अन्तःकरण त्रिभावके अवलम्बनसे लय होकर त्रिभावमय ब्रह्मस्वरूपके ध्यानमें समर्थ होता है। यह ध्यान-साधन ही समाधिमें जानेका दूसरा द्वार है; अर्थात् ध्यान-साधनके सिद्ध होजानेसे समाधिकी भूमि प्राप्त होती है ॥२॥

अब अन्तिम अङ्ग समाधिका वर्णन किया जाता है—

वही ध्यान जब ध्येयमात्र-स्फूर्तियुक्त हो और ध्यान स्वरूप-शून्य सा प्रतीत होने लगे तब उसे समाधि कहते हैं॥ ३॥

अब योगके शेष लक्ष्य अष्टाङ्ग योगके शेष अङ्ग समाधिका वर्णन होरहा है। जब तक ध्याता अर्थात् ध्यान करनेवाला, ध्यान अर्थात् ध्यान करनेकी शक्ति और ध्येय अर्थात् जिसका ध्यान किया जाता है वह वस्तु, ये तीनों ही अलग अलग प्रतीत हों तब तक वह अवस्था ध्यान कहाती है; परन्तु जब यह तीनों अवस्था मिट जायँ अर्थात् इन तीनों की स्वतंत्र सत्ता न रहे तभी वह समाधि कहावेगी। इस समाधिकी प्रथम अवस्था और संप्रज्ञात-योग जिसका वर्णन पूर्व्व आचुका है, इन दोनों अवस्थाओंमें इतना ही भेद है कि, समाधिमें चिन्ता विनष्ट होजाने से ध्येयका स्वरूप ठीक ठीक प्रकाशित नहीं होता; परन्तु सम्प्रज्ञातयोग-अवस्थामें (जो अवस्था कि इस समाधिकी प्रथम अवस्थाके पश्चात् होती है) साक्षात्कारका उदय होनेसे समाधिकी अवस्थाके अगम्य विषय भी प्रतीत होने लगते हैं। साक्षात्कारसे युक्त एकाग्र-अवस्थामें वह सम्प्रज्ञात-योग अर्थात् सविकल्प समाधि हुआ करती है; इस प्रकार

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

से इस समाधि अवस्थाके तीन विभाग हो सकते हैं, यथा—प्रथम साधारण-समाधि-अवस्था, दूसरी सविकल्प-समाधि-अवस्था, और तीसरी निर्विकल्प-समाधि-अवस्था, जिसमें कि कैवल्यपदकी प्राप्ति होती है; ये तीनों अवस्थाएँ एक दूसरेके अनन्तर हुआ करती हैं। समाधिकी प्रथम अवस्था जिसका कि इस सूत्रमें वर्णन होरहा है तबही हुआ करती है जब ध्यानरूपी स्वतंत्र-वृत्ति ध्येयके रूपमें प्रतीत होने लगती है; अर्थात् ध्यानका स्वरूप उस समय नहीं प्रतीत होता; ध्यातामें ध्येय-स्वभावका आवेश हो जाना ही समाधिकी प्रथम अवस्था है; इसी भूमिको प्रथम साधक प्राप्त करके तब आगे की भूमियोंमें अग्रसर होता है। साधारण समाधि सब व्यक्तियोंको हो सकती है। कोई कवि जब काव्य-भावमें भावित होकर कविता करनेमें प्रवृत्त होता है तो उस समय कभी कभी वह अपनेसे अगम्य विषयोंको भी लिख डालता है। योगी जब किसीके चित्तमें संयम करता है, जिस संयमके लक्षणका आगेके सूत्रमें वर्णन है तो उस समय संयममें इस प्रथम समाधिके द्वारा ही योगी दूसरेके अन्तःकरणको देख लेता है। सब प्रकारकी योग-सिद्धियोंमें इसी दशाकी समाधि काम देती है। सगुण उपासनाके सब प्रकारके ध्यानकी प्रणाली द्वारा महाभाव प्राप्त करके अथवा हठयोगकी वायुनिरोध-प्रणाली द्वारा महाबोध प्राप्त करके अथवा लययोग-प्रणालीके नाद-बिन्दुके एकीकरणद्वारा महालय प्राप्त करके जो समाधि की जाती है, वे सब सविकल्प समाधियाँ हैं। और ज्ञानमय राजयोगकी सहायतासे आत्मज्ञानकी उपलब्धिसे जो विकल्पशून्य समाधि होती है उसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। पहली समाधि केवल संयममूलक है और दूसरी तथा तीसरी समाधि एकतत्त्व-मूलक है। प्रथममें समाधि होती है परन्तु उसका अनुभव अपनेको नहीं होता है। समाधिसे केवल कार्य निकलता है। दूसरी दशामें समाधि अनुभूत होती है, परन्तु वह विकल्प-शून्य और चिरस्थायी नहीं होती और तीसरी समाधि विकल्प-रहित और चिरस्थायी होकर अद्वैतदशाको उत्पन्न करती है। यहां सूत्रकार केवल प्रथमश्रेणीकी दशाको समझानेके लिये ही समाधिका इस प्रकार लक्षण वर्णन करते हैं॥ ३॥

अब इन तीनोंके एक साथ प्रयोग का फल बताया जाता है—

उन तीनों का एकमें मिलित होना ही संयम कहाता है ॥ ४ ॥

पूर्व्व कथित धारणा ध्यान और समाधि (साधारण समाधि) इन तीनोंको एक करने से संयम कहाता है ; अर्थात् जब किसी एक विषयमें इन तीनों अङ्गोंका एकत्र समावेश किया जाय तब वह अवस्था संयमकी होजावेगी। एकतत्त्वका वर्णन पहले ही कर चुके और उस समय एकतत्त्वके साथ समाधिका सम्बन्धभी दिखा चुके। अब संयमका स्वरूप बताकर समाधिके साथ संयमके सम्बन्ध का रहस्य दिखाया जाता है। एकतत्त्वाभ्याससे द्वैतभान नष्ट हो जानेके कारण सविकल्प समाधिभूमिसे तुरन्त ही निर्विकल्प समाधिभूमिमें पहुँच कर अद्वैत आत्मस्वरूपकी उपलब्धिका सहज ही अवसर प्राप्त होता है ; क्योंकि एकतत्त्व-द्वारा अन्तःकरणकी वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं तब अन्तःकरण द्वैतभावशून्य हो जाता है परन्तु संयमसे सम्बन्ध रखनेवाली जो साधारण समाधि है उसमें विषयकी धारणा रहती है, ध्येयका ध्यान रहता है और तौभी समाधिकी जाती है। वैसा न हो तो अलौकिक योगसिद्धि-समूह कैसे प्राप्त हो सकते ? इस कारण यह समाधि द्वैतभावसे पूर्ण होती है। इस गहन विषयको और प्रकारसे भी समझ सकते हैं। यथा-स्मृतिशास्त्रमें :—

संयमश्चैकतत्त्वञ्च शक्तिद्वयमलौकिकम्।
पुरो वो वर्णितं देवाः ! मया सम्यक्तयाऽनघाः ॥
जायते संयमस्तत्र धारणा-भूमितो ध्रुवम् ।
ध्यान-भूम्यास्तु भो देवाः ! एकतत्त्वं प्रजायते ॥
त्रयं हि धारणाध्यानसमाधीति क्रियात्मकम् ।
दृश्याश्रयात्प्रयुक्तं सन्निर्जराः ! संयमोभवेत् ।
यदा त्वात्मानमुद्दिश्य त्रयमेतत्प्रयुज्यते ।
एकतत्त्वं तदोदेति ह्येषा वैदान्तिकी श्रुतिः ॥

हे निष्पाप देवतागण ! मैंने जो संयम और एकतत्त्वरूपी

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

अलौकिक दो शक्तियोंका वर्णन किया है हे देवगण ! उनमें संयम धारणा-भूमिसे और एकतत्त्व ध्यान भूमिसे निश्चय प्रकट होता है। धारणा ध्यान और समाधि ये तीनों क्रियाएँ जब इस दृश्यके अवलम्बनसे प्रयुक्त होती हैं तब उनको संयम कहते हैं और जब केवल आत्माके लक्ष्यसे प्रयुक्त होती हैं तब एकतत्त्वका उदय होता है, यही उपनिषद्का रहस्य है। एकतत्त्वमूलक समाधि चाहे सविकल्प हो या निर्विकल्प, उसमें धारणाभूमि और ध्यानभूमिका कोई भी सम्बन्ध न रहनेसे यह मानना ही पड़ेगा कि एकतत्त्व ध्यानभूमिके अन्तमें उत्पन्न होता है; परन्तु संयमके साथ धारणाका सम्बन्ध रहनेसे संयमकी क्रिया धारणभूमिसे प्रकट होती है और क्रमशः ध्यान-भूमि तथा समाधिभूमिके साथ धारणाभूमि, इन तीनोंको मिलाकर एकसाथही तीनोंमें से अपनी क्रियाको पूर्णबलसे युक्त करके फलको उत्पन्न करती है। संयम क्यों किया जाता है और उन तीनोंके एकत्र अभ्यासरूप संयमक्रियासे कैसे कैसे दिव्य फलोंकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन महर्षि सूत्रकार आगे के सूत्रों में करेंगे ॥ ४ ॥

संयमाभ्यासका फल कहा जाता है—

उसके जयसे प्रज्ञाका प्रकाश होता है ॥ ५ ॥

पूर्व्वसूत्र-कथित संयमके साधनसे अर्थात् जब संयमका पूर्ण-रूपेण अभ्यास होजाता है तब समाधिविषयक बुद्धिका प्रकाश होता है। जितना जितना संयम स्थिर होता जाता है उतनी उतनी ही पूर्णज्ञानमय-परमात्माकी कृपासे समाधि-विषयिणी दिव्य-बुद्धि प्रकाशित होती हुई शेषमें पूर्णताको प्राप्त हो जाती है। समाधि-विषयिणी बुद्धिसे तात्पर्य्य यह है कि वह भ्रमहीन-बुद्धि जो योगसिद्धियोंमें कार्यकारिणी होती है सो संमय-सिद्धिसे ही उदय होती है ॥५॥

अब संमयकी प्रयोगविधि बताई जाती है:—

योगकी भूमियोंमें संयमका प्रयोग होता है ॥ ६ ॥

जैसे मनुष्य दो खंडयुक्त अट्टालिकाके दूसरे खंडमें तब तक

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

नहीं पहुँच सकता जबतक कि प्रथम खंड को प्राप्त न करलेवे; अर्थात् प्रथम वह नीचेसे प्रथम खंडमें चढ़ेगा और तत्पश्चात् प्रथम खंडसे चढ़ता हुआ दूसरे खंडमें पहुंच सकता है; वैसे ही पूर्व्वोक्त रूपसे संयमद्वारा प्रथम भूमिको जीत कर तत्पश्चात् योगी योगकी दूसरी उत्तम भूमिमें पहुंच सकेगा। इस प्रकार योगी जब भगवत्-कृपासे नीचेकी भूमिसे उच्चतर भूमिमें पहुंच जाता है तब वह नीचेकी भूमिमें आता ही नहीं, क्योंकि उन विषयोंको स्वयं ही जानता है। इससे यही तात्पर्य्य है कि योगावस्था में योगसे ही योगकी प्राप्ति होती है; अर्थात् उन्नत-भूमिमें भगवत्-प्रकाश-रूप समाधि-ज्ञान ही संयमक्रियासे युक्त होकर एक अवस्था से साधकको दूसरी अवस्थामें पहुंचा देता है। संक्षेप यह है कि संयमक्रियाका प्रयोगस्थान केवल धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन भूमियोंमें ही है और संयमक्रिया धारणाभूमिमें विषय-धारणासे प्रकट होकर विषयाकार वृत्तिसे ध्यानभूमिमें पहुंच कर समाधिभूमिमें जा सिद्धिको लाभ करती है। फलसिद्धिके लिये संयमक्रिया धारणाभूमिमें अंकुररूपसे प्रकट होकर समाधिभूमिमें सिद्धिरूप फल प्रसव करती है ॥ ६ ॥

अष्टाङ्गोंमेंसे इन तीनोंकी विशेषता बताई जाती है—

पहले वालोंसे यह तीनों अन्तरंग हैं ॥ ७ ॥

केवल धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों अंगोंको ही क्यों इस विभूति नामक तीसरे पादमें लिया गया है? इसके विचारसे महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि यद्यपि योगसाधनके आठ अङ्ग हैं, इस कारण उनकी आठ क्रियाभूमियोंका होना भी स्वतः सिद्ध है। उन आठ योगभूमियोंमेंसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये सब बहिर्जगत्‌को जय करनेके अर्थ ही हैं। अन्तर्जगत्‌के साथ इन पांचोंका कोई भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है क्योंकि प्रत्याहारद्वारा बहिर्जगत्‌को भूल कर अन्तर्जगत्‌में योगी पहुंचा करता है। अतः प्रथम पांच योगभूमि अन्तर्जगत्‌की किसी क्रियामें साक्षात्‌रूपसे नहीं काम आती हैं। धारणा, ध्यान और समाधिकी जो तीन

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

भूमियाँ हैं, ये ही अन्तर्जगत्की भूमियाँ हैं। इन्हींका सम्बन्ध संयम-क्रियाके साथ दिखाया जाता है और यह सिद्ध किया जाता है कि संयमक्रियाका विस्तार धारणा, ध्यान और समाधिभूमि पर्य्यन्त है। योगके आठों अंगोंमेंसे प्रथम पाँच अंगोंके साथ बहिर्जगत्का इस प्रकार अधिक सम्बन्ध रहनेके कारण इनको द्वितीयपादमें लिखा गया था; परन्तु धारणा, ध्यान, और समाधिरूप जो तीन साधन हैं ये अन्तर्जगत् से अधिक सम्बन्ध रखते हैं, इस कारण ही इनको अन्तरंग साधन समझकर सम्प्रज्ञात-साधनरूप विभूतिपादमें रक्खा गया है। इस सूत्रसे यही तात्पर्य है कि योगके प्रथम पांच अंग तो बहिरंग साधनके हैं और पिछले तीन अंग अन्तरंगरूपी सम्प्रज्ञात-योगसाधनके हैं ॥ ७ ॥

असंप्रज्ञात समाधिके साथ इनका सम्बन्ध कहा जाता है—

वह भी निर्बीज अवस्थाका बहिरंग है ॥८॥

जिस प्रकार प्रथम योगके पांच अंगोंकी भूमियां बहिर्जगत्से सम्बन्ध रखनेके कारण अन्तर्जगत्के धारणा, ध्यान समाधिरूपी तीन अंगोंकी भूमियोंकी बहिरंग हैं, उसी प्रकार धारणा, ध्यान, समाधिरूपी संयमक्रियासे की हुई सम्प्रज्ञात-योग-अवस्था निर्बीज रूपी असम्प्रज्ञात-योग अवस्थाकी बहिरंग हैं। सम्प्रज्ञात-योग अर्थात् सविकल्प-समाधिमें ध्याता, ध्येय और ध्यानका बोध रहता है और कुछ न कुछ अवलम्बन भी रहता है इस कारण उसमें प्रकृतिका बीज बना रहता है, परन्तु असम्प्रज्ञात-योगरूपी निर्विकल्प-समाधिमें बीजका नाम तक नहीं रहता; इस समाधिके निर्बीज होनेके कारण ही सम्प्रज्ञातरूपी सबीज-समाधि इसका बहिरंग है। इसी कारण स्मृतियोंमें कहा है :—

प्रोद्बोधयति जीवेषु नानाशक्तीर्हि संयमः ।
पेशीर्नैवाऽत्र सन्देहो नाऽलं मोचयितुं त्वसौ ॥
अविद्यापाशसन्नद्धाञ्जीवांस्तान्पाशबन्धनात् ।
एकतत्त्वन्तु शक्नोति भक्तान् दृश्यप्रपञ्चतः ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

हठादाकृष्य तेभ्यो हि शिवत्वं दातुमद्भुतम्।
साधनं संयमोपेतं योगस्याऽभ्युदयप्रदम्॥
केवलं त्वेकतत्त्वस्य साहाय्यात् साध्यते तु यत्।
साधनं तद्धि योगस्य निःश्रेयसकरं ध्रुवम्॥
एतदेवास्ति योगस्य रहस्यं श्रुतिमूलकम्।
योगस्य साधनानां हि तत्त्वज्ञानप्रकाशकम्॥

संयम अनन्त ऐशी शक्तियोंको जीवोंमें प्रकट करता है; परन्तु पाशबद्ध जीवोंको पाशमुक्त नहीं कर सकता है और एकतत्त्व मेरे भक्तोंको दृश्यप्रपञ्चसे हटा कर उनको अद्भुत शिवत्व प्रदान करनेमें समर्थ है। संयमसे युक्त योगसाधन अभ्युदयकारी है और केवल एकतत्त्वकी सहायतासे साधित योग ही निःश्रेयसकारी हो सकता है। यही श्रुतिमूलक और साधकोंके लिये योगके तत्त्वोंको प्रकाश करने वाला योगका रहस्य है। इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि संयमक्रियाका फल सम्प्रज्ञात-समाधिसे ही सम्बन्ध रखता है, निर्बीज निर्विकल्प समाधिसे उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मोक्षरूपी परासिद्धिकी प्राप्ति निर्बीज समाधिका फल है; परन्तु सकल प्रकारकी दिव्य ऐश्वर्यरूपी नाना अपरा सिद्धियां सम्प्रज्ञात समाधिसे ही सम्बन्ध रखती हैं और वे सब अवस्थाएं निर्बीज समाधिकी बहिरंग हैं इसको मुमुक्षु योगीको सदा स्मरण रखना उचित है॥ ८॥

अब निर्बीज समाधिके अन्तरंगरूप निरोधपरिणामका वर्णन किया जाता है—

व्युत्थान संस्कारोंका जो क्षय होना है और निरोध संस्कारोंका जो प्रकट होना है तथा निरोधके क्षणमें जो चित्तका धर्मीरूपमें दोनोंके साथ अन्वय है उसे निरोध-परिणाम कहते हैं॥ ९॥

जिस समय अन्तःकरण अपने स्वाभाविक गुणोंसे अथवा अपने

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥ ९॥

अभ्यास तथा संस्कारके वश हो नाचता रहता है तब वह दशा व्युत्थान-संस्कारकी कहाती है और जब अन्तःकरणकी वह स्वाभाविक चञ्चलता एकतत्त्वाभ्यासद्वारा जाती रहती है तब वह अवस्था निरुद्ध-संस्कार की कहाती है। जिस समय अन्तःकरणमें व्युत्थान-अवस्था होती है उस समय निरोध-अवस्था लयको प्राप्त हो जाती है और इसी प्रकार जब अन्तःकरणमें निरुद्ध-संस्कारका उदय होता है तो उसके साथ ही व्युत्थान-संस्कारका लय हो जाता है। इसही ठहरे हुए अन्तःकरणमें जो कुछ सूक्ष्मरूपेण परिणामी-अवस्थाएँ रहती हैं उन्हीं अवस्थाओंका नाम निरोध-परिणाम है। इस अवस्थासे तात्पर्य यह है कि जब अन्तःकरण चञ्चलरूप व्युत्थान-संस्कारसे अचञ्चलरूप निरोध-संस्कारमें परिणत होता है तब उसके मध्यमें अन्तःकरणकी वृत्तियाँ निरुद्ध तो हो गई हों परन्तु बीजरूपेण अभी कुछ कुछ उपस्थित हों; इस प्रकार कारण-रूपेण सबीज-अवस्थाको निरोध-परिणाम कहते हैं; अर्थात् जब अन्तःकरणमें व्युत्थान-संस्कार लय होते हैं और निरोध-संस्कार प्रकट होते हैं, तब अन्तःकरण दोनों संस्कारोंसे युक्त होनेपर भी निरोधरूप ही प्रतीत होता है; अन्तःकरणकी इस दशाको निरोध-परिणाम कहते हैं। इस निरोध-परिणामकी दशामें ही रह कर निर्बीज समाधिमें स्थित जीवन्मुक्त योगिराज प्रारब्धभोग करते हैं। इस समय एकतत्त्वकी सिद्धिद्वारा ऋतम्भराके उदयसे ज्ञानाग्निकी सहायतासे सञ्चित और क्रियमाण संस्कार उनके नष्ट हो जाते हैं; अर्थात् सञ्चितका सम्बन्ध छूट जाता है और क्रियमाणका संस्कार-संग्रह नहीं होता है। केवल निरोधपरिणामके द्वारा आये हुए जो कुछ शरीरजनक संस्कार अन्तःकरणमें रहते हैं उन्हीका फलरूपी कार्य होता रहता है ॥ ६ ॥

निरोधपरिणामका फल कहा जाता है—

निरोध संस्कार से अन्तःकरणकी शान्ति प्रवाहित होती है ॥ १० ॥

निरोध-संस्कारावस्थामें जीवन्मुक्त योगिराजको न पिछली

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

बातों पर आसक्ति रहती है और न आगेके विषयोंकी वासना रहती है; क्योंकि आत्मज्ञानद्वारा आसक्ति दूर होनेसे पूर्वका सम्बन्ध नष्ट हो जाता है और वासनाक्षयद्वारा भविष्यत्की इच्छा नष्ट हो जाती है। उस समय उस निर्विकल्प समाधिस्थित योगिराजके द्वारा केवल निरोधपरिणामद्वारा क्रमप्राप्त शरीरके प्रारब्धभोगजन्य कुछ संस्कार कार्य करते रहते हैं। वैसी सर्वोत्तम ज्ञानरूपी ऋतम्भरा की दशामें रजोगुण और तमोगुणका सम्पूर्णरूपेण लय हो जाता है इस कारण उनके अन्तःकरणमें निरन्तर ज्ञान और परमानन्दपूर्ण शान्तिकी मन्दाकिनी अविच्छिन्न धारामें प्रवाहित होती रहती है॥१०॥

असंप्रज्ञातकालमें होनेवाले निरोधपरिणामका स्वरूप कहकर अब संप्रज्ञातकालमें होनेवाले समाधिपरिणामका वर्णन किया जाता है:-

सर्वार्थताका क्षय और एकाग्रताका उदय ही अन्तःकरण में समाधिका परिणाम है ॥ ११ ॥

संयमका लक्षण और उसकी उपयोगिता कहनेके अनंतर निर्बीज समाधिमें पहुँचनेके अर्थ निरोधपरिणाम और उसके फलका वर्णन महर्षि सूत्रकार ने मुमुक्षुयोगीके लक्ष्य स्थिर रखनेके लिये कह कर अब पुनः सबीज समाधिमें संयमकी सहायतासे पाने योग्य समाधिपरिणामका वर्णन करते हैं। नाना विषयोंके संस्कारसे जो अन्तःकरणकी चञ्चलता होती है उसका नाम ही सर्वार्थता है। यह सर्वार्थता भी अन्तःकरणका गुण है और एकाग्रता भी अन्तःकरण का गुण है। सर्वार्थता जिस समय लय होती जाती है उसी समय अन्तःकरणमें एकाग्रताका उदय होता जाता है; इस प्रकार सर्वार्थता की क्षयावस्था और एकाग्रताकी उदयावस्थाकी प्राप्तिसे अन्तःकरणमें जो परिणामका उदय होता है वही समाधिपरिणाम कहाता है। यह पूर्व्व ही कह चुके हैं कि उन्नत-भूमिमें प्राप्त हुआ ज्ञान ही साधकको उन्नततर और श्रेष्ठभूमिमें स्वतः ही पहुँचा देता है। इस प्रकार एकाग्रताकी उन्नत भूमिमें जब अन्तःकरण पहुँच जाता है तब स्वतः ही वह पुनः समाधिभूमिको प्राप्त हो जाता है। उस

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

समय निरोधपरिणामको प्राप्त न होकर वासनाजनित संस्काररूपी बीजके आश्रयसे सविकल्प समाधि दशामें अन्तःकरणका जो परिणाम होता है उसीको समाधिपरिणाम कहते हैं जो ऐशीसिद्धि प्राप्तिका मूलकारण है ॥ ११ ॥

समाधिपरिणामके द्वारा सिद्धिप्राप्तिके लिये समाधिपरिणामानन्तर प्राप्त अन्य परिणामका वर्णन किया जाता है:—

तब शान्त-प्रत्यय और उदित-प्रत्ययकी समानतारूप चित्तकी जो स्थिति है वही एकाग्रता परिणाम है ॥ १२ ॥

एकतत्त्वकी उत्पत्ति ध्यानभूमिसे और संयमकी उत्पत्ति धारणाभूमिसे हुआ करती है। अतः एकतत्त्वकी सहायतासे अन्तःकरण वासनावीजसे रहित होकर चिरस्थायी निर्बीज निर्विकल्प समाधिकी उत्पत्ति करता है जिससे परा सिद्धिरूपी कैवल्य पदकी प्राप्ति होती है; परन्तु धारणाभूमिसे ही वासनाके बीजको साथ लेते हुए संयमक्रिया प्रकट होकर ध्यानभूमिसे समाधिभूमिमें पहुँचकर सिद्धिके वासना बीजको साथ लेते हुए समाधि-परिणामकी सहायतासे एकाग्रतापरिणामके द्वारा ऐशीसिद्धियोंको योगी प्राप्त कर लेता है। वे ही यावत् ऐशीसिद्धियां बहुप्रकारकी होती हैं और वे ही अपरासिद्धि कहाती हैं। जिस सिद्धिको सकामयोगी प्राप्त करना चाहता हो उस सिद्धिके स्वरूप और उस सिद्धिके प्राप्त करनेके कौशलकी धारणाको अन्तःकरणमें रखकर धारणा, ध्यान, समाधिरूपी संयमक्रियाकी सहायतासे समाधिशक्तियुक्त होकर योगीका अन्तःकरण एकाग्रतापरिणामसे अपरासिद्धियोंके प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है। वह एकाग्रता परिणाम शान्तप्रत्यय और उदितप्रत्ययकी तुल्यतासे युक्त होकर होता है। एकाग्रतापरिणाममें सिद्धिकी इच्छा रखनेवाले योगीका अन्तःकरण तरङ्गरहित जलाशयके समान वृत्तियोंकी सर्वार्थताओंसे रहित होकर शान्त होता है, इसी अवस्थाको शान्तप्रत्यय कहते हैं और साथ ही साथ सिद्धिकी इच्छाजनित वासनावीजके वेगसे

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ॥ १२ ॥

सिद्धिके उन्मुख उसका अन्तःकरण रहता है, इसी दशाका नाम उदितप्रत्यय है। युगपत् अर्थात् एकही साथ इन दोनों अवस्थाओंको धारण करके एकाग्रतापरिणामकी सहायतासे योगी नाना ऐशीसिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है ॥ १२ ॥

अब एकाग्रतापरिणामान्तर्गत अन्य परिणामका वर्णन किया जाता है—

इससे स्थूलसूक्ष्म भूत और इन्द्रियोंमें भी धर्म्म-परिणाम लक्षण-परिणाम और अवस्थापरिणाम वर्णित किये गये ऐसा समझना चाहिये ॥ १३ ॥

पूर्व्व सूत्रमें जो चित्त अर्थात् अन्तःकरणके परिणामका वर्णन किया गया है, उससे स्थूलभूत सूक्ष्मभूत और इन्द्रियोंमें जो तीन प्रकारके परिणाम होते हैं उनको भी समझना उचित है। अन्तःकरणमें व्युत्थान और निरोधरूपी धर्म्मके तिरोभाव और आविर्भावसे जो परिवर्त्तन होता है उसे धर्म्म-परिणाम कहते हैं; अर्थात् तब पूर्व-धर्म्म-निवृत्ति होकर उत्तर-धर्म्मकी स्थिति हो जाती है। अन्तःकरणका लक्षण-परिणाम तीन प्रकारका होता है; अर्थात् जब अनागत लक्षणका परित्याग करके केवल अतीत-लक्षणका अनुसरण करता है उसे भूतलक्षण-परिणाम कहते हैं, इस भूतलक्षण-परिणाममें अतीतलक्षण-परिणाम अन्यकालके परिणामसे अभिन्न नहीं है क्योंकि वर्त्तमानलक्षण-परिणाम और अनागतलक्षण-परिणामका अंश भी उसमें रहता है; इसी रीतिसे वर्त्तमानलक्षणपरिणाम और अनागतलक्षणपरिणामको भी समझना उचित है; क्योंकि जब योगीका चित्त समाधि अथवा निरोध दशाको प्राप्त हो जाता है तब यदि पुनः चंचलताको धारण करले तो उस की तीन प्रकारकी अवस्था कहावेगी; अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान भेदसे उनका नाम रक्खा जा सकता है और अवस्था-परिणाम उसको कहते हैं कि जिस क्षणमें निरोध-संस्कारके उदय होनेसे व्युत्थान-संस्कारका बल क्षीण हो जाता है, वही निरोध-

---

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

संस्कारमें चलती हुई अवस्था तीसरी अवस्था है। इस प्रकार धर्म्मी अर्थात् अन्तःकरणमें उत्पत्ति, स्थिति और लय-क्रियाको धारण करते हुए धर्म्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणामरूपी तीन परिणाम हुआ करते हैं। इससे यही समझना उचित है कि इन तीनों परिणामोंसे शून्य अन्तःकरण हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार त्रिगुणमयी प्रकृतिके अधीन होनेसे अन्तःकरणका उल्लिखित त्रिविध परिणाम स्वतः सिद्ध है, उसी प्रकार प्राकृतिक समस्त वस्तुभी त्रिगुणात्मक होनेसे प्रतिक्षण परिणामी है; अतः चित्तमें जिस प्रकार धर्म, लक्षण और अवस्थाभेदसे तीन प्रकार परिणाम हैं उसी प्रकार स्थूल सूक्ष्म समस्त भूत तथा इन्द्रियोंमें भी धर्मधर्मीभावसे धर्म-लक्षण-अवस्था-नामक त्रिविध परिणाम जान लेने चाहियें। यथाः—पृथ्वीरूप धर्मीका जो घटरूप विकार है उसको धर्मपरिणाम कहते हैं क्योंकि इसमें पिण्डाकार धर्मके तिरोभावपूर्वक घटाकार भावका प्रादुर्भाव होता है और घटका जो अनागतलक्षणके त्यागपूर्वक वर्त्तमानलक्षणवाला होजाना घटरूप धर्मका लक्षणपरिणाम है और वर्त्तमान लक्षणवाले घटका जो नयापन तथा क्षण क्षणमें पुरानापन है उसको अवस्था परिणाम कहते हैं। यही भूतोंमें त्रिविध परिणामका दृष्टान्त है। इसी प्रकार इन्द्रियोंमें भी विचार किया जा सकता है। यथा:- इन्द्रियोंका जो नीलादि विषयोंका आलोचन अर्थात् ज्ञान है वह इन्द्रियोंका धर्मपरिणाम है और नीलादि ज्ञानका जो वर्त्तमान लक्षणवाला होजाना है उसका नाम लक्षणपरिणाम है और वर्त्तमानता दशामें जो स्फुटत्व अस्फुटत्व है उसका नाम अवस्थापरिणाम है। इस प्रकारसे अन्तःकरणके पूर्वोल्लिखित त्रिविध परिणामकी तरह स्थूल सूक्ष्म समस्त भूत तथा इन्द्रियोंमें भी धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम नामक त्रिविध परिणाम संघटित हुआ करते हैं। यथार्थमें परिणाम एकही है, केवल धर्म्म और धर्म्मीके भेदसे यह सब प्रपंच होता है; अर्थात् धर्म्म ही रूपान्तरको प्राप्त होजाता है। जैसे सुवर्णमय पात्र को तोड़कर यदि कोई अलंकार अथवा और कोई पदार्थ बनवाना चाहे तो उस बनवाने रूप परिणामसे केवलमात्र उस पदार्थके रूपमें ही परिवर्त्तन देख पड़ेगा, परन्तु सुवर्णके

स्वरूपमें कुछ भी भेद नहीं होगा। अब यदि कोई ऐसा सन्देह करे कि एकही व्यक्तिमें भविष्यत्, वर्त्तमान और भूत लक्षणोंका होना असम्भव है, यदि ऐसा हो तो उससे अध्वसङ्करता दोष हो जायगा ? इसके उत्तरमें यह कहा जा सक्ता है कि एक कालमें सब परिणाम नहीं होते, किन्तु यथाक्रमसे हुआ करते हैं; जैसे किसी मनुष्यमें जब राग होता है तब ऐसा नहीं कह सकते कि उस मनुष्यमें क्रोध नहीं है, परन्तु ऐसा देखनेमें आता है कि राग और क्रोध एक समयमें नहीं हुआ करते; जैसे जब कोई कामी पुरुष किसी स्त्रीमें अनुरक्त होता है तब वह और स्त्रियोंमें विरक्त भी नहीं होता; वैसे ही पूर्वोक्त परिणामोंमें भी संकर-दोष नहीं आ सकता; अर्थात् परिणाम केवल धर्मीके धर्ममें और धर्मके लक्षणमें होता है; द्रव्य परिणाम एक ही रहता है ॥ १३ ॥

अब जिस धर्म्ममें इतने परिणाम होते हैं उसका लक्षण किया जाता है —

शान्त अर्थात् अतीत, उदित अर्थात् वर्तमान और अव्यपदेश्य अर्थात् भविष्यत् जो धर्म हैं, उनमें अनुपाती अर्थात् अनुगत होनेवाला धर्मी है ॥१४॥

पूर्वोक्त चित्तके परिणामसे जो कार्य्यकी अतीत अवस्था है, अर्थात् जो अपने अपने कार्य्यको करके अतीत मार्गमें प्रविष्ट हो चुके हैं वेही शान्त कहाते हैं; अर्थात् न वे वर्त्तमान कालमें कुछ करते हैं और न भविष्यत्‌में उनका कुछ कर्त्तव्य है। यथा, भग्न घट या अङ्कुरित बीज। अङ्कुरका शान्तधर्म बीज है और मृत्तिकाखण्डका शान्तधर्म घट है। उदित उनको कहते हैं कि भविष्यत्-मार्गमें अभी प्रकट नहीं हुए, परन्तु वर्त्तमान-मार्गमें अपने कार्य को कर रहे हैं। यथा, घटकालमें घट या बीजकालमें बीज जिसका कार्य अभी वर्त्तमान रहनेके कारण उदितधर्म कहाता है। अव्यपदेश्य वह है कि जो शक्तिरूपसे स्थित है, जैसे, रक्खा हुआ धन; अर्थात् स्थित-शक्ति है परन्तु कार्य्य कुछ भी नहीं कर रही है।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्म्मानुपाती धर्म्मी ॥ १४ ॥

मृत्तिकाखण्ड या बीजके भीतर जो प्रच्छन्न शक्ति है जिससे भविष्यत्‌में मृत्तिकासे घट और बीजसे वृक्षकी उत्पत्ति होती है उस शक्तिका नाम अव्यपदेश्य धर्म है। नियमित कार्य्यकारणरूप शक्तिसे संयुक्त जो हो वही धर्म्म कहाता है; इन तीनों धर्म्मोंको जो ग्रहण करें वेही धर्म्मी कहाते हैं। मृत्तिकारूप धर्मीसे पहिले चूर्णरूप विकार होता है, फिर पिण्डरूप और फिर घटरूप होता है। यहां पर जिस समय चूर्णसे पिण्ड बनाया जाता है उस समय वर्त्तमान दशाको प्राप्त हुआ वह पिण्ड अतीतावस्थावाले चूर्णसे तथा अनागतावस्थावाले घटसे भिन्न कहा जाता है, परन्तु मृत्तिकासे भिन्न नहीं कहा जाता है; क्योंकि मृत्तिका सभीमें अनुगत है। इसलिये चूर्ण-पिण्ड-घटरूप धर्मोंके भिन्न भिन्न होने पर भी सभीमें अभिन्नरूपसे अनुगत मृत्तिका धर्मी कहलाती है। इस सूत्रका प्रयोजन यह है कि सिद्धि प्राप्ति करनेमें इच्छावान् योगी संयमक्रियामें प्रवृत्त होकर धर्म और धर्मी दोनोंको अलग अलग समझ सके। अन्यथा धर्म और धर्मिभावमें पार्थक्यके न समझनेसे अथवा एकमें दूसरेका सम्बन्ध भ्रमसे हो जानेसे संयममें रहने वाली ज्ञानदृष्टि नष्ट हो जायगी। योगीको इसी विपत्तिसे बचानेके लिये इन सूत्रोंका आविर्भाव हुआ है॥ १४॥

अब एक धर्मीके अनेक परिणाम होनेका कारण बताया जाता है—

परिणामोंके भेदमें क्रमोंका भेद कारणरूप है ॥१५॥

यदि ऐसा प्रश्न उठे कि एक धर्म्मीका एकही परिणाम होता है, अथवा सब परिणाम एक ही कालमें होते हैं? ऐसे प्रश्नकी मीमांसामें महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। क्रमके अदल बदलसे ही परिणामोंका परिवर्त्तन हुआ करता है; अर्थात् जैसे प्रथम मिट्टीके परमाणु होते हैं, पुनः उनसे मिट्टीका पिंड बनता है, पुनः मिट्टीके पिंडसे घट बनता है, घट फूट कर कपाल होजाता है, कपालसे ठीकरे होजाते हैं, पुनः ठीकरे परमाणुमें परिणत होते हुए मिट्टीके रूपको ही धारण कर लेते हैं; वैसे ही पूर्व्व-वृत्ति उत्तर-वृत्तिका पूर्व्वकारण होता हुआ क्रमके अनुसार

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः॥ १५॥

धर्म्मान्तर-परिणामको धारण करता है। घड़ेका अनागतभावसे वर्त्तमानभाव क्रम कहाता है और वर्त्तमानभावसे अतीतभाव क्रम कहाता है; परन्तु अतीतभावका कोई भी क्रम नहीं है, क्योंकि पूर्व्व-पर सम्बन्धसे क्रम होता है; जैसे घड़ेका परिणाम वैसे ही पूर्व्व सूत्र में कहे हुए अतीत आदि परिणामोंका हेतु क्रम-परिणाम है; अर्थात् प्रकृतिके सब तरंगोंका परिवर्त्तन और अन्तःकरणमें सुख दुःख आदि धर्म्मोंका परिवर्त्तन सब ही इस क्रम-नियम के ऊपर ही है ॥ १५ ॥

संयमका लक्षण तथा विधि बताकर अब परवर्त्ती सूत्रोंमें संयम द्वारा उत्पन्न सिद्धियोंका वर्णन किया जाता है—

धर्म लक्षण और अवस्था नामक तीनों परिणामोंमें संयमसे भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है ॥१६॥

धर्म्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम जिनका कि वर्णन पूर्व्व आ चुका है, उनमें संयम करनेसे योगीको भूत और भविष्यत् कालका ज्ञान होता है। संयमका वर्णन भी पूर्व्व कर ही चुके हैं, उस प्रकारसे यदि साधकको सिद्धिकी आवश्यकता हो तो इन तीनों परिणामोंमें संयमरूप साधन करनेसे योगीको पूर्णरूपेण कालका ज्ञान हो जायगा; अर्थात् धर्म्म-परिणाममें संयम करनेसे भूत-कालके ज्ञान, लक्षणपरिणाममें संयम करनेसे वर्त्तमान-कालके ज्ञान और अवस्थापरिणाममें संयम करनेसे भविष्यत्-कालके ज्ञान द्वारा योगी त्रिकालदर्शी हो सकता है। इस प्रकार परिणामोंमें संयम करके योगी त्रिकालज्ञान लाभ द्वारा सत् असत् विषयोंका अनुसंधान कर सकता है और भविष्यत् विघ्न आदिको जान कर उनके मेटनेके अर्थ तीव्र पुरुषार्थ अर्थात् दृष्ट-कर्म्मोंकी सृष्टि कर सकता है। श्रीभगवदुक्ति है कि:—

सर्वास्वभ्युदयस्थाऽपि बीजेषु योगसिद्धिषु ।
मत्सायुज्यदशाप्राप्तौ बाधिकास्ता न साधिकाः ॥

सब योगसिद्धियां अभ्युदयकी मूल होने पर भी वे मेरी सायुज्यदशा प्राप्ति करानेमें बाधक हैं साधक नहीं हैं। इस वचन

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥१६॥

से यही तात्पर्य्य है कि सिद्धियाँ मुमुक्षु योगीके लिये एक प्रकारसे बाधकही हैं तथापि उनकेद्वारा सकाम साधकका अभ्युदय अवश्य होना सम्भव है। दूसरी ओर अन्यान्य प्रबल योगविघ्नोंको सिद्धियां दूर भी करनेमें समर्थ होती हैं। त्रिकालज्ञानसे अनेक योगविघ्न दूर हो सकते हैं और त्रिकालज्ञान सिद्धियोंमें सर्वोत्कृष्ट सिद्धि होनेके कारण उसका वर्णन पहले किया गया है ॥ १६ ॥

दूसरी सिद्धिका वर्णन कर रहे हैं—

शब्द, अर्थ और ज्ञानके एक दूसरेमें मिले रहनेसे संकर अर्थात् घनिष्ट मेल है, उनके विभागोंमें संयम करनेसे सब प्राणियोंकी वाणीका ज्ञान होता है ॥१७॥

शब्द, अर्थ और प्रत्ययके विचारसे वाणी अक्षरोंमें ही अर्थयुक्त होती है, क्योंकि विना अक्षरकी ठीक ठीक योजनाके किसी शब्द का अर्थ नहीं होता है; कान केवल उस वाक्यध्वनिको ग्रहण करके अन्तःकरणमें पहुँचाता है; तत्पश्चात् बुद्धि उस ध्वनिके क्रम ज्ञान द्वारा शब्दार्थको ग्रहण करती है। शब्दके अक्षर सब एक समयमें उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि जब पहिला अक्षर अपने बोधको उत्पन्न करके नष्ट होजाता है तब दूसरा अक्षर उत्पन्न होता है; इसी प्रकारसे प्रत्येक अक्षरका आविर्भाव हुआ करता है; परन्तु वे सब अपने सहकारी अक्षरोंसे सम्बन्ध रखते हैं; जैसे गौः शब्दमें गकार, औकार और विसर्ग अपने अपने क्रमसे उच्चारित होकर शब्दरूप को धारण करके अपनी अपनी स्वतन्त्र शक्तिको परस्परमें मिलाकर जो एक ध्वनिविशेष उत्पन्न करते हैं, उस ही ध्वनि-विशेषसे जीवविशेषका ज्ञान होजाता है। जैसे प्रत्येक अक्षरकी ध्वनिकी व्यष्टिसे उत्पन्न हुए समष्टिरूप गौः शब्दका ध्वनिसे सम्बन्ध है, वैसे ही गौः शब्दकी ध्वनिसे गौरूप जीवका सम्बन्ध है; अर्थात् गौ शब्दका उच्चारण होतेही गौरूप प्राणीका ज्ञान हो जाता है; इसके उदाहरणमें विचारना उचित है कि यदि किसी मूर्खके निकट कहा जाय कि "गौ लाओ" तो वह तुरंत ही गौरूपी शब्दके द्वारा

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७॥

"गौ" को ले आवेगा; परन्तु यदि उससे पूछा जाय कि 'गौ, शब्दमें कौन कौन वर्ण हैं तो वह नहीं बता सकेगा। जिस प्रकार व्यष्टि-रूपसे वर्णकी ध्वनिका सम्बन्ध है, वैसे ही समष्टिरूप शब्दकी ध्वनिसे शब्द-ज्ञान का सम्बन्ध है। इस कारण शब्दमें, अक्षरमें और ज्ञानमें अभेद-सम्बन्ध रहनेके कारण उन शब्द-विभागोंमें संयम करनेसे योगीको नाना जीवोंकी बोलीका ज्ञान हो सकता है। जिस प्रकार मनुष्य जीव है उसी प्रकार और प्राणी भी जीव हैं, केवल मनुष्यमें ज्ञानकी अधिकतारूप भेद है;जैसे अपनी अन्तर्वृत्ति को मनुष्य वाक्य द्वारा प्रकाश कर सकता है, वैसे ही अपनी अन्तर्वृत्तिको और जीव भी उनके शब्द अर्थात् बोली द्वारा प्रकाश किया करते हैं। जैसे अंग-कम्पन, छींक आदि प्रकृतिके इंगित द्वारा जीवको भविष्यत्-ज्ञान हो सकता है, वैसे ही नाना जीवोंकी उच्चारित ध्वनि द्वारा भी भविष्यत् ज्ञान हो सकता है। समय समय पर ज्ञानकृत अपनी मनोवृत्तिको जीवगण प्रकाश किया करते हैं, परन्तु बुद्धिका अभाव होनेके कारण बहिःप्रकृतिकी शक्तिके वशीभूत होकर वे समय समय पर प्रकृतिके इंगितको प्रकाश किया करते हैं; यह प्रकृति इंगित प्रकाश करनेकी शक्ति गुणभेदके कारण विशेष विशेष प्राणियोंमें विशेष विशेष रूपसे होती है। इस प्रकार जीवके उच्चारित ध्वनि विभागमें संयम करनेसे योगि-गण उस जीवकी स्वाभाविक ध्वनिसे उसके अन्तःकरणका भाव और अस्वाभाविक ध्वनिसे भविष्यत् घटनाका अनुमान कर ले सकते हैं। मनुष्यके द्वारा उच्चारित शब्द दो प्रकारके होते हैं, एक स्वाभाविक और एक अस्वाभाविक। प्रणव और वीज मन्त्रादि स्वाभाविक शब्द और अन्यान्य लौकिक साधारण शब्द अस्वाभाविक शब्द हैं। भेद यह है कि अन्तःकरणके द्वारा अनुभूत प्रणवादि शब्द अथवा अन्तःकरणके भाव द्वारा विशेष विशेष रूपसे स्वभावसे ही प्रकट होनेवाले जो शब्द हैं वेही स्वाभाविक कहाते हैं और बाह्य विषयको अनुभव करके उसके लिये यथायोग्य शब्द बना लेनेसे जो शब्द बर्तावमें आते हैं जैसे गौ आदि शब्द ये सब अस्वाभाविक कहाते हैं। पहलेमें प्रत्ययरूपी ज्ञान अथवा भावका अनुभव भीतरी विषयसे

होता है, दूसरेमें शब्दकी सृष्टि होते समय विषयका अनुभव बाह्य जगतमें होता है परन्तु ज्ञान अर्थ और शब्द अथवा भाव वृत्ति और शब्द, इसी क्रमके अनुसार एक शब्दसे उस शब्दसे सम्बन्धयुक्त भाव अथवा ज्ञानका बोध होता है। मनुष्य जब कोई शब्द उच्चारण करता है तो उसी क्षणमें उसके शब्दकी ध्वनिवैचित्र्य पर संयम करके ज्ञानी पुरुष उस मनुष्यके चित्तके कई भाव एकही शब्दके विभिन्न प्रकारके उच्चारण करनेसे जान लेता है। अस्वाभाविक शब्दमेंभी यह बात बन सकती है। नाना प्रकारके जीव जन्तुओंके शब्दोंमें भी इसी उदाहरणसे समझने योग्य है। अन्यान्य जीव जब अपनी काम क्रोधादिक स्वाभाविक दशामें रहकर शब्द उच्चारण करते हैं, उनका वह स्वाभाविक शब्द है और जब वे जीवगण समष्टि प्रकृतिके दबावसे विशेष देश कालमें विशेष शब्द करते हैं वही उनका अस्वाभाविक शब्द है। इन्ही अस्वाभाविक शब्दोंके साथ शकुन आदिका सम्बन्ध शास्त्रोंमें रक्खा गया है। मनुष्यके स्वाभाविक और अस्वाभाविक शब्दोंमें संयम करनेसे जिस प्रकार शब्दार्थप्रतिपादक ज्ञान अथवा शब्दद्वारा, प्रणोदित भावका अनुभव दूसरे व्यक्तिको होता है उसी उदाहरणसे समझ सकते हैं कि अन्यान्य नाना जीवोंके शब्दद्वारा, उनके स्वाभाविक शब्दोंसे उनके अन्तःकरणके भावका ज्ञान अथवा उनके अस्वाभाविक शब्द द्वारा मूल प्रकृतिके इङ्गितका ज्ञान योगीको होसकता है। शब्दके देश, काल, गुरुत्व, लघुत्व, बोलनेका ढंग आदिके साथ चित्तको संयम करते हुए पूर्वकथित सन्धियोंमें संयमको ले जाकर उक्त जीवकी प्रकृतिमें संयम पहुंचा देनेसे उक्त जीवोंकी भाषाका ज्ञान योगीको होसकता है ॥ १७ ॥

तीसरी सिद्धिका वर्णन कर रहे हैं—

संस्कारोंके प्रत्यक्ष होनेसे पूर्व जन्मका ज्ञान होता है ॥ १८ ॥

पूर्वजन्मके संस्कार दो प्रकारके हुआ करते हैं, यथा—प्रबल और मंद; प्रबल-संस्कार वे कहाते हैं कि जिनके द्वारा कर्म्म-विपाक

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

उपस्थित होकर बलपूर्व्वक कर्म्म करा डालते हैं; और मंद-संस्कार वे कहाते हैं कि जिनके द्वारा केवल वासना ही उपस्थित होकर इच्छा रूपसे जीवके अन्तःकरणमें क्लेश उत्पन्न करती है। पूर्वजन्मके कर्म्मफलरूपी संस्कारोंमें संयम करनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान और पर संस्कारोंमें संयम करनेसे परजन्म का ज्ञान योगीको हो सक्ता है; क्योंकि संस्कार कर्म्मसे ही उत्पन्न होते हैं, अर्थात् संस्कार किये हुए कर्म्मोंके छायारूप चिन्ह हैं; जैसे मनुष्यके छायारूप चिन्हको यन्त्र द्वारा धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न करके वैज्ञानिकगण "फोटोग्राफ़" में मनुष्यमूर्त्तिको यथावत् प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही संस्कारोंमें संयम करनेसे संस्कारके कारणरूप कर्म्मोंका यथावत् ज्ञान योगीको हो सक्ता है। जैसे एक बटके बीजमें सारे बटवृक्षका शरीर अप्रकाशित रूपसे वर्तमान रहता है ठीक उसी प्रकार कर्म्मबीजरूपी संस्कारमें उक्त कर्म्मका संपूर्ण स्वरूप निहित रहता है अतः योगी यदि अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा मनुष्यके वर्त्तमान जीवनकी पर्यालोचना करके उसके इस जीवनरूपी अङ्कुरित कर्म्म अथवा वृत्ति आदि देख कर उसके संस्कारकी खोज कर लेवे तो उस संस्कारमें संयम करनेसे उसकी पूर्व्वजातिका ज्ञान हो सक्ता है। जैसे वृक्षसे बीज और बीजसे फिर वृक्ष होता है वैसे ही कर्म्म-से संस्कार और संस्कारसे पुनः कर्म्म होनेका इस प्रकारका सिल-सिला बराबर बना रहता है। अस्तु, यदि विचार द्वारा संस्कारका पता लगाया जाय तो इस संस्कारमें संयम करनेसे जिस कर्म्म-के द्वारा वो संस्कार बना था उसका पता अनायास योगीको लग सक्ता है॥ १८॥

चौथी सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

ज्ञानमें संयम करनेसे पराये चितका ज्ञान होता है॥ १९॥

सब अन्तःकरण एक जातीय हैं और ज्ञानके द्वारा ही सब वस्तुओंका ज्ञान हुआ करता है। अन्तःकरण-स्थित-ज्ञान एकजातीय होने पर भी केवल अहंकारके कारण स्वतंत्र स्वतंत्र होरहा है

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्॥ १९॥

और इसी स्वतंत्रताके कारण ही एक ज्ञान दूसरेके ज्ञानको ग्रहण नहीं कर सक्ता ; परन्तु योगी जब ज्ञानमें संयम करने लगता है तब ही वह अपने अन्तःकरणका दूसरे अन्तःकरणके साथ सम्बध स्थापन करके दूसरे अन्तः करणके भावको ग्रहण कर सक्ता है। इस प्रकार योगी बुद्धिमें संयम करके पराये चित्तका ज्ञाता होसक्ता है । स्वरूपज्ञान जिस प्रकार परमात्मासे सम्बन्ध रखता है, तटस्थ ज्ञान उसी प्रकारसे जीवसे अर्थात् जीव-अन्तःकरणसे सम्बन्ध रखता है । स्वरूपज्ञान आत्माका स्वरूप है और तटस्थ ज्ञान उसी प्रकारसे जीव-अन्तःकरणका धर्म है। अन्तःकरणके चार अवयव हैं, यथा-मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार । परन्तु वैसा होने पर भी बुद्धिका प्राधान्य सर्वोपरि है । इसी कारण अन्तःकरणमें ज्ञान की व्यापकता नित्यस्थित है। तटस्थ ज्ञानमें त्रिपुटिका स्वाभाविक सम्बन्ध रहनेसे जैसा जिस जीवका अन्तःकरण होता है अर्थात् जिस अन्तःकरणमें जैसा गुणपरिणाम रहता है, वैसे ही उस अन्तःकरण से सम्बन्धयुक्त ज्ञानकी स्थिति होती है। फलतः यदि किसी जीव विशेषके अन्तःकरणका हाल जानना हो तो उसके ज्ञानकी पर्यालोचना करके उस ज्ञान विशेषमें यदि योगी योगयुक्त होकर संयम करे तो उस जीवके अन्तःकरणका सब हाल जान सकता है ॥ १९ ॥

इसमें विशेषता बताई जाती है—

उससे अवलम्बनका ज्ञान नहीं होता है क्योंकि वह इस प्रकार संयमविषयके अन्तर्भूत नहीं है ॥२०॥

पूर्व्व सूत्रमें कह चुके हैं कि ज्ञानमें संयम करनेसे दूसरेके अन्तः-करणका ज्ञान हो सकता है; अब महर्षि सूत्रकार इस सूत्र द्वारा स्पष्ट करते हैं कि, यदिच उससे दूसरेके अन्तःकरणका ज्ञान होता है, परन्तु अन्तःकरणके विषयका ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता; यदिच उससे समष्टिरूप अन्तःकरणका साधारण ज्ञान होजाता है, परन्तु सृष्टिरूप विशेष-ज्ञानके अर्थ संयमको स्थानान्तरमें बढ़ाना पड़ता है। जब योगी दूसरे अन्तःकरणमें संयम द्वारा पहुंचकर तद्विषयोंमें पुनः संयमको बढ़ाता है तबही उसको विस्तारित

न तत्सावलम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

विषयोंका ज्ञानभी हो सकता है। इसी प्रकार प्रथम ज्ञानमें संयमद्वारा दूसरेके अन्तःकरणमें पहुंच कर पुनः तद्विषयोंमें संयमद्वारा योगी दूसरेके अन्तः-करणका विस्तारित विवरण जान सकता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि यदि योगी यह जानना चाहे कि अमुक व्यक्तिने इस पापकर्मको किया है या नहीं, तो केवल उस व्यक्तिके ज्ञानमें संयम करनेसेही वह योगी इतना जान सकता है; परन्तु यदि वह योगी उस पापनिरत व्यक्तिके पापकर्म्मके सम्बन्धमें देश काल और पात्र विचारसे अधिक विवरण जानना चाहे तो उक्त कर्म्मसे सम्बन्धयुक्त विषयान्तरोंमें उसको पुनः संयम करना पड़ेगा॥ २०॥

पांचवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

कायागत रूपमें संयम करनेसे उसकी ग्राह्य शक्तिका स्तम्भ होजाता है और शक्तिस्तम्भ होनेसे दूसरेके नेत्रके प्रकाशका योगीके शरीरके साथ संयोग नहीं होता; तब योगीके शरीरका अन्तर्धान होता है॥ २१॥

यह पाञ्चभौतिक शरीर रूपवाला होनेसे नेत्रजन्य ज्ञानका विषय है अर्थात् रूपद्वारा ही यह शरीर चक्षुग्राह्य है इसलिये जब योगी अपने शरीरगतरूपमें संयम करते हैं तो उनके रूपमें जो ग्राह्यशक्ति थी सो अन्यके नेत्रपथमें नहीं पड़ती है। इस प्रकारसे जब द्रष्टाकी दृक्शक्ति स्तम्भित हो गई तब आपही वह द्रष्टा या द्रष्टृगण योगीको देख नहीं सकेंगे; इस प्रकार अपनी कायाके रूपमें संयम करनेसे योगी दूसरे की दृष्टिसे बच कर अन्तर्धान हो सक्ता है। संसारमें दृक्शक्तिस्तम्भनकी क्रिया प्रायः देखनेमें आती है; कभी कभी स्वाभाविक रीति पर नेत्र खुले रहने पर भी दृष्टिशक्ति स्तम्भित हो जाने पर मनुष्य कुछ नहीं देख सक्ता; ऐसी क्रिया इन्द्रजालके खेलोंमें भी देखनेमें आती है; अर्थात् जब खेल दिखाने वाले अनेक पदार्थोंका संयोग और वियोगरूप खेल दिखाया करते

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥२१॥

हैं तब इन्द्रजाल-विद्यासे दर्शकोंके नेत्र स्तम्भित होजानेसे वे उन पदार्थोंके संयोग वियोगका अन्वेषण नहीं कर सक्ते। जब इन्द्रजाल की साधारण क्रिया द्वारा इस प्रकारसे दृष्टिशक्ति स्तम्भित हो जाती है तो योगिराज महात्माओंकी संयम-क्रियासे क्या नहीं हो सक्ता ? जैसे रूपविषयक संयम करनेसे योगीके शरीरके रूपको कोई नहीं देख सकता है उसी प्रकार शब्दविषयक संयम करनेसे शब्दकी श्रोत्रग्राह्य शक्ति भी रुक जाती है जिससे श्रोत्रका शब्दके साथ असन्निकर्ष होनेके कारण शब्दका अन्तर्धान होता है अर्थात् योगीका शब्द किसीको सुनाई नहीं देता है। इसी प्रकार स्पर्श, रस और गन्धका भी उल्लिखितरूपसे संयम द्वारा अन्तर्धान होता है; अर्थात् शब्दादि पांचोंके विषयमें संयम करनेसे योगीके शरीरके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धको समीपस्थित पुरुष जान नहीं सक्ता है ॥ २१ ॥

छठी सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

सोपक्रम और निरुपक्रम जो दो प्रकारके कर्म हैं, उनमें संयम करनेसे मृत्युका ज्ञान होता है; अथवा त्रिविध अरिष्टोंसे मृत्युका ज्ञान होता है ॥२२॥

पूर्व्व पादके सूत्रोंमें कर्म्म-विपाकसे आयुका स्थिर होना प्रमाणित हो चुका है। जिस कर्म्मफल द्वारा आयु स्थिरीकृत होती है उस को दो भागोंमें विभक्त कर सक्ते हैं, यथा-सोपक्रम और निरुपक्रम। जैसे जलसे भींजे हुए वस्त्रको निचोड़ कर सुखा देनेसे वस्त्र शीघ्र सूख जाता है; जैसे शुष्क काष्ठमें अग्नि लगा देनेसे काष्ठ शीघ्र जलकर भस्म हो जाता है; वैसे ही कर्म्म-विपाक की तीव्रताके कारण जो कर्म शीघ्र फलदायक हो जाता है; वह शीघ्र कार्य्यकारी कर्मकी अवस्था सोपक्रम कहाती है। जैसे विना निचोड़ा पिंडीकृत वस्त्र बहुत कालमें सूखता है; जैसे गीली लकड़ीके ढेरमें एक ओरसे आग लगाने पर बहुत कालान्तरमें वह ढेर भस्मीभूत होता है; वैसे ही कर्म्म विपाककी मंदताके कारण विलम्बसे फलदायक होते हैं; यह विलंबसे कार्य्यकारी कर्म की अवस्था निरुपक्रम कहाती है। इन

सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च कर्म तत्संयमादपरांतज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

दोनों प्रकारके कर्म्म विपाकोंमें संयम करनेसे योगीको यह विचार हो जाता है कि मृत्यु कितने दिनमें आनेवाली है और अमुक स्थान तथा अमुक रीति पर शरीर छूटनेवाला है। मीमांसा शास्त्रके अनुसार कर्म तीन प्रकारके होते हैं, यथा—सहज, ऐश और जैव। मनुष्यके लिये सहज और ऐश कर्म केवल परम्परा सम्बन्धसे उपयोगी हैं। जैव कर्म ही स्वाधीन जीव मनुष्यका कर्म माना गया है। उस जैव कर्मके तीन भेद हैं, यथा—सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध। सञ्चित कर्मका सम्बन्ध भविष्यत् कालके गर्भमें छिपा रहता है और केवल प्रधानतः प्रारब्धकर्म तथा गौणतः क्रियमाण कर्म इन दोनों पर ही आयुनिर्णय करनेके लिये योगीको संयम करना होता है। क्रियमाण कर्म जब प्रबल होता है तभी वह आयुको सदसत् कर्मानुसार बढ़ाता है या घटाता है, नहीं तो क्रियमाणकर्म सञ्चित कर्ममें जा मिलता है। इस कारण मनुष्यका कौन कौन क्रियमाण कर्म प्रबल है, उसकी गति पर संयम करना होता है और उसी प्रकार प्रारब्ध कर्मके जो जो लक्षण मनुष्य जीवनमें प्रकट हैं उनका लाघव और गौरव विचार करके योगीको संयम करना होता है इसी शैलीसे संयम करनेसे मनुष्यकी मृत्युका पता लग सकता है और जिस प्रकार पहले ज्ञानमें संयम करके और पीछेसे विशेष विशेष वृत्तियोंमें संयम करके जीवके अन्तःकरणके भावोंका पता लगता है उसी प्रकार साधारणतः प्रारब्धकर्म और प्रबल क्रियमाण कर्ममें संयम करनेसे मृत्युके समय का पता लगता है और तदनन्तर उनकी आनुषङ्गिक सूक्ष्मता पर विचार करनेसे मृत्युके समय की अवस्था व गतिका भी पता लग सकता है। जिस प्रकार योगीको सोपक्रम और निरुपक्रम रूपी कर्म्म-विपाकमें संयम करनेसे मृत्युज्ञान होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अरिष्टोंमें संयम करनेसे भी मृत्युज्ञान हो सकता है। आध्यात्मिक अरिष्टके फलसे ज्ञानेन्द्रियकी शक्तिमें आन्तरिक निर्बलता आ जाती है; जिसके उदाहरणमें शास्त्रोंमें लिखा है कि "तब कान बन्द करनेसे साधारण रीति पर जो एक शब्द की ध्वनि सुनाई देती है वह नहीं सुनाई देती; नेत्र बंद करनेसे जो बहुप्रकार की अन्तर्ज्योति दिखाई देती है वह तब नहीं दिखाई देती" इत्यादि आन्तरिक शक्ति

की हीनता ही आध्यात्मिक अरिष्ट है। जब विना मनन और विना कारण ही यमदूत और पितरोंके दर्शन होने लगें तो उन अलौकिक लक्षणोंको आधिदैविक अरिष्ट समझना उचित है। उसही प्रकार जब विना किसी विशेष कारणके अधिक सुखदायक लोक अथवा दिव्य देवशरीरोंका दर्शन हो तो उन दैव लक्षणोंको भी आधिदैविक अरिष्ट समझना उचित है। शारीरिक रोगादिके विशेष विशेष लक्षण आचार व्यवहारके विशेष विशेष लक्षण इत्यादि आधिभौतिक अरिष्टके अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार शरीरका असाधारण परिणाम, जैसे, बलवान्का एकदम निर्बल होजाना, या कृशकायका एक बार ही हृष्ट पुष्ट अतिस्थूल हो जाना या स्थूलकायका अतिकृश हो जाना इत्यादि आधिभौतिक अरिष्टमें माने गये हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अरिष्टमें संयम करनेसे मृत्युज्ञान भली भांति हो सक्ता है; परंतु विचार इतना ही है कि यह अरिष्ट मृत्युसे बहुत निकट समय पर ही दिखाई देते हैं; इस कारण इनसे बहुत दिनपूर्व्व मृत्यु-ज्ञानकी सम्भावना नहीं; परंतु पूर्व्व कथित सोपक्रम और निरुपक्रम विपाकोंमें संयम करनेसे जब चाहे तब ही योगी मृत्युका ज्ञान लाभ कर सकते हैं ॥ २२ ॥

सातवीं सिद्धि का वर्णन किया जाता है।

मैत्री आदिमें संयम करनेसे तत्सम्बन्धीय बलकी प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा, ये चार प्रकारकी श्रेष्ठ भावना कहाती हैं। यह पूर्व्व ही कह चुके हैं कि साधकको सुखी प्राणियोंमें प्रीति भावना दुःखी प्राणियोंमें करुणा भावना, धर्म्मात्माओंमें मैत्री-भावना और पापिगणमें उपेक्षाभावना करना उचित है; अर्थात् ऐसा अभ्यास करनेसे योगी योग-मार्गमें अग्रसर होता है। अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि उन चारोंमें संयम करनेसे योगी मैत्री-बल, करुणा-बल, मुदिता-बल और उपेक्षा-बलकी प्राप्ति करके पूर्ण मनोबल अर्थात् आत्मबल प्राप्त

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

करता है और पुनः योगीके अन्तःकरणमें कोई प्रतिबन्धन नहीं कर सका। आत्मबल ही सब बलोंका मूल है। श्रुति जो कहती है कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' यहां पर आत्मबलसे ही तात्पर्य है अर्थात् विना आत्मबलके आत्मज्ञानका लाभ होना असम्भव है। उस आत्मज्ञानके लाभ करनेमें जिस आत्मबलकी आवश्यकता होती है वही शुद्ध तेज कहाता है। जो शक्ति अन्तःकरणको इन्द्रियों में गिरने न देकर नियमितरूपसे स्वस्वरूपकी ओर खेंचती रहती है उसीको तेज या आत्मबल कहते हैं। पूर्वकथित श्रेणियोंकी शुद्ध शक्तियोंमें जब योगी संयम करता रहता है और अपने अन्तःकरणमें उनकी प्रतिष्ठा करा देता है तो पुनः उसके अन्तःकरणको नीचे गिरानेवाला और कोई नहीं रहता है। तभी वह आत्मबल प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

आठवीं सिद्धि का वर्णन किया जाता है—

बलमें संयम करनेसे हस्तिके बलादि प्राप्त हो सके हैं ॥ २४ ॥

बल दो प्रकारका है एक आत्मबल और दूसरा शारीरिक बल, आत्मबल-प्राप्तिके सम्बन्धीय सिद्धिका वर्णन पहले सूत्रमें करके अब इस सूत्र द्वारा स्थूल शारीरिक बल प्राप्तिकी सिद्धिका वर्णन कर रहे हैं। यदि च सब बल एकही रूप हैं, परन्तु प्रकृति विभिन्न होनेके कारण बलमें स्वतंत्रता है; यथा—सिंहबल, हस्तिबल, बलशाली खेचर पक्षियों का बल और बलशाली जलचर मकर आदिका बल इत्यादि। जिस प्रकारके बल की आवश्यकता हो उसी प्रकार के बलशाली जीवोंके बलमें संयम करनेसे योगीको उस प्रकार के बलके सदृश बलकी प्राप्ति हुआ करती है। उसीप्रकार वायुमें संयम करनेसे साधारण बलकी अधिकता हो जाती है क्योंकि वायु ही सब बलका आधार है। साधारण बलप्राप्तिके लिये वायुसंयम परम हितकर होने पर भी विशेष विशेष पशुजातीय बल प्राप्त करनेके लिये उस उस पशुकी बलसम्बन्धीय दशाकी पर्यालोचना करके

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

उसमें संयम करनेसे योगी हस्ती आदि बलशाली पशुओंके बलके सदृश स्थूल बल अपनेमें प्राप्त कर लेता है ॥ २४ ॥

नवीं सिद्धिका वर्णन होता है—

पूर्वोक्त ज्योतिष्मती प्रवृत्तिके प्रकाशको सूक्ष्मादि वस्तुओंमें न्यस्त करके उन पर संयम करनेसे सूक्ष्म, गुप्त तथा दूरस्थ पदार्थोंका ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

प्रथम पादमें जो साम्यावस्थायुक्त सात्त्विक-प्रकृतिका दर्शन अर्थात् ज्योतिर्दर्शनका वर्णन हो चुका है; उस अन्तर्ज्योतिको पदार्थोंमें न्यस्त करके संयम करनेसे योगीको सूक्ष्म, गुप्त और दूरवर्त्ती पदार्थोंका ज्ञान हो सक्ता है। सत्त्वगुण ही पूर्णप्रकाशरूप है; जहां सत्त्वगुणका पूर्ण प्रकाश है वहीं ज्ञानका पूर्ण उदय हो सक्ता है; इस प्रकार सात्त्विक तेज में संयम करके उसकी सहायतासे योगी सूक्ष्म से अति सूक्ष्म-विषय, गुप्तसे अति गुप्त-विषय और दूरसे अति दूरस्थित पदार्थका ज्ञान लाभ कर सक्ता है; अर्थात् सात्त्विक प्रकाशरूप ज्योतिष्मती प्रवृत्ति साम्यावस्थारूप सत्त्वगुणका रूप है, उसकी सहायता द्वारा योगी यदि अन्वेषण करना चाहें तो वे सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म परमाणु तकको दृष्टिगोचर कर सकेंगे; भूमिमें छिपे हुए अतिगुप्त पदार्थोंको भी जान सकेंगे; बहुत दूरवर्त्ती पदार्थोंको भी समझ सकेंगे। योगसाधन के क्रियासिद्धांशके अनुसार योगके साधनोंको चार मार्गोंमें विभक्त किया गया है, यथा-मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन्हीं चारों साधनशैलियोंके अनुसार मन्त्रयोगमें मनःकल्पित स्थूल मूर्त्तिका ध्यान, हठयोगमें मनःकल्पित स्थूल ज्योति का ध्यान, लययोगमें विशेष विशेष साधनोंके द्वारा सत्त्वगुणमयी सूक्ष्मप्रकृति से उत्पन्न ज्योतिष्मती नामक बिन्दुका ध्यान और राजयोगमें प्रज्ञासे उत्पन्न आत्मध्यानकी व्यवस्था की गई है। लययोगमें जो बहुप्रकारके साधनोंकी शैली बताई गई है उसके अनुसार लययोगी अपने अन्तर् राज्यमें शरीरके द्विदलस्थानमें शुद्ध तेजःपूर्ण बिन्दुका

प्रवृत्त्याऽऽलोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

दर्शन करता है। यह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति बिन्दुरूपमें आविर्भूत होकर जब स्थिर होने लगती है, वही बिन्दुध्यानकी सिद्धावस्था है। सकाम योगी यदि चाहे तो उसी बिन्दुकी सहायतासे अपने शरीरकी विभिन्न सूक्ष्म नाड़ी और षट्चक्रादि शरीरस्थ नाना पीठोंके दर्शन करनेमें समर्थ होता है। उसी प्रकार सकाम योगी यदि चाहे तो उसी बिन्दुके विस्तारसे उसीमें होकर अपनी संयम शक्तिकी सहायतासे ज्योतिष्मती प्रवृत्तिकी सहयोगिता द्वारा अनेक गुप्त विषय और अनेक जलमग्न और पृथिवी गर्भस्थित द्रव्यसमूहके देखलेनेमें समर्थ होता है ॥ २५ ॥

दसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

सूर्य्यमें संयम करनेसे भुवनका यथार्थ ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

सूर्यके द्विविधरूपमें संयम करनेसे यथाक्रम स्थूल और सूक्ष्म-लोकोंका ज्ञान योगीको होता है। स्थूललोक प्रधानतः यह मृत्युलोक है और सप्त स्वर्ग तथा सप्त पाताल, ये सूक्ष्मलोक कहाते हैं। अन्यान्य निकटस्थ ब्रह्माण्डोंका ज्ञान लाभ करना भी सूक्ष्मलोकसे सम्बन्धयुक्त ज्ञान है। भूर्भुवः स्वः आदि सप्त स्वर्गोंमेंसे भूलोक चार भागमें विभक्त है इत्यादि विषय स्मृतियोंमें, यथा—

अहं चतुर्दशानां हि भुवनानां स्वधाभुजः!।
पञ्चानाञ्चैव कोषाणां सम्बन्धादद्य वो ब्रुवे ॥
प्राधान्यं देववृन्दस्य श्रूयतां सुसमाहितैः।
दैवसृष्टिरहस्यं स्याज्ज्ञातं येन यथार्थतः ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशाख्यं त्रिमूर्त्ति त्रिगुणात्मकम्।
यदाऽहं पितरो धृत्वा स्वशक्तेरवलम्बनात् ॥
आददे सगुणं रूपं तिस्रस्ता एव मूर्त्तयः।
प्राधान्यं सर्वदेवेषु धरन्त्योऽलं भवन्ति ते ॥
ब्रह्माण्डे किल प्रत्येकं मुख्या देवा न संशयः।
आवहन्तस्त्रिदेवाख्यां प्राशस्त्यं यान्ति सर्वथा ॥
अस्य मूर्त्तित्रयस्यास्ते प्रति ब्रह्माण्डवर्त्तिनः।

भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात् ॥२६॥

नैव भेदो मया सार्द्धं वस्तुतः कश्चिदप्यणु ॥
एतदेवाधिदैवं हि मुख्यं मूर्त्तित्रयं मम ।
प्रोच्यते पितरो विज्ञैः प्रति ब्रह्माण्डमीश्वरः ॥
ब्रह्मण्यध्यात्मशक्तिर्मे ह्यधिदैव्यपि भाति वै ।
लोकस्रष्टृत्वतो वोऽयं नायकोऽस्ति तथाप्यहो ॥
तथा शिवेऽधिभूतायामाधिदैव्याञ्च पूर्णतः ।
शक्तौ विकाशितायां हि सत्यामपि स्वधाभुजः ! ॥
नायको ज्ञानदातृत्वादृषीणामेष मन्यते ।
संविकाशितयोः शक्त्योः पूर्णाध्यात्माधिभूतयोः ॥
विष्णौ सत्वोस्तथाप्येष वर्त्तते देवनायकः ।
दैवशक्तिकदम्बस्य केन्द्रीभूतो यतोऽस्त्ययम् ॥
पितरः ! वोऽधिकारोऽस्ति स्थूले जगति केवलम् ।
पिण्डपुञ्जेऽपि मर्त्यानां पिण्डेष्वेव विशेषतः ॥
केवलं ज्ञानिजीवेषु त्वधिकारस्तथास्त्यलम् ।
ऋषीणां नात्र सन्देहः किन्तु देवगणस्य वै ॥
ब्रह्माण्डानां हि सर्वेषां भागेष्वास्तेऽखिलेषु च ।
अधिकारोऽस्त्यतस्तेषां देवानां सर्वमान्यता ॥
पितरः ! पञ्चकोशाश्च भुवनानि चतुर्दश ।
समष्टिव्यष्टिरूपायां पिण्डब्रह्माण्डसंहतौ ॥
ओतप्रोतस्वरूपेण संतिष्ठन्ते न संशयः ।
मम ब्रह्माण्डरूपस्य विराड्देहस्य कव्यदाः ! ॥
लोकाः सप्तोर्द्ध्वगा नाभिमुपर्य्युपरि सन्त्यहो ।
अधोऽधः सप्त वर्त्तन्ते ध्रुवं नाभिश्च संस्थिताः ॥
अतः समष्टिरूपेऽस्मिन् ब्रह्माण्डे वै चतुर्दश ।
भुवनानि प्रधानानि विद्यन्ते नात्र संशयः ॥
पञ्चकोषास्तु तिष्ठन्ति व्याप्ता गौणतयाऽत्र हि ।
जीवदेहस्वरूपेषु कोषाः पिण्डेषु पञ्च च ॥
प्रधानास्सन्ति तेषां हि सम्बन्धाच्च चतुर्दश ।
भुवनान्यप्रधानानि संतिष्ठन्ते निरन्तरम् ॥
अतो मे ज्ञानिनो भक्ता ऐशीं शक्तिं समाश्रिताः ।
स्वपिण्डेष्वपि तिष्ठन्तः सूक्ष्मैर्नानाविधैर्द्रुतम् ॥

संस्थापयितुमर्हन्ति देवलोकैः सहान्वयम् ।
अन्यान्यसूक्ष्मलोकेषु निवसन्तोऽप्यतस्तथा ॥
संस्थापयितुमर्हन्ति स्वाधिपत्यं स्वधाभुजः ! ।
देवासुरगणा सर्वे जीवपिण्डेष्वनुक्षणम् ॥
पितरः ! पञ्चकोषा हि सर्वपिण्डप्रतिष्ठिताः ।
आवृण्वन्तो विराजन्ते मत्स्वरूपं न संशयः ॥
मध्यमासु निकृष्टासु तथोच्चैर्देवयोनिषु ।
सर्वास्वप्यवतिष्ठन्ते पञ्चकोषा न संशयः ॥
एतावाँस्तत्र भेदोऽस्ति नूनं निम्नासु योनिषु ।
पञ्चकोषा विकाशन्ते नैव सामान्यतोऽखिलाः ॥
निखिलानान्तु कोषाणां मर्त्यपिण्डेषु निश्चितम् ।
विकाशः सर्वतः सम्यग् जायते नाऽत्र संशयः ॥
ततोऽपि देवपिण्डेषु विकाशन्ते हि शक्तयः ।
अधिकं खलु पञ्चानां कोषाणां नात्र संशयः ॥
पाञ्चकौषिकभूमीनां समानानां स्वभावतः ।
सम्बन्धः सर्वपिण्डानां भूमिभिः सह वर्त्तते ॥
ऋषयोऽतो भवन्तश्च ममोपासकयोगिनः ।
देवाः शक्तिविशेषैश्च विधातुं शक्नुवन्त्यलम् ॥
कार्यं कोषविशेषस्य पिण्डेष्वन्येषु चैकतः ।
नैवात्र संशयः कश्चित्सत्यं जानीत सत्तमाः ! ॥
वसन्ति देवाः पितरः ! ऊर्द्ध्वलोकेषु सप्तसु ।
सन्तिष्ठन्तेऽसुराः सर्वे ह्यधोलोकेषु सप्तसु ॥
तमो मुख्यतया सृष्टेरसुराणां हि सप्तमे ।
लोकेऽस्त्यसुरराजस्य राजधानी त्वधस्तने ॥
दैव्याः सत्त्वप्रधानत्वात्सृष्टे राजानुशासनम् ।
उच्चैर्देवेषु लोकेषु नैवावश्यकमस्त्यहो ॥
अस्त्यतो देवराजस्य राजधानी तृतीयके ।
ऊर्द्ध्वलोके स्थिता नित्यं नाऽत्र कार्या विचारणा ॥
विशेषतोऽसुराः सर्वे सदा प्रावल्यसञ्जुषः ।
कुर्वाणा विप्लवं दैवे राज्ये सृष्टेः प्रबाधितुम् ॥
सामञ्जस्यं विचेष्टन्ते नितान्तं सन्ततं बहु ।

अतोऽपि देवराजस्य राजधानी तृतीयके ॥
ऊर्द्ध्वलोके स्थिता नित्यं विद्यते पितरोध्रुवम् ।
उन्नतेषूर्द्ध्वलोकेषु प्रवेशोऽप्यस्त्यसम्भवः ॥
असुराणामतोऽप्येषु देवराजानुशासनम् ।
नावश्यकत्वमाप्नोति विशेषेण कदाचन ॥
विभिन्नोपासकेभ्यो हि स्वरूपं सगुणं धरन् ।
सालोक्यञ्चैव सामीप्यं सारूप्यं पितरस्तथा ॥
दातुँ मोक्षञ्च सायुज्यं नानारूपैर्हि सप्तमे ।
ऊर्द्ध्वलोके तथा षष्ठे विराजेऽहनुत्तमम् ॥
उन्नतेषूर्द्ध्वलोकेषु सात्त्विकेषु स्वधाभुजः ! ।
राजानुशासनस्यातः का वार्ता वर्त्तते खलु ॥
शब्दानुशासनस्यापि नास्ति तेषु प्रयोजनम् ।
विचित्रो मध्यवर्त्यस्ति मृत्युलोको विभूतिदाः ! ॥
यथा गार्हस्थ्यमाश्रित्य पुष्टाः स्युः सर्व आश्रमाः ।
मृत्युलोकं समाश्रित्य भुवनानि चतुर्दश ॥
स्वातन्त्र्यं पूर्णमत्रास्ति कर्म्मसम्पादने यतः ।
मृत्युलोकप्रतिष्ठाऽतो विद्यते निखिलोपरि ॥
यद्यप्युत्पद्यते मोक्षफलमुद्यान उत्तमे ।
मृत्युलोके न सन्देहस्तद्वीजं किन्तु लभ्यते ॥
आर्य्यावर्त्तप्रदेशे हि कर्मभूमिस्वरूपिणि ।
विशुद्धे याज्ञिके रम्ये सर्वर्त्तुव्रातशोभिते ॥
का वार्ताऽतोऽस्ति देवानामवतारीयविग्रहम् ।
आविर्भवितुमिच्छास्यप्यार्य्यावर्त्तेऽहमाश्रयन् ॥
मृत्युलोकस्य भूलोकान्तर्गतस्यास्ति विस्तृतिः ।
महती नाऽत्र सन्देहस्तद्विभागश्चतुर्विधः ॥
एको वः पितृलोकोऽस्ति मृत्युलोको द्वितीयकः ।
प्रेतलोकस्तृतीयोऽस्ति चतुर्थो नरकाभिधः ॥
भूलोके भवतामेव लोकः स्वर्गः सुखप्रदः ।
वस्तुतो नात्र सन्देहो विधातव्यः स्वधाभुजः ! ॥
कर्मभूर्मृत्युलोकोऽस्ति कर्मक्षेत्रञ्च यं जगुः ।
प्रेतलोकस्तथैव स्तो लोकोऽपि नरकाभिधः ॥

दुःखदावानलज्वालापूरितौ भीषणावलम् ।
प्रेतलोकोऽस्ति संश्लिष्टो मृत्युलोकेन सर्वथा ॥
भुवर्लोकादयोऽन्ये वो लोकादूर्द्ध्वमवस्थिताः ।
अस्त्यतश्चोर्द्ध्वलोकानामधोलोकव्रजस्य च ॥
वैलक्षण्येन सार्द्धं वः सम्यक् परिचयो न हि ।
यद्यप्यस्याश्चतुर्लोक्यां धर्मराजानुशासनम् ॥
वरीवर्त्त्यैव विस्तीर्णं नास्ति कोऽप्यत्र संशयः ।
दृढं कुर्य्यात चेद्यत्नं पितरो यूयमन्वहम् ॥
यमदण्डस्य साहाय्यमन्तरेणैव तर्ह्यलम् ।
कृतार्था भवितुं सृष्टेः सामञ्जस्यस्य रक्षणे ॥
दण्डेनैव प्रजाः सर्वाः कर्तुं धर्मपरायणाः ।
यत्नो यद्यपि वर्त्तेत निस्सन्देहं शुभावहः ॥
किन्त्वहो येन यत्नेन प्रजाः सर्वाः कदाचन ।
दण्डार्हा एव नैव स्युः स यत्नो ज्ञानिसन्निधौ ॥
प्रजाकल्याणवृद्ध्यर्थमधिकं स्यात् सुखप्रदः ।
नास्ति कोऽप्यत्र सन्देहः सत्यमेतद्ब्रवीमि वः ॥
मृत्युलोकाधिकारोऽस्ति सर्वलोकहितप्रदः ।
यतो देवासुरैः सर्व्वैः पितरः ! कर्मभूमितः ॥
मानवाल्लोकतो गत्वा प्राप्यन्ते चोक्तयोनयः ।
भोगावसानजे जाते पाते तेषां स्वलोकतः ॥
भूयोऽप्यभ्युदयं प्राप्तुं मृत्युलोकोऽयमेव वै ।
भवेदाश्रयणीयो हि सर्वथैव न संशयः ॥
अस्त्यङ्गं प्रेतलोकस्तु मृत्युलोकस्य निश्चितम् ।
मृत्युलोकेन सम्बद्धौ लोकौ च द्विविधौ परौ ॥
उर्द्ध्वाधःसंस्थितौ पितृनरकाख्यौ यथाक्रमम् ।
आश्रये मृत्युलोकस्य संस्थितौ नाऽत्र संशयः ॥
आसाते खलु तौ यस्माद्भोगलोकावुभावपि ।
मृत्युलोकव्यवस्थातो जायन्तेऽतः स्वधाभुजः ! ॥
स्वतो व्यवस्थानीह भुवनानि चतुर्दश ।
पूर्णधर्मस्वरूपस्य विकाशेन निरन्तरम् ॥
आत्मज्ञानप्रकाशस्य सहजं स्थानमुत्तमम् ।

नन्वार्य्यावर्त्त एवास्ते कर्मभूमिर्न संशयः ॥

हे पितृगण ! अब मैं चतुर्दश भुवन और पञ्चकोषके सम्बन्धसे देवताओंकी प्रधानता आपको कहताहूं, ध्यान देकर सुनो जिससे आपको दैवी सृष्टिका यथार्थ रहस्य विदित होजायगा। हे पितृगण! जब मैं ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपी त्रिगुणात्मक त्रिमूर्त्तिको धारण करके अपनी शक्तिकी सहायतासे सगुण होताहूं तो वही मेरी त्रिमूर्त्ति सर्वदेव-प्रधान होकर प्रत्येक ब्रह्माण्डमें निस्सन्देह प्रधान देवता कहाते हैं और त्रिदेव नामको धारण करके सर्वथा प्रसिद्ध होते हैं। वास्तवमें प्रत्येक ब्रह्माण्डके इन त्रिमूर्त्तियोंमें और मुझमें कोई भी भेद नहीं है। हे पितृगण ! ये तीनों प्रधान अधिदैव मूर्त्तिही प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ईश्वर कहाते हैं। ब्रह्माजीमें मेरी आध्यात्मिक शक्ति और अधिदैवशक्तिका पूर्ण विकाश रहनेपर भी वे लोकस्रष्टा होनेके कारण आपलोगोंके नायक कहाते हैं। उसी प्रकार हे पितृगण ! शिवमें अधिभूत शक्ति और अधिदैवशक्तिका पूर्ण विकाश रहने पर भी वे ज्ञानदाता होनेके कारण ऋषियोंके नायक माने जाते हैं और उसी प्रकार विष्णुमें अधिभूतशक्ति और अध्यात्मशक्तिका पूर्ण विकाश रहने पर भी वे दैवीशक्ति-समूहके केन्द्र होनेसे देवताओंके नायक हैं। हे पितृगण ! आपलोगोंका अधिकार केवल स्थूल जगत् और पिण्डोंमें मनुष्य पिण्डोंपर ही विशेष रूपसे है। ऋषियोंका अधिकार केवल ज्ञानी जीवोंमें ही है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु देवताओंका अधिकार प्रत्येक ब्रह्माण्डके सब विभागों पर होनेसे वे सर्वमान्य हैं। हे पितृगण ! पञ्चकोष और चतुर्दश भुवन समष्टि और व्यष्टिरूप ब्रह्माण्ड और पिण्डसमूहमें निस्सन्देह ओत प्रोत हैं। ब्रह्माण्डरूपी मेरे विराट् शरीरके नाभिसे ऊपर सात उर्द्ध्वलोक और नाभिसे नीचे सात अधोलोक स्थित हैं। इस कारण समष्टिरूपी ब्रह्माण्डमें चतुर्दश भुवन प्रधान हैं और पञ्चकोष उनमें गौणरूपसे व्याप्त रहते हैं और उसी प्रकार जीवदेहरूपी पिण्डमें पञ्चकोष प्रधान और उन पञ्चकोषोंके सम्बन्धसे चतुर्दश भुवनोंका सम्बन्ध अप्रधान रहता है। यही कारण है कि मेरी ऐसी शक्ति प्राप्त करनेसे मेरा ज्ञानी भक्त अपने पिण्डमें रहकर भी नाना सूक्ष्म दैवीलोकोंके साथ

सम्बन्ध स्थापन कर सकता है और इसी कारण हे पितरो। देवतागण अथवा असुरगण भी अन्यान्य सूक्ष्मलोकोंमें रहने पर भी जीवपिण्डों पर अपना अधिकार स्थापन सर्वदा कर सकते हैं। हे पितृगण! पञ्चकोष सब प्रकारके पिण्डोंमें प्रतिष्ठित होकर मेरे स्वस्वरूपको आवरण किये हुए रहते हैं। चाहे निकृष्ट योनि हो, चाहे मध्यम मनुष्य योनि हो और चाहे उन्नत देवयोनि हो, सबमें अवश्यही पञ्चकोष विद्यमान हैं। भेद इतना ही है कि निकृष्ट योनियोंमें सब कोषोंका समान विकाश नहीं होता। मनुष्य-पिण्डमें सब कोषोंका सम्यक् विकाश होजाता है और देवपिण्डमें उसके अतिरिक्त पञ्चकोषकी शक्तियोंका अधिक विकाश होजाता है; परन्तु पञ्चकोषकी समानभूमिका सम्बन्ध सब पिण्डोंके पञ्चकोषोंकी भूमियोंके साथ स्वाभाविकरूपसे बने रहनेसे मेरे उपासक योगगिण, आपलोग, ऋषिगण अथवा देवतागण विशेष विशेष कोषका कार्य विशेष विशेष शक्तिके द्वारा एक पिण्डसे दूसरे पिण्डमें कर सकते हैं, इसको निस्संशय सत्य जानें। हे पितृगण! उर्द्ध्व सप्त लोकोमें देवताओंका वास है और अधः सप्त लोकोंमें असुरोंका वास है। असुरगणकी सृष्टि तमःप्रधान होनेसे असुरराज की राजधानी सप्तम अधोलोकमें स्थित है; परन्तु दैवीसृष्टि सत्त्व-प्रधान होनेके कारण और उन्नत दैवलोकोंमें राजानुशासनकी आवश्यकता न रहनेसे देवराजकी राजधानी तृतीय उर्द्ध्वलोकमें स्थित है, इसमें कोई विचार की बात नहीं है। विशेषतः हे पितृगण! असुरगण सदा प्रबलता लाभ करके दैवी राज्यमें विप्लव करते हुए सृष्टिसामञ्जस्य में बाधा डालने में सचेष्ट रहते हैं इस कारणसे भी देवराज की राजधानी सदा तृतीय ऊर्द्ध्वलोकमें ही स्थित रहती है। हे पितृगण! उन्नत ऊर्द्ध्वलोकोंमें असुरोंका प्रवेश भी सम्भव नहीं है इस कारणसे भी वहां देवराजके राजानुशासन की विशेष आवश्यकता नहीं रहती है। हे पितृगण! मैं सगुणरूपको धारण करके विभिन्न उपासकोंको सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्रदानके लिये नानारूपसे षष्ठ और सप्तम ऊर्द्ध्वलोकमें सदा विराजमान रहता हूँ। इस कारण उन उन्नत उर्द्ध्वलोकसमूह में राजानुशासन की तो बात ही क्या है शब्दानुशासनका भी वहां

अधिकार नहीं है। हे पितृगण ! मध्यवर्त्ती मृत्युलोक अति विचित्र है। जिस प्रकार गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका पोषक है उसी प्रकार मृत्युलोक ही चतुर्दश भुवनोंका पोषक है; क्योंकि मृत्युलोकमें कर्म करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनेके कारण उसकी प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। मोक्षरूपी फल की उत्पत्ति मृत्युलोकरूपी उद्यानमें होने पर भी उसका बीज विशुद्ध, याज्ञिक, सब ऋतुओंसे सुशोभित, कर्मभूमि आर्यावर्त्तमें सदा प्राप्त होता है। इस कारण देवतागण की तो बात ही क्या है मैं भी अवतार विग्रहको धारण करके आर्यावर्त्तमें आविर्भूत होने की इच्छा रखता हूँ। हे पितृगण ! मृत्युलोक भूलोक के अन्तर्गत होने पर भी भूलोकका विस्तार अधिक है। भूलोकके चार विभाग हैं, यथा—आपलोगों का पितृलोक, मृत्युलोक, प्रेतलोक और नरकलोक। वस्तुतः हे पितृगण ! आप लोगोंका लोक ही भूलोकमें सुखप्रद स्वर्गलोक है। मृत्युलोक कर्मभूमि है जिसको कर्मक्षेत्र कहते हैं और प्रेतलोक और नरकलोक घोर दुःख-दावानलसे पूर्णलोक हैं। वस्तुतस्तु प्रेतलोक तो मृत्युलोकसे ही सर्वथा संश्लिष्ट है। हे पितृगण ! भुवर्लोक आदि अन्य लोक आप के लोकसे परे स्थित हैं इसी कारण उन उर्द्ध्वलोकों तथा अधोलोकों के वैचित्र्यके साथ आप लोगोंका विशेषरूपसे परिचय नहीं है। हे पितृगण ! यद्यपि धर्मराजका अनुशासन इन चारों लोकोंमें विस्तृत है; परन्तु आप लोग यदि प्रयत्न करें तो विना यमदण्डकी सहायता लिये ही सृष्टिके सामञ्जस्य की सुरक्षामें कृतकार्य्य हो सकते हैं। दण्डके द्वारा प्रजाको धार्म्मिक बनानेका प्रयत्न तो शुभ ही है इसमें सन्देह नहीं तथापि यदि ऐसा प्रयत्न हो कि प्रजा दण्डार्ह बने ही नहीं तो ऐसा प्रयत्न प्रजा कल्याणके लिये दण्ड की अपेक्षा अधिक कल्याणप्रद ज्ञानियोंके निकट समझा जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, आप लोगोंसे सत्य कहता हूँ। हे पितृगण ! मृत्यु-लोकका अधिकार सर्वलोकहितकर है क्योंकि देवता और असुर सब ही कर्मभूमि मनुष्यलोकसे ही जाकर उक्त योनियोंको प्राप्त करते हैं और उनके भोगावसानसे पतन होने पर पुनः उनको अभ्युदय प्राप्तिके लिये मनुष्यलोकका ही सर्वथा आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। प्रेतलोक तो मृत्युलोकका अङ्गरूप ही है और

मृत्युलोकसे सम्बन्धयुक्त अन्य दोनों अधः ऊर्द्ध्वलोक जो यथाक्रम नरकलोक और पितृलोक नामसे अभिहित होते हैं वे सब मृत्युलोकके आधार पर ही स्थित हैं क्योंकि वे सब भोगलोक ही हैं। इस कारण हे पितृगण! मृत्युलोककी सुव्यवस्था होनेसे चतुर्दश भुवनोंकी सुव्यवस्था स्वतः ही हुआ करती है और धर्मके पूर्णस्वरूपके विकाशके द्वारा आत्मज्ञानका प्रकाश होनेका सहजस्थान तो कर्म- भूमि आर्यावर्त्त ही है। ज्योतिष शास्त्र से यह प्रमाणित है कि अपने सौर्य्यजगतके सूर्य्य ही अपने ग्रह पृथ्वी के केन्द्र रूप हैं और इनके प्रकाशसे ही अपने सौर्य्य जगत् अर्थात् स्वर्ग, मर्त्त्य और पाताललोक आदि प्रकाशित हुआ करते हैं। जैसे अपने सौर्य्यजगत् के केन्द्र अपने सूर्य्य हैं वैसेही और बहुतसे सौर्य्यजगतोंके केन्द्र एक वृहत् सूर्य्य हैं; उसी प्रकार पुनः अगणित वृहत् सौर्य्यजगतोंके केन्द्र एक विराट् सूर्य्य हैं; इसी प्रकार उतरोत्तर विस्तार होता हुआ सृष्टि का अनन्त प्रवाह है। यदिच पूर्व्वापर विराट् सूर्य्यसे वृहत् सूर्य्य और वृहत् सूर्य्यसे हमारे सूर्य्यका सम्बन्ध है तत्रच हमारे सौर्य्यजगत्के ग्रह और उपग्रहगण हमारे सूर्य्यसे ही प्रकाशको प्राप्त होते हैं। अपने सूर्य्यदेव ही अपने सौर्य्यजगत्के केन्द्र हैं, अपने सूर्य्यदेव ही अपने सौर्य्यजगत् रूपी त्रिभुवनमें शक्ति और तेजके प्रकाशक हैं। इसकारण योगी यदि उनमें संयम करें तो उस संयम द्वारा भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक में जितने भुवन अर्थात् ग्रह उपग्रह आदि हैं उन सबके पदार्थोंका उनको भली भांति ज्ञान हो सकता है। सूर्य्यका अनुभव तीन प्रकारसे करने योग्य है—अध्यात्म सूर्य्य रूप वह है कि जो सब ज्योतियोंकी ज्योति और ज्योतिष्मती प्रवृत्तिका कारणरूप शुद्ध प्रकाश है। अधिभूत सूर्य्य वह सूर्य्यमण्डल है कि जिसका दर्शन स्थूलनेत्रके द्वारा प्रतिदिन हुआ करता है और इनमें परिव्याप्त जो अधिदैव शक्ति है वही अधिदैव सूर्य समझने योग्य है। परिदृश्यमान विषयरूपी यह संसार भी दो भागोंमें विभक्त है, यथा—स्थूल जगत् और सूक्ष्म जगत्। हमारी पृथिवी पर या प्रत्येक ग्रहोपग्रहमें जो स्थूल मृत्युलोक है वही स्थूल लोक और सप्त स्वर्ग, सप्तपाताल आदि सूक्ष्मलोक कहाते हैं। सूर्यदेवके अध्यात्म स्वरूपमें संयम करनेसे सूक्ष्म जगत्का सम्पूर्ण ज्ञान और

अधिभूत स्वरूपमें संयम करनेसे स्थूलजगत् का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। संयममें योगीको वही शैली अवलम्बन करनी होती है जैसे ज्ञानमें संयम करनेसे परचित्त ज्ञान होता है। वहां जैसे योगी परचित्तका साधारण स्थूलज्ञान लाभ करनेके लिये संयम प्रारम्भ करता है और विशेष ज्ञान लाभ करनेके लिये पुनः सूक्ष्म राज्यमें प्रकारान्तसे संयम करता है; उसी प्रकार उन्नत योगी सिद्धि-लाभकी इच्छासे प्रथम अपने ब्रह्माण्डके सूर्यमण्डलमें संयम करके योग्यता प्राप्त करता हुआ तदनन्तर उसके अध्यात्म स्वरूपमें संयम करनेसे सूक्ष्म जगतोंको देख सकता है ॥ २६ ॥

ग्यारहवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

चंद्रमा में संयम करनेसे नक्षत्रके व्यूहका ज्ञान होता है ॥ २७ ॥

नक्षत्र किस प्रकारके लोक हैं यदिच इसका विस्तारित विवरण जानने की दूसरी रीति है; तथापि नक्षत्र-व्यूहके रूप अर्थात् ताराओं की राशिश्रेणिका बोध चन्द्रमामें संयम करनेसे ही हो सकता है। अपने सौर्य्यजगत्का सीधा सम्बन्ध तारागणसे ही है; अर्थात् जैसे अपने सूर्य्यसे अपने ग्रहोंका सम्बन्ध है वैसा सम्बन्ध अपने सूर्य्यसे नक्षत्रोंका नहीं है; नहीं तो अपने सूर्य्यमें संयम करनेसे ही सम्पूर्णतः नक्षत्रगणका बोध होसकता था। नक्षत्रराशिसे अपने चन्द्रमा का कुछ विलक्षण सम्बन्ध है; इसी कारण नक्षत्रराशिके विषयमें यदि योगी कुछ जानना चाहें तो वे चंद्रमामें संयम करनेसे जान सकेंगे। पृथिवी केवल एक दिनमें प्रायः दो घंटे तक बारह राशियोंको एक एक वार देखा करती है, किन्तु अपना चन्द्र-उपग्रह प्रतिदिन अपनी पृथ्वी की एकवार प्रदक्षिणा कर लेता है और अपने केन्द्रमें भी कई वार घूमा करता है, सुतरां प्रत्येक दिनमें वह चारों ओरसे राशियोंको कई वार दर्शन कर सकता है; इसी कारण चन्द्रलोकमें संयम करनेसे योगीको राशिचक्रका ज्ञान सुगम रीतिसे भली भांति होसकता है। राशि-विचारमें चन्द्रकी यही विलक्षणता है।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

ज्योतिषका यह सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं उन सबोंमें चन्द्र एक राशि पर सबसे बहुतही कम समयतक रहता है। इस हिसाबसे भी प्रत्येक ताराव्यूहरूपी राशिकी आकर्षण विकर्षण शक्तिके साथ चन्द्रका अति घनिष्ट सम्बन्ध है अतः उसी आकर्षण विकर्षण शक्तिके अवलम्बनसे उक्त ताराव्यूहोंका पता लगानेमें चन्द्रकी सहायता सुविधाजनक है ॥ २७ ॥

बारवीं सिद्धि का वर्णन किया जाता है—

ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

जैसे अपने सूर्य्यसे अपने ग्रहोंका सम्बन्ध है; वैसे ही ध्रुव नामक महासूर्य्यसे नक्षत्रगणों का सम्बन्ध है; इस कारण ध्रुवमें संयम करनेसे उन नक्षत्रगण की गतिका ज्ञान हो सकता है। ध्रुव निश्चल रूपसे उत्तर दिशामें स्थित रहते हैं; यदिच प्राकृतिक नियम के अनुसार ग्रह, उपग्रह, सूर्य्य, महासूर्य्य, नक्षत्र, धूमकेतु आदि सब ग्रह और महाग्रहगण अपनी अपनी रीति पर अपने अपने पथमें भ्रमण किया करते हैं और उन सबोंका यथावत् भ्रमण करना भी प्रकृतिके दुर्दमनीय नियमसे स्वतःसिद्ध है; तत्रच ध्रुवलोक हमारे सौर्य्यजगत्से इतना दूरवर्ती है कि उस दूरताके कारण हमलोग उसको स्थिर ही देख रहे हैं; जैसे दूरवर्ती देशमें स्थित किसी अग्नि-शिखाको उसके स्वभावसे ही चंचल होनेपरभी हम एक अचञ्चल ज्योतिर्मय रूपवाली देखते हैं, वैसे ही ध्रुव के चलने फिरने पर भी उस चलनेका हमारे लोकसे कोई संबंध न रहनेके कारण और परस्परमें अगणित दूरत्व होनेके कारण हम लोग ध्रुवको अचञ्चल ध्रुव ही निश्चय करते हैं; परंतु ध्रुवसे नक्षत्रों का निकट सम्बन्ध है, प्रत्येक नक्षत्र और प्रत्येक राशिके अन्तर्गत जितने तारे हैं वे सब एक एक ब्रह्माण्डके सूर्य हैं। वे सब ब्रह्माण्ड हमारे ब्रह्माण्डके चारों ओरके प्रतिवेशी हैं इसी कारण राशि और नक्षत्रका सम्बन्ध हमारी पृथिवीके साथ है, यह ज्योतिष शास्त्र सिद्ध

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

करता है। हमारी पृथिवीकी चारों ओर गोलाकारमें स्थित हमारे प्रतिवेशी ये ब्रह्माण्ड समूह एक साथ होकर महासूर्यरूपी ध्रुवके चारों ओर घूम रहे हैं अतः ध्रुवलोकके साथ हमारी पृथिवी अथवा हमारे ब्रह्माण्डका जैसा सम्बन्ध है वैसा ही सम्बन्ध तारागणके साथ होनेके कारण तथा सबका केन्द्र ध्रुवलोक होनेके कारण उसमें संयम करनेसे नक्षत्रोंकी गतिका भली भांति बोध हो सकता है ॥ २८ ॥

तेरवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

नाभिचक्रमें संयम करनेसे शरीरके समुदायका ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

शरीरके सात स्थानोंमें सात कमल अर्थात् चक्र हैं; जिनमेंसे छः चक्रोंमें साधन करके सिद्धि प्राप्त होने पर तब सातवेंमें पहुंच कर मुक्ति प्राप्त होती है; इसीलिये योग-मार्गके चार मार्गोंमेंसे लययोग वालोंने इस षट्चक्रभेदन-क्रियाको ही प्रधान मानकर ग्रहण किया है। उन साधनके छः चक्रोंमेंसे नाभिके निकट स्थित जो तीसरा चक्र है, उस चक्रमें संयम करनेसे योगीको शरीरका विशेष ज्ञान हो सकता है; अर्थात् शरीरमें किस प्रकारका पदार्थ किस प्रकारसे है; वात, पित्त और कफ, ये तीन दोष किस रीतिसे हैं; चर्म्म, रुधिर, मांस, नख, हाड़, वसा (चर्वी) और वीर्य यह सात धातु किस प्रकारसे हैं; नाड़ी आदि कैसी कैसी हैं इसका विस्तारित ज्ञान नाभि-चक्रमें संयम करनेसे प्राप्त होसकता है। नाभि-स्थान प्राणवायु और अपानवायुका अर्थात् ऊद्र्ध्वशक्ति और अधःशक्तिका मध्यस्थान है; इस कारण उस केन्द्रस्थानमें संयम करनेसे समस्त शरीरके सब पदार्थोंका बोध भली भांतिसे सुगम रीति पर हो सका है। वायु-विकारसे ही शरीरमें नाना धातु-विकार हुआ करता है; अर्थात् जीवनी-शक्तिको ही वायुनाम प्राप्त हुआ है; उस जीवनी शक्ति की अधः और ऊद्र्ध्वगतिका केन्द्र नाभिचक्र है; इसी कारण नाभिचक्रमें संयम द्वारा जीवनी-शक्तिकी गतिके ज्ञानसे शारीरिक सब पदार्थोंका ज्ञान भली भांति हो सकता है ॥ २९ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

चौदहवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

कण्ठ के कूपमें संयम करनेसे भूख और प्यास निवृत्त होजाती है ॥ ३० ॥

सकाम व्यक्तियोंके लिये जो नानाप्रकारकी सिद्धियोंका अनुसन्धान शास्त्रोंमें पाया जाता है उनके अनेक भेद होनेपरभी कहीं कहीं तैंतीस भेद गिनाये गये हैं। उनमेंसे अष्टसिद्धि मुख्य हैं जिनका वर्णन आगेके सूत्रोंमें आवेगा। उन तैंतीसोंके नाम स्मृतियोंमें, यथा—

अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा।
वशित्वं गरिमेशित्वे तथा कामावसायिता ॥
दूरश्रवणमेवालं परकायप्रवेशनम्।
मनोयायित्वमेवेति सर्वज्ञत्वमभीप्सितम् ॥
वह्निस्तम्भो जलस्तम्भश्चिरजीवित्वमेव वा।
वायुस्तम्भः क्षुत्पिपासानिद्रास्तम्भनमेव च ॥
कायव्यूहश्च वाक्सिद्धिर्मृतानयनमीप्सितम्।
सृष्टिसंहारकर्त्तृत्वं प्राणाकर्षणमेव च ॥
प्राणानाञ्च प्रदानञ्च लोभादीनाञ्च स्तम्भनम्।
इन्द्रियाणां स्तम्भनञ्च बुद्धिस्तम्भनमेव च।
कल्पवृक्षत्वसत्यानुसन्धाने अमरत्वकम् ॥

अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, वशित्व, गरिमा, ईशित्व, कामावसायिता, दूरश्रवण, परकायप्रवेश, मनोयायित्व, अभीप्सित सर्वज्ञत्व, वह्निस्तम्भ, जलस्तम्भ, चिरजीवित्व, वायुस्तम्भ, क्षुत्स्तम्भ, पिपासास्तम्भ, निद्रास्तम्भ, कायव्यूह, वाक्सिद्धि, ईप्सितमृतानयन, सृष्टिकर्त्तृत्व, संहारकर्त्तृत्व, प्राणाकर्षण, प्राणप्रदान, लोभादिस्तम्भन, इन्द्रियस्तम्भन, बुद्धिस्तम्भन, कल्पवृक्षत्व, अमरत्व और सत्यानुसन्धान। इनमेंसे क्षुधाजय और पिपासाजय नामक जो दो सिद्धियां हैं उनकी प्राप्तिका उपाय कहा जाता है। मुखके भीतर उदरमें वायु और आहार आदि जानेके अर्थ जो कण्ठछिद्र है उसहीको कण्ठकूप कहते हैं; वहां संयम करनेसे

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

क्षुधा और पिपासा की निवृत्ति होती है। जैसे तीसरा चक्र नाभिके समस्थानमें स्थित है, वैसेही पञ्चम चक्र कण्ठकूपके समस्थानमें स्थित है; क्षुत्पिपासाकी क्रियासे उस चक्रका घनिष्ठसम्बन्ध है; इस कारण उस कण्ठकूप-स्थित चक्रमें संयम करनेसे योगी भूख और प्यासको जीत सकता है॥ ३० ॥

पन्द्रहवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

कूर्म नाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है ॥३१॥

पूर्व्व जैसा कह चुके हैं कि क्रिया-सिद्धांशके सब विषय श्रीगुरुदेवके श्रीमुखसेही प्राप्त हुआ करते हैं: वैसेही इड़ा, पिङ्गला, और सुषुम्ना आदियोंके स्थान और गति, कूर्म्म आदि नाड़ियोंके स्थान और षट्चक्रका विशेष विवरण इत्यादि क्रिया-सिद्धांश भी श्रीमुखसेही प्राप्त हुआ करता है; क्योंकि प्रत्यक्ष-पदार्थ प्रत्यक्ष-शब्दोंसे यद्यपि कहा जासकता है, परन्तु प्रत्यक्ष करके दिखा देनेमेंही अभ्रान्त रूपेण अनुभव होसक्ता है। पूर्व्वोक्त कण्ठकूपमें कच्छप आकृतिकी नाड़ी है, उसको कूर्म्म नाड़ी कहते हैं; उस नाड़ी से शरीरकी गतिका विशेष सम्बन्ध है इसी कारण उस कूर्म्मनाड़ीमें संयम करनेसे शरीर स्थिरताको प्राप्त होता है और शरीर स्थिर होनेसे मनभी स्थिर होजाता है। कण्ठकूपके समस्थानमें मेरुदण्ड स्थित पञ्चमचक्र है, उसीके निकट तथा ऊपर कूर्मनाड़ीका स्थान है। जैसे कूर्म्मदेवने मन्दराचलको धारण किया था उसी प्रकार मस्तकको धारण करनेमें यह नाड़ी सहायक है। इस नाड़ीकी सहायतासे अनेक लययोगकी क्रियाओंका वर्णन लययोग शास्त्रमें पाया जाता है। शरीर त्याग करते समय योगी विचलित न हो, ऐसी बड़ी सन्धिमें अर्थात् मृत्युकी सन्धिमें धैर्य दिलानेकी जो क्रियाएं हैं सो भी अज्ञाचक्र और कूर्मनाड़ीकी सहायतासे की जाती हैं। मेरुदण्ड ही शरीरको धारण करता है उसमें धृति उत्पन्न करनेके लिये भी कूर्मनाड़ीकी शक्ति सर्वप्रधान है। अतः मस्तिष्कके साथ, मेरुदण्डके साथ और समस्त शरीरकी वायवीय शक्तिके साथ विशेष सम्बन्ध रहनेसे उक्त नाड़ीमें संयम करनेसे स्थूल शरीर और

कूर्मनाड्यां स्थैर्य्यम् ॥ ३१ ॥

सूक्ष्म शरीरका धैर्य उत्पन्न होता है। आचार्य्यगणने लिखा है कि जैसे सर्प अथवा गोह अपने अपने बिलमें जाकर चंचलता और क्रूरताको त्याग देता है, वैसेही योगीका मन इस कूर्मनाड़ीमें प्रवेश करते ही अपनी स्वाभाविक चंचलता को त्याग कर देता है॥ ३१॥

सोलवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

कपालकी ज्योतिमें संयम करनेसे सिद्धगणों का दर्शन होता है॥ ३२॥

मस्तकके भीतर कपालके नीचे एक छिद्र है, उसको ब्रह्मरंध्र कहते हैं। उस ब्रह्मरंध्रमें मन ले जानेसे एक ज्योतिका प्रकाश दृष्टिगोचर होता है; उसमें संयम करनेसे योगीको सिद्ध महात्मागण का दर्शन हुआ करता है। जिस सात्त्विक प्रकाशका पूर्व्व वर्णन हो चुका है, वह प्रकाश ब्रह्मरंध्रमें भी दिखाई दिया करता है; ब्रह्म-रंध्र एक ऐसा स्थान है कि जहां प्रकाशका अंश नित्य विराजमान रहता है; बहिःप्रकाशकी नित्यताके संग अन्तःप्रकाशकी नित्यताका नित्य सम्बन्ध है। जितने सिद्ध महात्मागणका उल्लेख महर्षि सूत्रकार कर रहे हैं उनसे यह तात्पर्य्य है कि ऐसी विभूतिधारी सिद्ध महात्मागण अर्थात् जो जीवकोटिसे उपराम होकर सृष्टिके मङ्गलार्थ ऐसी शक्तियोंको धारण करके एक लोकसे लोकान्तरमें विचरण किया करते हैं। सिद्धमहात्मागण चतुर्दश भुवनमेंही विराजते हैं। जैसे ऊपरके सात लोगोंमें देवता विराजते हैं, जैसे भूलोकके अन्तर्गत पितृलोकमें पितृगण विराजते हैं; वैसेही ज्ञानराज्यके प्रवर्त्तक ऋषिगण चतुर्दश भुवनोंमेंही विराज सकते हैं। उनकी गति सब भुवनोंमेंही अप्रतिहत है। वैसे सिद्ध महात्मा और ऋषिकोटिके महापुरुष उच्चतर लोकोंमें प्रायः रहने पर भी स्वइच्छासे भुवनान्तरोंमें भ्रमण करते हैं। ब्रह्माण्ड और पिण्डका समष्टि-व्यष्टि-विचारसे एकत्व सम्बन्ध रहनेसे ब्रह्मरन्ध्रकी ज्योतिमें उनका दर्शन मिल सकता है। बहिर्ज्योतिसे अन्तर्ज्योतिका सम्बन्ध होनेके कारण,

---

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥ ३२॥

ब्रह्मरंध्रस्थित ज्योतिमें संयम करनेसे साधकको उन महात्मा-गणका दर्शन होजाता है ॥ ३२ ॥

सतरवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

प्रातिभमें संयम करनेसे संपूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ ३३ ॥

योगसाधन करते करते योगि-गणको ध्यानावस्थामें एक तेजोमय तारा दिखाई दिया करता है, इसी तारेका नाम प्रातिभ है। उस ज्योतिर्मय प्रातिभ तारेमें संयम करने से योगीको पूर्ण-ज्ञानकी प्राप्ति होती है। ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन है कि चंचल-बुद्धि मनुष्यगण प्रातिभका दर्शन नहीं कर सकते; भगवान्की और गुरुकी कृपासे जब साधक योगमार्गमें अग्रसर होने लगता है, तब ही उसकी बुद्धि ठहरने लगती है; इस प्रातिभका दर्शन होना उसके स्थिर बुद्धि होनेका पूर्व्व लक्षण है। इस कारण प्रातिभमें संयम करनेसे योगि पूर्णज्ञानको शीघ्र लाभ कर सकता है। जैसे योगयुक्त व्यक्तिके मनके स्थिर होनेका लक्षण नादश्रवण है क्योंकि जब योगीका मन ठहरने लगता है तभी उसको प्रणवध्वनिरूप नादका श्रवण उसके पिण्डमें ही होता है; ठीक उसी प्रकार योगीकी बुद्धि जब शुद्ध होकर सत्त्वगुणको प्राप्त होने लगती है तभी उस भाग्यवान् योगीको प्रातिभका दर्शन और उसके आन्तर राज्यमें प्रातिभकी स्थिति होने लगती है। मनके स्थैर्यके लक्षण नादश्रवणसे जैसे उच्चकोटिकी सिद्धियोंका सम्बन्ध है उसी प्रकार प्रातिभकी स्थिरता से बुद्धिसम्बन्धीय सिद्धियोंका सम्बन्ध है। इसी प्रातिभको स्थिर करके उसमें संयम करनेसे योगी यथाक्रम ज्ञानराज्यकी सब सिद्धिओंको प्राप्त कर सकता है। इसी प्रातिभसिद्धि द्वारा पूज्य-पाद महर्षिगण मन्त्रद्रष्टा बनते थे और ज्ञानराज्यको करतलामलकवत् कर देते थे ॥ ३३ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

अठारवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

हृदयमें संयम करनेसे चित्तका ज्ञान होता है ॥३४॥

षट्-चक्रोंमेंसे चतुर्थ-चक्र हृदयके समस्थानमें स्थित हैं, उसको हृत्कमल भी कहते हैं, इस कमलसे अन्तःकरणका एक विलक्षण सम्बन्ध है। इस ही हृदय-चक्रमें संयम करनेसे योगीको अपने अन्तःकरणका सम्पूर्ण ज्ञान लाभ हो सकता है। पूर्व सूत्रमें द्विदलमें प्रातिभके दर्शन और उसमें संयमके द्वारा बुद्धिराज्यके विषयोंका ज्ञानलाभ करनेका मार्ग बता कर अब इस सूत्र द्वारा हृदयचक्रमें संयम करके अपने मनोराज्यके ज्ञान लाभ का उपाय महर्षि कह रहे हैं। चित्त और मन दोनों पारस्परिक सम्बन्धसे युक्त हैं। चित्तमें नवीन और प्राचीन सब कर्मोंका संस्कार रहता है और चित्तके नचानेसे मन नाचता है अतः मनकी क्रियामें चित्त ही प्रधान है। चित्त अपने ही सूक्ष्म शरीरका अङ्ग होने पर भी उसका पूर्ण स्वरूप महामायाकी मायासे जीव पर प्रकट नहीं होता है। चित्तके साथ विलक्षण सम्बन्ध रखने वाले इस चक्रमें जब योगी संयम करता है तब वह अपने चित्तका पूर्णज्ञाता बन सकता है ॥ ३४ ॥

उन्नीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

बुद्धि पुरुषसे अत्यन्त भिन्न है। इन दोनोंके अभिन्नता ज्ञानसे भोगकी उत्पत्ति होती है। बुद्धि परार्थ है। उससे भिन्न स्वार्थ अर्थात् अहंकारशून्य चित्प्रतिबिम्ब में संयमसे पुरुषका ज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

रज और तमोगुणकी प्रधानतासे जो बुद्धिसत्त्व है उसमें वैधर्म्य-भावकी अधिकताके कारण पुरुषसे वह अत्यन्त विभिन्न है और सत्त्वगुणयुक्त बुद्धि पर आत्माका प्रतिबिम्ब रहने पर भी परिणामादि विकारके वशवर्त्ती होनेके कारण वह भी कूटस्थ पुरुषसे अत्यन्तासंकीर्ण अर्थात् अत्यन्त भिन्न है। इस प्रकार अत्यन्तासंकीर्ण

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषाद्भोगः परार्थान्यस्वार्थ-संयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

बुद्धि पुरुषका जो परस्पर प्रतिबिम्ब सम्बन्धद्वारेण अभेदज्ञान है वही पुरुषनिष्ठ भोग कहलाता है। बुद्धि दृश्य होनेसे उसका यह भोगरूप प्रत्यय परार्थ है अर्थात् पुरुषके हेतु ही है। इस परार्थसे अन्य जो स्वार्थ प्रत्यय है जो बुद्धि प्रतिबिम्बित चित्सत्ताको अवलम्बन करके चिन्मात्ररूप है; उसमें संयम करनेसे योगीको नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव पुरुषका ज्ञान होता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनों स्वतन्त्र हैं। दोनोंके सम्बन्धसे दृश्यरूपी जगत्‌की उत्पत्ति होती है, वही द्वैतरूप बन्धनका हेतु है। पुरुष निर्लिप्त और निर्विकार है; परन्तु प्रकृति पराधीना, लिप्ता, परिणामिनी और विकारमयी होनेसे उसका प्रथम परिणामरूपी महत्तत्त्व ही बुद्धि पदवाच्य है। महत्तत्त्वरूपी बुद्धि ही निर्लिप्त पुरुषके फंसानेकी हेतु बनती है। वह महत्तत्त्वरूपी बुद्धि पुरुषसे अत्यन्त भिन्न होने पर भी जब अघटनघटनापटीयसी प्रकृतिके स्वस्वभावसे पुरुष और बुद्धिका अभेदभाव प्रतीत होने लगता है तभी भोगरूपी बन्धन दशाकी उत्पत्ति होती है। यही सृष्टिका रहस्य है, यही बन्धनदशा का वैज्ञानिक स्वरूप है। अस्तु महत्तत्वरूपी बुद्धि की स्वतन्त्रता न होनेसे वह परार्थ ही है; क्योंकि पुरुषके लिये ही प्रकृतिका सब परिणाम हुआ करता है। पुरुष की स्वार्थदशा उससे भिन्न है अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि अविद्याजनित जो भोग की परार्थ दशा है उससे विलक्षण, विद्याकी कृपासे उत्पन्न, जैव अहंकारसे शून्य जो चिद्विलासकी एक स्वभाविक दशा है, उसीको स्वार्थ दशा कह सकते हैं। बुद्धिके मलिनभावसे रहित, शुद्धभावमय, जैव अहंकारसे शून्य, आत्मज्ञानसे भरी हुई जो चिद्भावकी दशा है उसीको जान कर उसीमें जब योगी संयम करता है तो उसको पुरुषके स्वरूपका बोध हो जाता है। यह सिद्धि सब प्रकारकी सिद्धियोंमें उत्तम परासिद्धिकी हेतु है जिसके लिये स्मृतिमें वर्णन है—

अतो विज्ञवरा अत्र प्रकृतेमें दशाद्वये।
मम सिद्धिस्वरूपस्य विकाशोऽपि द्विधा भवेत्॥
अपरा सिद्धिरेकास्ति द्वितीया च पराभिधा।
नैकोक्तसिद्धि रूपाणि नाना रूपाणि बिभ्रती॥

सिद्धिर्मेऽस्त्यपरा नाम्नी नात्र वः संशयो भवेत्।
ज्ञानाधिकारिणो विप्राः! पूज्या सिद्धिः पराभिधा॥
चिन्मयी सात्त्विकी नित्या हिताऽद्वैतविधायिनी।
स्वरूपानन्दसन्दोहद्योतिनी सा प्रकीर्तिता॥

इसी कारण हे विज्ञवरो! मेरी प्रकृतिकी परापरा नाम्नी इन दो दशाओंमें मेरे सिद्धिके स्वरूपका विकाश भी द्विविध होता है। एक परासिद्धि और दूसरी अपरा सिद्धि। सिद्धिके जो अनेक रूप पहले कहे गये हैं वह नाना रूपधारिणी सिद्धि मेरी अपरा सिद्धि है, इसमें आपलोगोंको सन्देह न होना चाहिये। हे ज्ञानके अधिकारी ब्राह्मणो! जो पूज्या परानाम्नी सिद्धि है वह चिन्मयी सात्त्विकी नित्या हिता अद्वैतकारिणी और स्वरूपानन्दसन्दोहप्रकाशिनी कही गई है॥ ३५॥

पूर्व सूत्र कथित परासिद्धिके उपयोगी योग्यताको प्राप्त करके योगीकी व्युत्थानदशा होनेपर जिन सिद्धियोंको प्राप्त करना सम्भव है सो बताया जाता है—

प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्त्ता नामक षट्सिद्धियां योगीको प्राप्त होती हैं॥३६॥

पूर्व्व सूत्रमें जो स्वार्थसंयमजनित सिद्धिका वर्णन कर चुके हैं उसके अनन्तर अब इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकार अवान्तर फलोंका वर्णन कर रहे हैं। पूर्व्व सूत्रमें कही हुई रीति पर जो अहंकार रहित चिन्मात्र स्वार्थ प्रत्यय है उसमें योगी संयम करता हुआ जब आगे बढ़ता है तो योगीको छः सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है जिसको प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्त्ता नामसे महर्षि-जीने कथन किया है। प्रातिभ सिद्धिसे योगीको अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट, सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंका भी ज्ञान हो जाता है और श्रावण-सिद्धिसे दिव्य-श्रवण-ज्ञानकी पूर्णता, वेदनसिद्धिसे दिव्य-स्पर्शज्ञान की पूर्णता, आदर्शसिद्धिसे दिव्यदर्शन ज्ञानकी पूर्णता, अस्वाद सिद्धिसे दिव्यरसज्ञानकी पूर्णता और वार्त्तासिद्धिसे दिव्यगंधज्ञान की पूर्णता स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। ये सब सिद्धियों स्वार्थ

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते॥ ३६॥

संयमका आनुषङ्गिक फल है तात्पर्य यह है कि योगसाधन द्वारा स्वरूपज्ञानरूपी पुरुषज्ञानकी उपलब्धि हो जानेपर भी पूर्वसंस्कार-जन्य व्युत्थान दशाको योगी जब प्राप्त करता है तो उसको इस प्रकार की सिद्धियोंकी प्राप्ति स्वतः ही हो सकती है। ये योगिराजके लिये एक प्रकारकी स्वाभाविक सिद्धियां हैं। स्वस्वरूपको प्राप्त, पुरुषकी उपलब्धिमें समर्थ, आत्मज्ञानी योगिराजकी तीन प्रकारकी दशाओं का वर्णन शास्त्रमें पाया जाता है। वे पूर्व संस्कारजन्य होती हैं। इन अवस्थाओंके तारतम्यानुसार पूर्वकथित व्युत्थान दशाका भी तारतम्य होता है। अवश्य इन सिद्धियोंकी प्राप्ति प्रारब्ध संस्कार-जनित होती है ॥ ३६ ॥

योगीको सावधान किया जाता है—

ये सब समाधिकी विघ्नकारक हैं परन्तु व्युत्थान-दशाके लिये सिद्धियां हैं ॥ ३७ ॥

ये सब अर्थात् पूर्वकथित स्वाभाविक सिद्धियाँ जो पूर्व्वसूत्रमें वर्णन कर आये हैं, वे सब सिद्धियां ही योगिगणको मुक्तिपदके प्राप्त करनेमें विघ्नकारी हैं। चाहे जीवगणका पार्थिव ऐश्वर्य्य हो, चाहे देवतागणकी दैवी-सिद्धि हो, यह सब ही मायामय प्रकृतिकी विचित्र लीला है; परन्तु सबकी रुचि एकसी नहीं होती और जब तक वासना रहे तब तक उसका पूरा करना भी अवश्य है, इस कारण वे चञ्चलचित्त योगी जो बीचमें ठहर कर सिद्धिकी अपेक्षा करते रहेंगे, उनके लिये ही दयामय महर्षि सूत्रकारने इस अध्यायमें सिद्धियोंके नाना भेद लिखे हैं। विशेषतः पूर्वकथित स्वाभाविक सिद्धियों का तो व्युत्थान दशामें योगीको स्वतः ही प्राप्त होजाना सम्भव है। ये सब प्राकृतिक परिणामजनित और क्षणभङ्गुर होनेसे समाधिके नित्यानन्द शुद्ध अद्वैत-दशामें विघ्न करनेवाली हैं। इस कारण महर्षि सूत्रकारने योगिराजको अधिक सावधान करनेके लिये इस सूत्रका आविर्भाव किया है। यद्यपि पुरुषकी उपलब्धि होनेपर योगिराज प्रकृतिकी लीलामें पुनः साधारणतः फंस नहीं सकता है; परन्तु व्युत्थानदशाजनित पूर्वकथित सिद्धियोंमें अधिक आकृष्ट

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

होने पर जड़भरतकी नाईं कदाचित् विपन्न हो सकता है। इस कारण प्रधान रूपसे उन्नत योगीकी सावधानताके लिये यह सिद्धान्त कहा गया है। वस्तुतः सिद्धि चाहे ऐहलौकिक हो, चाहे पारलौकिक हो, चाहे पार्थिव हो और चाहे अलौकिक हो सभी मुमुक्षुके लिये हेय हैं। इस विषयमें योगशास्त्रोंका यह तात्पर्य है, यथा—श्रीधीश गीतामें—

अघटयघटनायां या प्रकृतिर्मे पटीयसी ।
जगद्विमोहिनी सैव महामाया पराभिधा ॥
महतो ज्ञानिनश्चैवं योगिनोऽपि तपस्विनः ।
सिद्धिसार्थैरनेकैर्हि मोहयन्ती निरन्तरम् ॥
आवागमनचक्रेऽस्मिन् स्वविलासात्मके मुहुः ।
मोक्षमार्गं च रुन्धाना घूर्णयेत समन्ततः ॥
ब्राह्मणाः ! प्रकृतिर्मेऽसौ महामाया पराभिधा ।
किन्तु मे ज्ञानिनो भक्तान् मोहितुं न कदाप्यलम् ॥
कुलाङ्गनानां साध्वीनामङ्गानामिव दर्शनम् ।
ज्ञानिनां मम भक्तानां भवेत् सिद्धिप्रकाशनम् ॥
पुरुषांश्च परान् कांश्चिद्यथा काश्चित्कुलाङ्गनाः ।
दर्शनाय निजाङ्गानां न क्षमन्ते कदाचन ॥
भवन्त्युत्कण्ठिताः किन्तु सर्वथा जनसंसदि ।
दर्शनाय निजाङ्गानां निर्लज्जाः कुलटाः मुहुः ॥
सर्वसामर्थ्यवन्तोऽपि मद्भक्ता ज्ञानिनस्तथा ।
सिद्धिं स्वां नैव भो विप्राः ! द्योतयन्ते कदाचन ॥
योगिनो भक्तिहीनास्तु लक्ष्यहीनास्तपस्विनः ।
साधका उग्रकर्म्माणो ज्ञानहीनास्तथा द्विजाः ॥
स्वीयाः सिद्धीर्वणिग्वृत्या सम्प्रकाश्य पतन्त्यलम् ।
प्रकाश्याः सिद्धयो नैव सर्वथाऽतो महात्मभिः ॥
कदाचित् भ्रातरः पुत्रा आत्मीयाः स्वजना उत ।
दैवादनिच्छयेक्षेरन् यथाङ्गानि कुलस्त्रियाः ॥
ज्ञानिनां मम भक्तानां सिद्धीनां वैभवं तथा ।
प्रकटत्वं हठाद्याति दैवाल्लोके कदाचन ॥

जो अघटघटना पटीयसी जगद्विमोहिनी मेरी प्रकृति है और

जिसका दूसरा नाम महामाया है वही तपस्वियोंको योगियोंको और बड़े बड़े ज्ञानियोंको भी नाना सिद्धियोंके द्वारा ही निरन्तर विमोहित करके मुक्तिमार्गको रोकती हुई अपने विलासस्वरूप इस आवागमनचक्रमें चारों ओर वार वार घुमाया करतीहै। परन्तु हे ब्राह्मणो! महामाया नाम्नी वह मेरी प्रकृति मेरे ज्ञानी भक्तोंको कदापि विमोहित नहीं कर सकती। मेरे ज्ञानी भक्तोंका सिद्धियोंको प्रकाश करना सती कुलकामिनियोंके अङ्ग दिखाने के समान होता है। जिस प्रकार हे विप्रो! कोईभी कुलकामिनियाँ कदापि किन्हीं पर पुरुषोंको अपने अङ्गोंको नहीं दिखा सकतीं परन्तु निर्लज्जा कुलटा अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्रियाँ जनसमाजमें सब प्रकारसे अपने अङ्गोंको वार वार दिखलानेके लिये उत्कण्ठित रहती हैं उसी प्रकार मेरे ज्ञानी भक्तगण सर्वसमर्थ होने पर भी अपनी सिद्धिको कदापि प्रकट नहीं करते; किन्तु हे ब्राह्मणो! लक्ष्यहीन तपस्वी; भक्तिहीन योगी और ज्ञानहीन उग्रकर्मा साधक वणिक्वृत्ति से अपनी सिद्धियोंको प्रगट करके अत्यन्त पतित होते हैं इसलिये सर्वथा महात्माओंको सिद्धियाँ प्रकाशित नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार भ्राता पुत्र आत्मीय और स्वजन अनिच्छासे कभी कभी कुलकामिनीका अङ्गदर्शन दैवात् कर लेतेहैं उसी प्रकार मेरे ज्ञानी भक्तोंका सिद्धिवैभव दैवात् कभी कभी जगतमें हठात् प्रकाशित हो पड़ता है; परन्तु उन्नत निष्काम मुमुक्षुगणको कदापि मुँह फेर करके भी सिद्धियोंकी ओर देखना उचित नहीं है ॥ ३७ ॥

बीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

बन्धनका जो कारण है उसके शिथिल हो जानेसे और संयम द्वारा चित्तकी प्रवेशनिर्गममार्गनाडीके ज्ञानसे चित्त पराये शरीरमें प्रवेश कर सकता है ॥३८॥

अब महर्षि सूत्रकार और प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन कर रहे हैं, चञ्चलताको प्राप्त हुए अस्थिर मनका शरीरमें द्वन्द्व तथा आसक्तिजन्य बन्धन है, समाधिप्राप्ति होनेसे क्रमशः स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीरका यह बन्धन शिथिल हो जाता है और इसी

बंधकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥३८॥

प्रकार संयमकी सहायतासे चित्तके गमनागमनमार्गीय नाड़ीज्ञान द्वारा स्वतः ही सूक्ष्म-शरीरको कहीं पहुंचा देनारूप प्रवेशक्रिया और पुनः सूक्ष्म-शरीरको ले आनारूप निर्गम क्रियाका बोध योगीको हो जाता है। तब योगी जब चाहे तब अपने शरीरसे निकल कर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर सक्ता है। योगी पहले सविकल्प समाधिमें अग्रसर होता हुआ वितर्क और विचाररूप समाधि भूमियोंको अतिक्रम करके जब अस्मितानुगत समाधिमें पहुंच जाता है तब वह इस अधिकारकी योग्यताको प्राप्तकर सक्ता है। उस समय यम नियमादि से उत्पन्न आत्मबलको प्राप्त करके शारीरिक द्वन्द्व और शारीरिक आसक्तिको जय कर लेता है, तब यदि उस योगीमें इस प्रकारकी सिद्धिकी वासना रहे तो आसनजय द्वारा स्थूल शरीरको जय कर के प्राणायामकी शक्तिसे प्राणजय करता हुआ प्राणमय कोषसहित सूक्ष्मशरीरको वर्त्तमान स्थूलशरीरसे निकाल कर प्राणशक्ति द्वारा दूसरे शरीरमें ले जाने तथा वहाँसे ले आनेकी योग्यताको योगी प्राप्त कर लेता है। जैसे रानी मक्खी जहां जाती है वहां उसके साथ और सब मधुमक्खियां भी चली जाती हैं; वैसेही जीवके दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेसे उसके इन्द्रियगण भी उसके साथ रहते हैं। दूसरेके शरीरमें जाकर योगी अपने शरीरके समान ही सब व्यवहार कर सकता है क्योंकि चित्त और आत्मा व्यापक हैं, जब उनकी भोगतृष्णा मिट जाती है तब उनको सब स्थानोंमें ही आनन्द मिलता है; क्योंकि भोगके साधक कर्म्म शिथिल हो गये हैं इस कारण उनको सर्वत्र स्वतंत्र भावसे सुखकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार संयमक्रियासे बन्धनकी शिथिलता हो जानेसे योगीको परकाय-प्रवेशकी शक्ति प्राप्त होजाती है ॥ ३८ ॥

इक्कीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

उदानवायु के जीतने से जल, कीचड़ और कंटक आदि पदार्थोंका स्पर्श नहीं होता और मृत्यु भी वशीभूत होजाता है ॥ ३९ ॥

वायुसे ही शरीर की स्थिति है; सम्पूर्ण शरीर और इन्द्रियोंमें

उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

रहनेवाला वायु पांच भागमें विभक्त किया गया है, यथा—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। नासिका द्वारा गति करनेवाला नासिकामूलसे नाभि तक व्यापी जो वायु है उसका नाम प्राणवायु है। नाभिके अधोभागमें, नाभिसे लेकर पदके अंगुष्ठतक स्थित-वायुको अपानवायु कहते हैं। यह प्राण और अपान वायु दोनों परस्पर एक दूसरेको खैंचते हुए प्राणक्रियाको चलाया करते हैं। नाभिके चारों ओर दूर तक व्यापक रह कर समताको प्राप्त हुआ जो वायु जीवनी-क्रियाको साम्यावस्थामें रखता है उस वायुको समानवायु कहते हैं। ऊर्द्धगमनकारी कण्ठसे लेकर सिर तक व्यापक जो वायु है वही उदानवायु कहाता है और समस्त शरीर में व्यापक साधारण-वायु व्यानवायु कहाता है। शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन है कि हृदयमें प्राण, गुदामें अपान, नाभिमें समान, कंठमें उदान और समस्त शरीरमें व्यानवायु ढूढ़नेसे तत्काल अनुभव होजाते हैं। उदानवायु ऊर्द्धगमनकारी है इसकारण उसमें संयम करनेसे शरीर जल, पङ्क और कण्टक आदिसे नष्ट नहीं होता; अर्थात् इतना हलका रहता है कि न तो जलमें डूबता है, न पङ्कमें फँसता है और न कांटे आदिसे छिदता है। प्राणवायुके द्वारा जिस प्रकार स्थूल शरीर जीवित रहता है और स्थूलशरीरकी सब क्रियाएँ यथावत् निर्वाहित होती हैं, उदानवायुके द्वारा उसी प्रकार सब स्नायुओं की क्रियाएं नियमित रहती हैं, मस्तिष्कका स्वास्थ्य ठीक रह कर चेतनाकी क्रिया बनी रहती है और इसके अतिरिक्त उदानवायु द्वारा प्राणमय कोश सहित सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य बना रहता है इस कारण उदानवायुके जयसे इस प्रकारकी सिद्धिकी प्राप्ति होती है। उदानवायुको अधीन करनेसे योगी उत्क्रान्ति अर्थात् इच्छानुसार शरीरसे प्राणोत्क्रमणरूप इच्छा-मृत्युको भी प्राप्त कर सकता है। यहां इच्छामृत्युसे यह तात्पर्य है कि जिस प्रकार भीष्म पितामहने अपनी मृत्युको सन्निकट देखकर भी अपनी इच्छासे उत्तरायणकी प्रतीक्षा की थी वैसे ही कालका परिवर्त्तन योगी कर सकता है। अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मको हटाकर तथा अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म्मको दृष्टजन्मवेदनीयमें परिणित करके जो आयुको बढ़ानेकी शैली है वह सिद्धिकी शैली और प्रकार

की है अतः यहां इच्छामृत्युसे पितामह भीष्मकी इच्छामृत्यु सदृश ही समझना उचित है ॥ ३९ ॥

बाईसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

समान-वायुको वश करनेसे योगीका शरीर ज्योतिर्मय हो जाता है ॥ ४० ॥

शारीरिक तेजश्शक्ति ही जीवनी क्रियाको साम्यावस्थामें रखती है। जब समानवायुसे भी इस शारीरिक समानताका प्रधान सम्बन्ध है, तब वह तेजश्शक्ति भी समानवायुके आधीन है ऐसा समझना उचित है। इस कारण पूर्व्वोक्त समानवायुको संयम द्वारा जीत लेनेसे योगी तेजःपुंजमय हो जाता है। समान वायु समता उत्पन्न करता है। जहाँ समता है वहीं अन्य प्रकारकी शक्तियोंका आकर्षण हो सकता है। जैसे मर्यादावान् समभावापन्न समुद्र पृथिवीकी सब जलराशियोंको नदीरूपसे आकर्षण करता है, जैसे समदर्शी सूर्य अपनी समभावापन्न किरणोंसे असमभावसे इतस्ततः विकीर्णरसोंको खींचता है; उसीप्रकार पिण्डस्थित समानवायु यथार्थरूपसे नियोजित होनेपर चारों ओर विकीर्ण तेजश्शक्तिको आकर्षण करके योगी के शरीरको ज्योतिर्मय बना देता है और तब जैसे देवता आदिकों के शरीर से तेजोमय किरण प्रकाशित हुआ करते हैं; यदि योगी इच्छा करे तो उस प्रकारके देवतेजको समानवायुके जीतनेसे प्राप्त कर सक्ता है ॥ ४० ॥

तेईसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

कर्ण-इन्द्रिय और आकाशके आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्ध में संयम करनेसे दिव्यश्रवण प्राप्त होता है ॥४१॥

समस्त प्राणियोंकी कर्णेन्द्रियका आधार आकाश ही है; उसी प्रकार सम्पूर्ण शब्दोंका भी आधार आकाश ही है। एक स्थान में शब्द उच्चारित होने से जो वह शब्द दूसरे स्थल में पहुँचता है इस-

---

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

का कारण आकाश ही है क्योंकि दोनों स्थानोंके बीचमें आकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; इस कारण शब्द का आधार आकाश है यह सिद्ध हुआ। ऐसा देखने में आता है कि जब तक कर्णेन्द्रिय के संग आकाशका सम्बन्ध रक्खा जाता है तबही तक शब्द सुनाई दिया करता है; परंतु और किसी प्रकारसे वह सम्बन्ध छिन्न कर देने से अर्थात् श्रवण-इन्द्रिय बन्द कर लेनेसे पुनः शब्द नहीं सुनाई देता; इससे यह प्रमाणित है कि आकाशसे श्रवण इन्द्रियका भी साक्षात्-सम्बन्ध है और पूर्वोक्त कारणसे आकाशका आवरण-राहित्य भी सिद्ध होता है और उसका सर्व्वव्यापी होनां तो सिद्ध ही है इस कारण कर्णेन्द्रिय और आकाशका जो आश्रयाश्रयिरूप संबन्ध है उसमें संयम करनेसे योगी दिव्य-श्रवण शक्तिको प्राप्त होता है; अर्थात् तब वह सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म, छिपे हुएसे अति छिपे हुए, दूरवर्तीसे अतिदूरवर्ती और नाना प्रकारके दिव्यशब्दो को श्रवण कर सक्ता है। जहां जो कुछ शब्द हुआ है, होता है या होगा उन सबोंके साथ आकाशका सम्बन्ध है क्योंकि शब्द आकाशका गुण है। जैसे दाहिकाशक्तिके साथ अग्निका सम्बन्ध है वैसे ही शब्दके साथ आकाशका सम्बन्ध है। गुणकी स्थिति गुणीमें ही रहती है। दिव्य और लौकिक कोई शब्द हो आकाश उसका आधार है। उस आकाश की सूक्ष्मातिसूक्ष्म सीमाके साथ पिण्डस्थित श्रोत्रेन्द्रियका साक्षात् सम्बन्ध है। उस सीमामें स्थित आश्रयाश्रयिसम्बन्धमें योगी जब संयम करेगा तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म दिव्य श्रवण उसको स्वतः ही प्राप्त होगा इसमें सन्देह ही क्या है ॥ ४१ ॥

चौबीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

शरीर और आकाशके सबन्धमें संयम करनेसे और लघु अर्थात् रुई आदि पदार्थ की धारणासे आकाशमें गमन हो सक्ता है ॥ ४२ ॥

जहां जहां शरीर जाता है वहां वहां सर्व्वव्यापी आकाशका होना सिद्ध ही है; और आकाश इस चलने फिरने रूप क्रियामें

कायाकाशयोस्सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

अवकाश देनेवाला है, अर्थात् आकाश और शरीरका व्यापक और व्याप्यरूपसे सम्बन्ध है और आकाश ही सब भूतोंसे हलका और सर्व्वव्यापी है इस कारण योगी जब आकाश और शरीरके सम्बन्धमें संयम करता है और उस समय लघुताके विचारसे रुई आदि हलकेसे हलके पदार्थोंकी धारणा भी रखता है, तो इस क्रियासे उसमें हलकेपन की सिद्धि होजाती है। स्थूल शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे यथेच्छ शरीर लेजाने की शक्ति और उस समय सबसे अधिक हलके पदार्थ की धारणासे यथेच्छ हलके हो जाने की योग्यता योगीको हो जाती है अर्थात् योगी तब जहां चाहे तहां ठहर सकता है; आकाश-पथमें जहां चाहे तहां भ्रमण कर सकता है। इसी ही सिद्धि द्वारा महात्मा आकाशमें विचरण करते हुए एक स्थानसे स्थानान्तरमें भ्रमण किया करते हैं ॥ ४२ ॥

पच्चीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

शरीरसे बाहर जो मनकी स्वाभाविक वृत्ति है उसका नाम महाविदेह-धारणा है; उसके द्वारा प्रकाशके आवरणका नाश हो जाता है ॥ ४३ ॥

स्थूल शरीरसे बाहर, शरीरके आश्रयकी अपेक्षा न रखनेवाली जो मनकी वृत्ति है उसे महाविदेह कहते हैं; क्योंकि उससे अहंकारका वेग दूर हो जाता है। उस वृत्तिमें जो योगी संयम करता है उस संयमसे प्रकाशका ढकना दूर होजाता है; अर्थात् सात्त्विक अन्तःकरणको ढकनेवाले अविद्या आदि कर्म्म और क्लेश तब लय हो जाते हैं। इससे अभिप्राय यह है कि जब तक शरीरका अहंकार रहता है तबतक मनकी बाह्यवृत्ति रहती है; परन्तु जब शारीरिक अहंकारको त्याग कर स्वतंत्र भावसे मनकी वृत्ति बाहर रहती है तब ही योगीका अन्तःकरण मलरहित और निस्संग रहता है अर्थात् शरीरसे लगी हुई मनकी जो बाह्यवृत्ति है उसका नाम कल्पिता है; परन्तु शरीरकी अपेक्षा न रखकर देहाध्याससे रहित

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

जो मनकी स्वाभाविक और निराश्रयी वाह्यवृत्ति है, वह अकल्पित कहाती है; इन दोनों वृत्तियोंमेंसे कल्पितवृत्तिको छोड़कर अकल्पित महाविदेह-वृत्तिका साधन किया जाता है जिसके सिद्ध होने पर प्रकाशस्वरूप जो बुद्धि है उसका पूर्ण प्रकाश होजाता है। इस समयमें अहङ्कारसे उत्पन्न हुए क्लेश, कर्म्म और कर्म्मका फल, इनके सम्बन्धसे साधक मुक्त होजाता है, तमोगुण और रजोगुणसे उत्पन्न हुए सब आवरण तब अलग रहजाते हैं। यह उन्नत-अवस्था है। पूर्व सूत्रमें महर्षि सूत्रकारने स्थूल शरीरको यथेच्छ लेजानेकी सिद्धिका वर्णन करके अब इस सूत्र द्वारा अन्तः-करणको यथेच्छ लेजानेकी सिद्धिका वर्णन किया है। पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने सिद्धिसमूहको तीन भागमें विभक्त किया है। प्रथम प्रकारकी सिद्धियोंको पूर्व्व ही भलीभांति वर्णन करके, पुनः सिद्धियों में योगीको फँसनेका निषेध करके तत्पश्चात् मध्यम सिद्धियोंका वर्णन किया है। अब आगे उत्तम सिद्धियोंका विविध उपाय वर्णन करेंगे ॥ ४३ ॥

छब्बीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है —

पञ्चतत्त्वों की स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्त्व, ये पांच अवस्थाविशेष हैं इनमें संयम करनेसे भूतों पर जय लाभ होता है ॥ ४४ ॥

सृष्टिप्रकाशिनी अनादि-कारणरूपा प्रकृतिका विस्तार पञ्चभूत हैं; इन पञ्चभूतोंके सम्बन्ध और विस्तारसे ही यावन्मात्र सृष्टि है इसकारण इन पाँचोंके जयसे प्रकृतिका जय होता है। यदि सूक्ष्म विचार करें तो पञ्चभौतिक सृष्टिको पांच भागमें विभक्त कर सकते हैं। यथा-स्थूलावस्था, स्वरूपावस्था, सूक्ष्मावस्था, अन्वया-वस्था और अर्थवत्त्वावस्था। भूतोंकी स्थूल-अवस्था वह है कि जो दृष्टिगोचर हुआ करती है, दूसरी अवस्था वह है जो स्थूलमें गुणरूपसे अदृष्ट हो, यथा-उष्णता तेजमें, तीसरी अवस्था तन्मात्रा-ओंकी है, चतुर्थ अवस्था व्यापक सत्त्व, रज और तमोगुणकी है

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥

और पञ्चम अवस्था फलदायक होती है। इसको और प्रकारसे समझा जाय कि पृथ्वी आदि स्थूलभूत जो अनुभवमें आवें, यथा-स्थूल-पृथ्वी, यह प्रथम अवस्था है; द्वितीय जैसे ऊष्णतासे तेज अनुभव किया जाता है, यह दूसरी अवस्था है, भूतोंकी सूक्ष्म-अवस्था अर्थात् पञ्चतन्मात्रा, जैसे शब्दसे आकाशका अनुभव करना, यह तीसरी अवस्था है, तत्वोंकी ख्याति-प्रकाश-क्रिया और स्थिति-स्वभाववाले जो गुण हैं, वह अति-सूक्ष्म-अवस्था चतुर्थ अवस्था है और पंचभूतोंकी सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म भोग-मोक्ष-दायक शक्तिमान् अवस्था ही पंचम अवस्था कहाती है; इनमेंसे प्रथम तीन अवस्था स्थूल और पिछली दो अवस्था सूक्ष्म होनेके कारण स्थूल अवस्था तो साधारण बुद्धिगम्य और सूक्ष्म-अवस्था योग-बुद्धिगम्य है। जब योगी पंचभूतोंकी अवस्थाओंको भलीभांति पहचान कर उनके विचारसे भूतोंमें संयम द्वारा उनको जय कर लेता है तो प्रकृति आपही आप उस योगीके अधीन होजाती है, जैसे गौ अपने आप ही बच्चेको दूध पिलाया करती है, वैसेही पंचभूतके जयसे प्रकृति वशीभूत होजाने पर वह प्रकृति माता अपने आपही उस योगी की सेवामें तत्पर होजाती है। प्रकृतिजय होनेसे अद्भुत ऐशी सिद्धिकी प्राप्ति होती है, जैसे सर्वशक्तिमान् भगवान् अथवा उनकी साक्षात् विभूति ब्रह्मा, विष्णु, महेशके अधीन उनकी प्रकृति रहती है उसी प्रकार ऐशी सिद्धिप्राप्त योगीके अधीन उनकी प्रकृति हो जाती है। येही सब सिद्धियाँ ऐशी सिद्धियाँ कहाती हैं। उसका विस्तारित विवरण आगे करेंगे ॥ ४४ ॥

अब भूतजयफल वर्णन किया जाता है:—

इसके अनन्तर अणिमादि (अष्टसिद्धि) सिद्धियों का प्रकाश, शरीर सम्बन्धी सब सम्पत्तियोंकी प्राप्ति और शरीरके रूपादि धर्म्मोंका अन-भिघात होजाता है ॥ ४५ ॥

भूतजयानन्तर आठ तरहकी सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, यथा-अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

ईशित्व । अणिमा-सिद्धि उसे कहते हैं कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको सूक्ष्म अणुसे भी सूक्ष्मतर कर सके । लघिमा-सिद्धि उसको कहते हैं कि जब योगी इच्छा करते ही अपने स्थूलशरीरको हलकेसे भी हलका कर सके और आकाशके अवलम्बनसे जहां चाहे वहां भ्रमण कर सके। महिमा-सिद्धि वह कहाती है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना बढ़ासके। गरिमा-सिद्धि वह कहाती है कि योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना भारीसे भारी करसके । प्राप्ति-सिद्धि वह कहाती है कि योगी इच्छा करते ही एक लोकसे लोकान्तरमें अर्थात् किसी ग्रह, किसी उपग्रह, किसी सूर्य्य अथवा किसी महासूर्य्यमें जहां चाहे वहीं पहुंच सके। प्राकाम्य-सिद्धि वह कहाती है कि जब योगी जिस किसी पदार्थ की इच्छा करे तब ही वह पदार्थ उसको प्राप्त होजाय; अर्थात् त्रिलोकमें उसको अप्राप्त कोई भी पदार्थ न रहे। वशित्व-सिद्धि वह कहाती है कि जिससे योगीके वशमें समस्त पंचभूत और समस्त भौतिक पदार्थ आजाते हैं और वह जैसे चाहता है वैसेही पंचभूतोंसे काम ले सकता है, परन्तु वह स्वयं किसीके भी वशमें नहीं आता और ईशित्व सिद्धि वह कहाती है कि जब योगी भूत और भौतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेकी शक्तिको प्राप्त हो जाता है; अर्थात् यदि वह नवीन सृष्टि कुछ करना चाहे सो भी कर सकता है। यही आठों प्रकारकी सिद्धियां अष्ट-सिद्धि कहाती हैं; ये सिद्धियां ईश्वर की सिद्धियाँ हैं। जब योगी ईश्वररूप हो जाता है तबही ईश्वर-कृपासे उसको इन आठ सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है । ये सिद्धियां सब प्रकारकी पूर्व्व कथित-सिद्धियोंसे श्रेष्ठ हैं। यदि ऐसा सन्देह हो कि योगी ऐसी सिद्धियोंको प्राप्त करके क्या दूसरा ईश्वर बनजाता है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि योगी तब दूसरा ईश्वर नहीं बनता, परन्तु ईश्वरमें तद्गत होके मिल जाता है; जब योगी ईश्वरमें मिले रहते हैं तो ईश्वर-इच्छा अथवा ईश्वर-नियमके विरुद्ध वे कुछ काम करते ही नहीं, उनकी ऐसी विभूति द्वारा यदि कोई काम होता भी है तो वह रेख पर मेखकी नाईं ईश्वरके नियम अथवा आज्ञाके अनुकूल ही होता है; परन्तु इन सिद्धियोंके प्राप्त करनेसे

योगी सब कुछ कर सकता है, अर्थात् कठिनसे कठिन पाषाणमें भी प्रवेश कर सकता है और आवरण रहित आकाशमें भी छिप सकता है और तब पंचभूतोंमेंसे कोई भूत भी उसको कुछ क्लेश नहीं दे सकता, जैसे प्रभुरूपसे प्रकृति माता परम पिता ईश्वर की सदा सेवा किया करती हैं, वैसे ही ऐसी अधिकारको प्राप्त होनेसे प्रकृति माता तब स्नेहमयी जननी की नाईं उस योगीकी भी सदा सेवा करती रहती हैं। इसी प्रकार कायसम्पत् भी भूतजय द्वारा प्राप्त होती है जिसका वर्णन आगेके सूत्रमें आवेगा। रूपादि शरीरधर्मका अनभिघात भी उस समय भूतजयी योगीको प्राप्त होजाता है; अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि आदि भूतसमूह उनके शरीरधर्मको नष्ट नहीं कर सकते जिससे पृथिवी उसकी शरीरक्रियाको रोक नहीं सकती, वह अनायास शिला आदिके भीतर प्रवेश कर सकता है, जल उसके शरीरको आर्द्र नहीं कर सकता, अग्नि उसके शरीरको जला नहीं सकती, वायु शुष्क या कम्पित नहीं कर सकता इत्यादि। यही सब भूतजयकृत सिद्धियां हैं ॥ ४५ ॥

अब पूर्वसूत्रोक्त कायसम्पत् का वर्णन किया जाता है—

रूप, लावण्य, बल, वज्र-तुल्यदृढ़ता, ये सब काय-सम्पत्तियां हैं ॥ ४६ ॥

भूतोंके जय करनेसे योगी प्रकृतिमुक्त होकर प्रकृतिके जयसे जिस अद्भुत ऐशीशक्ति अर्थात् अन्तःकरणके बलको प्राप्त करता है उसका वर्णन पूर्व्व सूत्रमें भली भांति आ चुका है, अब महर्षि सूत्रकार पंचभूतोंके जय करनेसे योगीको जो शरीरकी विशेष योग्यता आपही आप प्राप्त होती है उसका वर्णन कर रहे हैं। रूप और लावण्यता उसे कहते हैं कि यह स्थूल शरीर ऐसी दिव्य सुन्दरता को धारण करे कि तब उस शरीरके रूपको मधुरतासे सब प्रकारके दर्शक ही मोहित हो जावें; चाहे दर्शक देवता हो चाहे मानव, चाहे पशु हो चाहे और जीव, सब ही उस मूर्त्तिको देखते ही मोहित होजायँ। बलसे यही तात्पर्य्य है कि तब योगी परमबलशाली होजाता है। जब उसके बलसे प्रकृति ही वशीभूत होजाती है तो उस बल की और क्या

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

तुलना हो सकती है। वज्रसंहननत्वसे यही तात्पर्य्य है कि सब शस्त्रोंसे महातीव्र वज्रकी तरह उसका शरीर दृढ़ होजाता है। इस प्रकार योगी तब दिव्यशरीरको प्राप्त होजाता है। पूर्व सूत्रमें जिन सिद्धियोंका वर्णन है उनके प्रादुर्भाव करनेके लिये योगिराजको इच्छा शक्तिका प्रयोग तथा संयम करना होता है; परन्तु इस सूत्रोक्त सिद्धिकी प्राप्तिके लिये वैसा प्रयत्न करना नहीं होता है। जिस योगिराजमें पूर्वकथित सिद्धियोंका अधिकार प्राप्त होता है उसमें इस सूत्रोक्त अधिकार स्वतः ही उपस्थित हो जाता है इसी कारण इस सूत्रका स्वतन्त्र रीतिसे अविर्भाव किया गया है ॥४६॥

सत्ताईसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियोंकी पंच वृत्तियोंमें संयम करनेसे इन्द्रियों का जय होता है ॥ ४७ ॥

सामान्य और विशेष रूपसे शब्दादि जितने विषय हैं, वे बहिर्विषय सब ग्राह्य कहाते हैं; उन ग्राह्य विषयोंमें जो इन्द्रियों की वृत्ति जाती है उस वृत्तिको ग्रहण कहते हैं। किसी रीतिसे विना विचारे विषय जब अकस्मात् गृहीत हो जाते हैं, तब मनका उसमें प्रथम विचार ही स्वरूप-वृत्ति कहाता है। उस अवस्थामें जो अहंकारका सम्बन्ध रहता है, वह अहंकार-मिश्रित भाव अस्मितावृत्ति कहाता है। पुनः बुद्धि द्वारा उस स्वरूपके विचारको अर्थात् जब बुद्धि सत् असत्, सामान्य और विशेषका विचार करने लगती है उस वृत्तिको अन्वय कहते हैं। नाना विषयों को प्रकाश करनेवाली, स्थिति-शील, अहंकारके साथ सब इन्द्रियोंमें व्यापक, बहकी हुई जो वृत्ति है वही पञ्चमवृत्ति अर्थवत्त्ववृत्ति कहाती है। इन इन्द्रियों की पांचों वृत्तियोंमें संयम करके इनको अपने अधीन लेआनेसे इन्द्रियगणका पूर्ण जय होता है; पूर्व जो इन्द्रियजयका विषय आचुका है यह उस रीति पर नहीं है। पूर्व जो वर्णन हुआ है वह इन्द्रियदमन सामान्य है; परंतु अब इस रीति

ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥४७॥

से जो सिद्धि की प्राप्ति होती है वह विलक्षण ही होती है; अर्थात् अब योगीको कोई विषय भी विचलित नहीं कर सकते और वह जितेन्द्रियताकी पूर्णावस्थाको प्राप्त कर लेता है ॥ ४७ ॥

इन्द्रियजयका फल वर्णन किया जाता है—

इन्द्रियजयके अनन्तर मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजय योगीको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

मनकी गतिके समान शरीरकी उत्तमगति प्राप्तिको मनोजवित्व कहते हैं; अर्थात् मनकी तरह शीघ्र ही अनेक योजन व्यवहित देशमें गमन करनेकी शरीरमें सामर्थ्य होनेका नाम मनोजवित्व है। शरीरके सम्बन्धको त्याग करके जो इन्द्रियोंकी वृत्तिका प्राप्त करना है उसको विकरणभाव कहते हैं; अर्थात् जिस देश, काल या विषयोंमें अभिलाषा हो शरीरके विना ही चक्षुरादि इन्द्रियोंके द्वारा गतिप्राप्त होनेको विकरण भाव कहते हैं। इससे योगी एक स्थान पर बैठ कर अन्य दूरवर्त्ती स्थानोंके दृश्यको देख सकता है। प्रकृतिके विकारोंके मूलकारणको जय करनेका नाम प्रधान-जयत्व है जिससे सर्ववशित्व प्राप्त होता है। इस प्रकार मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजय करके योगी पूर्णरूपेण सिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था मधुप्रतीक कहाती है. मधु मीठा होता है और यह सिद्धियां भी मीठी लगती हैं, इस कारण सिद्धि की पूर्णावस्थाका नाम मधुप्रतीक है। पूर्व सूत्रोक्त उन्नत सिद्धि के प्राप्त करनेसे यह सिद्धि स्वतः ही प्राप्त होती है इस कारण इस सिद्धिकी प्राप्तिका उपाय महर्षि सूत्रकारने नहीं कहा है ॥ ४८ ॥

अट्ठाईवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है --

बुद्धि और पुरुषमें पार्थक्यज्ञानसम्पन्न योगीको सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त होता है ॥४९॥

पूर्व्व सूत्रोंमें सिद्धियोंका वर्णन करके अब महर्षि सूत्रकार यह

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च ॥४९॥

वर्णन कर रहे हैं कि क्रमशः अन्तःकरणकी ऐसी स्वच्छ अवस्था होजाती है कि तब आपही आप परमात्माका निर्म्मल प्रकाश उसमें प्रकाशित होने लगता है जिससे योगीको बुद्धिरूपी दृश्य और पुरुषरूपी द्रष्टाके बीचमें जो तात्त्विक भेद है सो स्पष्टतया अनुभव होने लगता है और ऐसी अवस्था प्राप्त होनेसे योगी निखिल भावका स्वामी तथा सकल विषयोंका ज्ञाता बन जाता है। पूर्व वर्णनके अनुसार योगिराज जब यथार्थरूपसे इन्द्रियोंको जय करके इन्द्रियोंका स्वामी बन जाता है, उस दशामें स्वतः ही वह महात्मा बुद्धि और उसके पर पारस्थित पुरुष दोनोंकी पृथक्ताकी अपरोक्षानुभूति करनेमें समर्थ होजाता है। यही परा सिद्धि है। सिद्धि दो प्रकारकी है, यथा—परा और अपरा। विषयसम्बन्धीय सब प्रकारकी उत्तम, मध्य, अधम सिद्धियाँ अपरा सिद्धि कहाती हैं जो मुमुक्षु योगीके लिये हेय हैं और स्वस्वरूप-अनुभवके उपयोगी जो सिद्धि है वह परासिद्धि कहाती है। वैसी परासिद्धिकी उपयोगी जो सिद्धियां हैं वे ही योगिराजके लिये उपादेय हैं। जो कुछ सिद्धियां हैं वे सब ही मार्ग चलनेवाले पथिकके भुलानेवाली पथके दोनों ओरकी उत्तम उत्तम भोग वस्तुएँ हैं। यदि साधक पथिक तीव्र वैराग्यसे युक्त होकर मनकी दृढ़ताके कारण उस भ्रमकारी पथके दोनों ओर बिखरे हुए ऐश्वर्य्योंकी ओर मुंह फेरके भी नहीं देखता है तो वह आपहीआप ऐसे शांतिमय स्थानमें पहुंच जाता है जहां उसकी सब मनोवासनाएँ स्वतःही पूर्ण होजाती हैं और वह भगवद्दर्शन करनेमें समर्थ होजाता है। इस प्रकार जब सत्त्वगुणके प्रभावसे तम और रजोगुण-रूपी मल धुल जाता है तो आपहीआप अन्तःकरण स्वच्छताको प्राप्त हो जाता है और तबही उस अन्तःकरणमें ऋतम्भरा नामक पूर्णज्ञानमय बुद्धिका उदय होता है। मलके कारण ही अन्तःकरण भगवत्साक्षातकार नहीं कर सकता था; जब मल रहा ही नहीं तब अन्तःकरण स्वतःही भगवद्दर्शनमें समर्थ होजाता है। योगीकी इस अवस्थाका नाम विशोक अर्थात शोकरहित अवस्था है ॥ ४९ ॥

विशोक अवस्थाका फल बताया जाता है—

विवेकख्यातिजनित वैराग्यके कारण दोषोंके बीज

नाश होजानेसे कैवल्यकी प्राप्ति होती है ॥ ५० ॥

साधन और वैराग्यरूपी दोनों परोंसे उड़ता हुआ साधक जब विशोक-अवस्थामें पहुँच कर आत्मदर्शन करनेमें समर्थ हो जाता है और तीव्र वैराग्ययुक्त होनेके कारण पथमें कहीं भी नहीं फँसता है तब शनैः शनैः वह भगवत्-साक्षात्कारसे भगवत्-कृपाका अधिकारी होकर मुक्तिरूपी कैवल्यपदमें पहुँच जाता है। जब योगी पूर्व्वोक्त अवस्थाको प्राप्त करके क्लेश रूपी कर्म्मोंसे अलग हो जाता है और पूर्ण-सत्त्व-रूपी अभ्रांत-बुद्धिको प्राप्त करके जीव-अवस्थासे दूसरी अवस्थामें पहुँच जाता है, तब उसका अन्तःकरण संकल्प-विकल्पसे रहित होकर पूर्णानन्दको प्राप्त हो जाता है और तब वह पुनः आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपी त्रितापमें फँसता ही नहीं; तब ही परम कल्याण रूपी कैवल्यपदकी प्राप्ति होती है। साधक तीन प्रकारके हुआ करते हैं, यथा—उत्तम, मध्यम और अधम। अधम साधक वे हैं कि जो साधन-पथमें चलते २ सिद्धियोंको भोग करने लगते हैं; मध्यम-साधक वे हैं कि जो सिद्धियोंको देखते हैं परन्तु भोग नहीं करते और वैराग्य-बुद्धि द्वारा उनसे बचते जाते हैं; परन्तु उत्तम साधक वेही कहाते हैं कि जो सिद्धियोंकी ओर नेत्र फेर कर भी नहीं देखते। इसी कारण पर-वैराग्ययुक्त उत्तम साधक ही मुक्तिपदके यथार्थ अधिकारी हैं इन्हीं को कैवल्यपदकी प्राप्ति शीघ्र हुआ करती है ॥ ५० ॥

समाधि भूमिमें विघ्नोंका वर्णन किया जाता है—

स्थानी अर्थात् उच्चस्थानप्राप्त देवताओंके उपनिमन्त्रण अर्थात् समीप आकर प्रार्थना करनेमें आसक्ति या अभिमान प्रकट न करें क्योंकि इससे पुनरनिष्ट-प्राप्ति हो सकती है ॥ ५१ ॥

योगी चार प्रकारके होते हैं, यथा—कल्पिक, मधुप्रतीक, भूतेन्द्रियजयी और अतिक्रान्तभावनीय। प्रथम जब योगी अष्टांग-

---

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥ ५१ ॥

योगसाधनसे आगे बढ़ने लगते हैं, उस अवस्थाका नाम कल्पिक है, जब ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्राप्त कर लेते हैं तब उनकी अवस्था का नाम मधुप्रतीक है, जब भूतों पर पूर्ण अधिकार हो जाता है तब उनका नाम भूतेन्द्रियजयी है और जब योगकी पूर्णावस्थाको प्राप्त करके कैवल्य-भूमिमें पहुँच जाते हैं, तब उनकी अवस्थाका नाम अतिक्रान्तभावनीय है। इस चौथी अवस्थाकी सात भूमिकाएँ हैं। योगीको विघ्नोंका डर तो प्रथम से ही है, इस कारण विना वैराग्यके साधक चल ही नहीं सक्ता; परन्तु इस चौथी अवस्था की सात भूमियोंमें योगीको और भी विशेष डर है। शास्त्रोंमें ऐसा लेख है कि इस समयमें देवतागण योगीके सम्मुख आ कर नाना प्रकारके दिव्य-पदार्थ, नाना प्रकारकी भोग्य वस्तुएँ, मनोहर स्त्रियां, मनोहर स्थान, मनोहर पदार्थ और अनेक सिद्ध औषधियां आदि प्रदान द्वारा उनको अपनेमें मिलाना चाहते हैं: यदि इस समय योगी फस जाय और अभिमानयुक्त होकर उसी में अपने को कृतकृत्य समझे तो पुनः उसकी अधोगति होती है, नहीं तो पर-वैराग्ययुक्त योगी सातों भूमियोंको अतिक्रम करता हुआ कैवल्यपद को प्राप्त करके मुक्त होजाता है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड चतुर्दश भुवनोंमें विभक्त है। चौदह भुवनोंमेंसे ऊपरके सात लोकोंमें देवताओंका आवास और नीचेके सात लोकोंमें असुरोंका आवास है। असुर भी एक प्रकारके देवता ही हैं। जिस प्रकार चतुर्दश भुवनोंका ब्रह्माण्डके साथ सम्बन्ध है वैसेही प्रत्येक पिण्डके साथ सम्बन्ध है और पञ्चकोष भी मनुष्यपिण्ड और दैवपिण्ड दोनोंमें ही विद्यमान है। अतः जब योगिराज पञ्चकोषों पर आधिपत्य करने लगता है तो प्राणमय आदि कोषों की सहायतासे अपने ही पिण्डमें देवलोकोंका अनुभव करने लगता है। उन्नत योगिराजका अन्तःकरण जब स्वतः ही दैवलोकके साथ सम्बन्धयुक्त होजाता है तो केवल उसीको इस प्रकार दैवीदृष्टिसे नाना भोगप्रदानकारी देवताओंके दर्शन हो सकते हैं। परवैराग्य होने पर वैसे दर्शनकी ओर योगिराजका चित्त नहीं जाता है, यह उन्नत दशा है ॥ ५१ ॥

उन्तीसवीं सिद्धिका वर्णन किया जाता है—

जितने कालमें एक परमाणु पलटा खाता है उसको

क्षण कहते हैं और उसके अविच्छिन्न प्रवाहको क्रम कहते हैं, उनमें संयम करनेसे विवेक अर्थात् अनुभवसिद्ध-ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

द्रव्य जब घटते घटते ऐसी सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त होजाय कि उससे और सूक्ष्म न होसके तो उस अवस्था का नाम परमाणु है; अर्थात् भौतिक-पदार्थके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागको परमाणु कहते हैं। उसी प्रकार कमसे कम कालभागको अर्थात् जिस कालसे कम भागमें काल विभक्त न होसके, उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म कालभागको क्षण कहते हैं। यहां क्षणसे महर्षि सूत्रकारका यही तात्पर्य्य है कि जितने कालमें एक परमाणु पूर्व्वस्थानको त्याग करके अगले स्थानको प्राप्त करता है वही सूक्ष्मातिसूक्ष्म कालकी अवस्था क्षण कहाती है और उन परमाणुओंकी गति अर्थात् प्रवाह का जो रूप है उसको क्रम कहते हैं। क्षण और उसके क्रमका एकत्रित होना असम्भव है, परन्तु क्षणादि व्यवहारवाली बुद्धिही अपनी स्थिरतासे मुहूर्त्त, दिन, रात्रि और वर्ष आदि कालज्ञानकी व्यवस्था करती है; इस कारण यह काल यथार्थमें वस्तु-शून्य द्रव्य है और केवल बुद्धिका परिणाम मात्र है। शब्द-ज्ञानसे ही वह काल सांसारिक मनुष्योंको वस्तुशून्य होने पर भी वस्तुके समान जान पड़ता है; परन्तु योगिगण उसको और ही प्रकारसे देखते हैं। क्रम क्षणसे ही जाना जाता है, उसी को कालज्ञ योगी काल कहते हैं। यथार्थमें काल एकही है, क्योंकि वर्त्तमान क्षणके पूर्व्व-क्षण और उत्तर-क्षण दोनों इस वर्त्तमान क्षणके पूर्व उत्तर भेद ही हैं; अथवा यों कह सकते हैं कि भूतक्षणका परिणाम वर्त्तमान-क्षण है, वर्त्तमान क्षणका परिणाम भविष्यत्-क्षण होगा; इससे तीनों ही एक हैं और एक ही तीनों हैं। इस विचारसे सब काल एकही क्षणका परिणाम है; इस विचारसे ही समस्त ब्रह्मांडोंकी सृष्टि-क्रिया एक ही क्षणका परिणाम है। इस प्रकारकी योग-बुद्धि द्वारा क्षण

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

और क्रममें संयम करके उनके साक्षात् ज्ञान लाभ करनेसे विवेक-रूपी अभ्रान्त, पूर्ण और सर्वव्यापक ज्ञानकी प्राप्ति होती है। इस अभ्रान्त और पूर्णज्ञानके उदय होनेसे सन्देह शब्दका लोप योगीके अन्तःकरणसे होजाता है; अर्थात् तब योगी जिस विषयको देखता है उसका ही यथार्थ और पूर्ण रूप देखलेता है; जहां तक योगी ज्ञान-दृष्टि फैलाता है वहीं तक उसकी अभ्रान्तबुद्धि देशकालसे अपरि-च्छिन्न हो पहुंच जाती है, योगीकी यह अवस्था ही त्रिकालदर्शी अवस्था है ॥ ५२ ॥

विवेक ज्ञानका फल बताया जाता है—

समान पदार्थोंमें जाति लक्षण और देशसे एक दूसरे की भिन्नता निश्चय नहीं होती परन्तु विवेक ज्ञान द्वारा उनका भेद निर्णय होता है ॥ ५३ ॥

पदार्थोंके भेदके हेतु जाति, लक्षण और देश हैं; अर्थात् इन तीनोंसे ही पदार्थोंमें भेद जाना जाता है। कहीं जातिसे भेद जान पड़ता है, जैसे गो और महिष, अर्थात् गो और महिष कहनेसे गोत्व और महिषत्व रूप जाति भेदसे पदार्थोंका भेद समझा गया। कहीं लक्षण भेदसे भेद जान पड़ता है, जैसे दो गौओंमें लक्षण-विभागसे एक गौ कृष्ण और दूसरी रक्त समझी गई; दोनों गौ ही हैं, परन्तु लक्षण भेदसे दो स्वतन्त्र पदार्थों का अनुभव हुआ। और कहीं देशभेदसे वस्तुभेद का अनुभव होता है, जैसे दो पदा-र्थोंमें जाति और लक्षण की एकता पाई जाने पर भी जो अनैक्य हो वह देशसे ही होता है; जैसे समान प्रमाणवाले दो आँवलों का भेद केवल स्थल-विशेषसे होता है; परन्तु एक देशमें जब दो परमाणु एकही जाति और एकही लक्षणयुक्त रहते हैं तब उनमें भेदज्ञान होना कठिन है; किन्तु पूर्व सूत्रमें जो विवेक ज्ञानकी विधि बताई गई है उसीकी सहायतासे जाति, लक्षण और देशके पूर्ण भेदज्ञानकी प्राप्ति होसकती है; अर्थात् इस रीतिसे भेदोंमें संयम

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः॥ ५३ ॥

करनेसे योगी तत्त्वोंके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों को भी पूर्णरूपेण जान सकेगा । सूक्ष्म-तत्त्वोंमें जो ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उसकी विशेष संज्ञा आगे वर्णन की जायगी ॥ ५३ ॥

विवेक ज्ञानकी विशेषता बताई जाती है—

तारक अर्थात् संसारसिन्धुसे तारनेवाला, सकल पदार्थों को सकल प्रकारसे ज्ञापन करने वाला और भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान क्रम को युगपत् विदित करनेवाला विवेकजज्ञान कहलाता है ॥५४॥

तारक उसको कहते हैं जिसके द्वारा जीव संसार सागरसे उत्तीर्ण हो सके। पूर्वोक्त विवेकज ज्ञान द्वारा संसार सिन्धुका सन्तरण होनेके कारण उसको तारक कहा गया है। विवेकज ज्ञानसे निखिल पदार्थ सकल प्रकारसे ज्ञान गोचर होते हैं इसलिये इसको सर्व विषय और सर्वथा विषय कहा गया है। अक्रमका अर्थ यह है कि पूर्वोक्त विवेकज्ञान द्वारा क्रमके विना ही जितने पदार्थोंका कार्य्य जगत्में हो सकता है उन सबको ही योगी पूर्णरूपेण जान सकता है; अर्थात् भूतकालमें जो कुछ हुआ था, वर्त्तमान कालमें जो कुछ हो रहा है और भविष्यत् कालमें जो कुछ होगा, वह सब ही युगपत् योगी जान सकेगा। इसी ज्ञानको प्राप्त करके त्रिकाल-दर्शी महर्षिगण वेदका संग्रह और विभाग कर गये हैं; इसी ज्ञान को प्राप्त करके वे पूज्यपादगण दर्शन, उपवेद, स्मृति, पुराण और तन्त्र आदि नाना शास्त्र अपनी अपनी रीति और लक्ष्यके अनुसार जीवगणके उपकारार्थ प्रणयन कर गये हैं। विवेकज वह पूर्णज्ञान ही निस्सहाय जीवको अपार संसार-सागरसे तार कर भगवत् पदमें पहुँचा देता है; इसकारण उस ज्ञानका नाम तारक है यही परासिद्धि है ॥ ५५ ॥

परम्परा सम्बन्धसे कैवल्यके हेतुभूत संयमोंका निरूपण करके अन्तमें अब साक्षात् रूपसे कैवल्य साधनका वर्णन किया जाता है—

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

बुद्धि और पुरुष दोनों ही जब शुद्धतामें समान हो जाते हैं तब मोक्षपदकी प्राप्ति होती है ॥ ५५ ॥

पूर्वोक्त तारक बुद्धिके प्राप्त करनेसे जिस फलकी प्राप्ति होती है उसका ही वर्णन अब महर्षि सूत्रकार कर रहे हैं। जब सत्त्वगुणके प्रबल प्रवाहसे रजोगुण और तमोगुणका मल पूर्ण-रूपेण धुलजाता है और उनके नाम मात्र भी न रहनेसे बुद्धि पूर्ण निर्मल हो जाती है; तब पुरुषसे भिन्न जो कुछ अधिकार था वह सब ही लयको प्राप्त हो जाता है और तब ही पुरुष अपने यथार्थ रूपको प्राप्त हो जाता है। पुरुषमें जो भोगका अभाव है वही पुरुषकी मुक्त अवस्था है। भोगके अभाव होनेसे पुरुष अब मुक्त होजाता है; इस अवस्थामें द्वैतका भान मात्र भी नहीं रहता, जो कुछ रहता है वह एक ही एक रह जाता है; जब द्वैत नहीं रहा तो विषय का भान भी नहीं रहता; जब विषयनिवृत्ति हो जाती है तो सब क्लेशोंका स्वतःही लय हो जाता है; क्लेशोंका लय होनेसे कर्म्म और कर्म्म-फल भी निवृत्त हो जाते हैं; तब एक मात्र पुरुष ही रह जाते हैं। इस सूत्रमें बुद्धिकी शुद्धि—बुद्धिमेंसे वृत्तिका अभाव है और पुरुष की शुद्धि—पुरुषमें चित्तधर्मके अनारोपद्वारा स्वरूपावस्थान है। इन दोनों शुद्धियोंकी समता हो जानेसे कैवल्यपदकी प्राप्ति होती है। इस विषयको यों भी समझ सकते हैं कि तटस्थ और स्वरूप ज्ञानके अनुसार बुद्धि दो प्रकारकी होती है। जब तक जैव अहंकारका सम्बन्ध रहता है, तब तक ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूपी त्रिपुटि द्वारा अन्तःकरणकी वृत्तियां बनी रहती हैं। योगीके अन्तःकरणमें रज और तमका दमन होकर जितना जितना सत्त्वगुणका विकाश होता जाता है उतना ही त्रिपुटिका विलय होते हुए बुद्धिकी शुद्धि होती जाती है। अन्तमें पूर्ण सत्त्वगुणके उदय हो जानेसे त्रिपुटि का नाश होकर स्वरूपज्ञानका उदय हो जाता है। दूसरी ओर जब तक बुद्धि शुद्ध नहीं थी, जब तक अन्तःकरणकी वृत्तियां पूर्णरूपसे विलीन नहीं हुई थीं तब तक वृत्तियोंके प्रतिबिम्बसे पुरुष स्वस्वरूपको प्राप्त नहीं हो सकता था। योगीकी इस उन्नत

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

दशामें वृत्तियोंके न रहनेसे पुरुषके स्वस्वरूपका यथार्थ प्रकाश हो जाता है। तब द्रष्टा अपने स्वरूपमें अद्वैतभावसे स्थित रहता है। इस दशाको बुद्धिकी शुद्धि भी कह सकते हैं और पुरुषकी शुद्धि भी कह सकते हैं। पुरुषकी इस अवस्थाका नाम कैवल्यपद ही योग-साधनका लक्ष्य है; वही परम पुरुषार्थका चरमफल है। इस कैवल्यपदका विस्तारित विवरण अगले पादमें किया जावेगा। इति शब्द पादसमाप्तिका बोधक है ॥ ५५ ॥

इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे विभूतिपादः।

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिकृत सांख्यप्रवचनसम्बन्धी योग-शास्त्रके विभूतिपादके संस्कृत भाष्यका भाषानुवाद समाप्त हुआ।



कैवल्यपादः ।

प्रथम तीन पादोंमें यथाक्रम समाधिस्वरूप, तदर्थ साधन तथा योगैश्वर्योंका वर्णन करके अब योगके अन्तिम फल कैवल्य प्राप्तिके अर्थ कैवल्यपादका वर्णन किया जाता है; परन्तु जब तक कैवल्ययोग्य चित्त, क्षणिक विज्ञानातिरिक्त आत्मा तथा प्रसंख्यानकी पराकाष्ठा आदि विषयोंका प्रतिपादन न हो तब तक कैवल्यके स्वरूपका यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता है इसलिये इस पादमें इन सबोंका क्रमशः निरूपण किया जाता है—

सिद्धि जन्म से, औषधि से, मंत्र से, तप से और समाधिसे उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

पूर्व्व-पादमें नाना प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन किया गया है; यद्यपि वे योगिगणको मुक्तिपदकी ओर चलते हुए पथमें मिला करती हैं, तत्रच जितने प्रकारोंसे सिद्धियोंकी प्राप्ति हो सक्ती है उनका विस्तारित विवरण अब महर्षि सूत्रकार कर रहे हैं। सिद्धि जन्मसे भी उत्पन्न होती हैं, जैसे परमहंस शुकदेव और महर्षि कपिल आदियोंमें सिद्धि जन्मसे ही उत्पन्न हुई थी। औषधिके द्वारा भी सिद्धि उत्पन्न होती है, जैसे रसायन आदिक औषधियोंसे तांबेका सुवर्ण बना लेना और कल्प आदि औषधियों द्वारा जरा नाश करके दीर्घ आयुवाला बन जाना इत्यादि। मंत्रोंसे भी सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है, जैसे गुटिका-सिद्धि द्वारा आकाश-गमन करना और तान्त्रिक-मंत्र-साधन द्वारा मारण, वशीकरण, उच्चाटन आदि कार्य्य करना इत्यादि। तप द्वारा भी सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है, जैसे तप साधन द्वारा महर्षि विश्वामित्रका क्षत्रियसे ब्राह्मण बन जाना और भक्तप्रधान नन्दिकेश्वरका मनुष्यसे देवता बन जाना इत्यादि और समाधिसे जो सब प्रकारकी सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, उसका

जन्मौषधिमंत्रतपस्समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

विस्तारित विवरण तो तृतीयपादमें आही चुका है। चाहे सिद्धि जन्मसे प्राप्त हो, चाहे औषधिसे हो, चाहे मन्त्रसे हो और चाहे तपसे हो, ये सब सिद्धियां समाधि-सिद्धिसे नीचे हैं और ऐसा भी कह सकते हैं कि उन सबों का पूर्व्व अथवा सहायताकारी साधन समाधि ही है। जन्मसे जो सिद्धि प्राप्त होती है उसका पूर्व्वकारण समाधि-साधन ही होता है, क्योंकि शुकदेव आदिका पूर्व्व-साधन किया हुआ था; इस कारण उन्हें वर्त्तमान जन्ममें सिद्धि स्वतःही प्राप्त हुई थी। उसी प्रकार औषधि आदि द्रव्ययोगसे जो सिद्धि होती है, उससे भी शरीर ऐसा उपयोगी हो जाता है कि जैसा उस सिद्धिके लिये समाधि द्वारा होता। वैसे ही मन्त्र और तप-सिद्धि को भी समझना उचित है; क्योंकि मन्त्र और तपसाधन द्वारा भी शनैः शनैः साधकका शरीर और मन ऐसा उपयोगी हो जाता है जैसा उस क्रियाके लिये समाधि द्वारा होना उचित था। इस विषयमें अन्य शास्त्रोंमें जो प्रमाण मिलते हैं सो ये हैं—

जन्मौषधिपदोपास्तितपोमन्त्रसमाधिभिः ।
संयमेनाऽपि लभ्यन्ते सिद्धयोऽलौकिका द्विजाः ! ॥
अष्टोपायाः प्रधाना हि सन्तीमे सिद्धिलब्धये ।
सन्ति जातिस्मरत्वादिसिद्धयो जन्मसिद्धयः ॥
या सिद्धगुटिका कायकल्पश्चैव रसायनम् ।
अन्या चैवंविधा सिद्धिरोषधी सिद्धिरुच्यते ॥
नैमित्तिक्यश्च या देव-शक्तयो राजशक्तयः ।
अन्याश्चैवंविधाः सर्वाः शक्तयः पदसिद्धयः ॥
उपास्तेः सिद्धयः सन्ति देवतादर्शनादयः ।
यासु सिद्धिषु लब्धासु जायतेऽभ्युदयो ध्रुवम् ॥
षड्वशीकरणादीनि यानि कर्माणि सन्ति च ।
अन्यान्यन्तर्भवन्त्येवं मन्त्रसिद्धौ न संशयः ॥
नैवास्त्येवंविधा सिद्धिर्दैवी वा कापि लौकिकी ।
या संयमसमाधिभ्यां लभ्येत तपसा न वा ॥
चतुर्विधा हि लभ्यन्ते सिद्धयो निश्चितं द्विजाः ! ।
उपायैरष्टभिः प्रोक्तैर्नात्र कार्या विचारणा ॥
अनन्ताः सिद्धयो याश्च लोके मच्छक्तिसंभवाः ।

२८

विभक्तास्सन्ति तास्सर्वाश्चतुर्धैव मया पुरा ॥
तासाञ्च लब्धये नूनमुपाया अष्ट निर्मिता ।
तैरेव ताश्च प्राप्यन्ते निश्चितं विप्रपुङ्गवाः ! ॥
कुर्वाणा लौकिकं कार्यं सन्ति याः सिद्धयोऽखिलाः ।
ता ज्ञेया निखिला विप्रा आधिभौतिकसिद्धयः ॥
या दैवकार्यकारिण्यः सिद्धयः सम्प्रकीर्त्तिताः ।
ता ज्ञेया आधिदैविक्यः सिद्धयो निखिलाः खलु ॥
सिद्धयो ज्ञान-विज्ञान-प्रकाशिन्यश्च या इह ।
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिर्विप्रपुङ्गवाः ! ॥
सहजाख्या तु या सिद्धिर्वर्त्तते विज्ञसत्तमाः ! ।
एताभ्यः सर्वसिद्धिभ्यः सा नितान्तमलौकिकी ॥
ममावतारवृन्देऽसौ स्वत एव प्रकाशते ।
तत्त्वज्ञानैर्महात्मानो मनोनाशेन वै ध्रुवम् ॥
निर्वासनतया चैवोन्मूलयन्तः स्वजीवताम् ।
शिवरूपीभवन्तश्च समाधौ निर्विकल्पके ॥
तिष्ठन्तो यान्ति मय्येव लयमेकान्ततो यदा ।
मदिच्छया तदा तेषु सहजा कर्हिचिद्भवेत् ॥

हे विप्रो ! जन्म, पद, औषधि, मन्त्र, उपासना, तप, संयम और समाधिके द्वारा अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सिद्धि लाभके लिये ये ही आठ उपाय प्रधान हैं। जातिस्मरत्व आदि सिद्धियाँ जन्म सिद्धियाँ हैं। सिद्धगुटिका कायाकल्प रसायन और इस प्रकारकी अन्यान्य सिद्धियाँ औषधिसिद्धियाँ कहाती हैं। राज-शक्ति और नैमित्तिक देवशक्ति और अन्यान्य इस प्रकारकी सब शक्तियाँ पद-सिद्धियाँ कहाती हैं। देवदर्शनादि उपासनासिद्धियाँ कहाती हैं जिनके प्राप्त होने पर अवश्य अभ्युदय होता है। वशीकरणादि षट्-कर्म तथा उसी प्रकारकी और सिद्धियाँ मन्त्रसिद्धिके अन्तर्गत हैं इसमें सन्देह नहीं। तप, संयम और समाधि द्वारा दैवी या लौकिकी ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं जो प्राप्त न हो सके। हे विप्रो ! इन आठ उपायोंके द्वारा चतुर्विधही सिद्धियाँ निश्चय प्राप्त हुआ करती हैं। इसमें विचार न करो। संसारमें मेरी शक्तिसे उत्पन्न जो अनन्त प्रकारकी सिद्धियां हैं, मेरे द्वारा पदलेदीसे वे सब चार श्रेणियोंमें विभक्त

हैं और उनकी प्राप्तिके लिये ही आठ उपाय मैंने विधान किये हैं। हे ब्राह्मणो। उन्हींके द्वारा वे अवश्य प्राप्त होती हैं। हे विप्रो! सब लौकिककार्य-कारिणी सिद्धियोंको आधिभौतिक सिद्धियाँ, दैवकार्यकारिणी सब सिद्धियोंको आधिदैविक सिद्धियाँ और ज्ञान-विज्ञानप्रकाशक सब सिद्धियोंको संसारमें बुधगण आध्यात्मिक सिद्धियाँ कहते हैं। मन्त्रद्रष्टा आपलोगोंकी सिद्धियाँ हे विप्रश्रेष्ठो। इसी सिद्धिके अन्तर्गत हैं इसमें विस्मय न करो। परन्तु हे विप्रवरो! सहजनाम्नी जो सिद्धि है वह इन सब सिद्धियोंसे अत्यन्त अलौकिक है। मेरे अवतारोंमें इस सहज सिद्धिका स्वतः ही अत्यन्त विकाश होता है और महापुरुषगण जब तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाशके द्वारा अपने जीवभावको निश्चय नाश करके ही शिवस्वरूप हो निर्विकल्प समाधिस्थ रहते हुए मुझमेंही एकदम लीन होते हैं तब उनमें मेरी इच्छासे कभी कभी सहज सिद्धिका विकाश हुआ करता है। कुछही हो सिद्धि सिद्धिही है; मुमुक्षुगणको उसपर ध्यान देना उचित नहीं है॥ १॥

यदि जन्मजन्मान्तरमें परिपाकप्राप्त सुकृतिवशात् सिद्धियां प्राप्त होती हैं तो नन्दीश्वरादिकोंका जात्यन्तर परिणाम इसी जन्ममें कैसे हुआ था इस प्रकार आशङ्काके समाधानके लिये कहा जाता है—

शरीर और इन्द्रियोंका दूसरा परिणाम प्रकृतिके अनुप्रवेशके कारण प्राप्त हुआ करता है॥ २॥

जिन सिद्धियोंका विस्तारित विवरण पूर्व्व आचुका है उनमें जो असाधारण परिवर्त्तन होता है यदि उन परिवर्त्तनोंके कारण कोई ऐसा प्रश्न करे कि प्रकृतिमें कैसे उस प्रकारका परिवर्त्तन सम्भव होता है? इस प्रश्नके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि वह सब प्रकृतिके परिणामसेही हुआ करता है; जब प्रकृतिमें परिणाम होगा तो शरीर और इन्द्रियोंमें भी अवश्य होगा। शरीरके

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्॥ २॥

उपादान कारणरूप पञ्चभूत और इन्द्रियोंके उपादान कारणरूप सूक्ष्मतत्त्वके अनुप्रवेश द्वारा एकही जन्ममें अन्य शरीर तथा अन्यजाति प्राप्त होना असम्भव नहीं है। जब एक जन्मसे जन्मान्तरकी प्राप्ति होती है तब एक प्रकृतिसे दूसरी प्रकृतिका परिवर्त्तन हुआही करता है, अर्थात् एक ज़ीव प्रथम जन्ममें मनुष्य था परन्तु अब दूसरे जन्ममें वह देवता हुआ तो उसके इस जन्म-परिवर्त्तनसे मनुष्यप्रकृतिका परिवर्त्तन होकर देव-प्रकृतिमें प्राप्त हो गया; इस कारण जन्म द्वारा प्रकृतिका परिवर्त्तन तो सिद्धही है। जैसे एक प्रकृतिके योगसे दूसरी प्रकृति बदल जाती है, जैसे विषके प्रयोगसे अच्छा शरीर गल कर नाश हो जाता है, उसी प्रकारसे द्रव्ययोगरूप औषधि द्वारा मनुष्य एक प्रकृतिको दूसरी प्रकृतिमें बदलकर सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मन्त्र और तपःसाधन द्वारा प्रकृति पर आधिपत्य करके अथवा समाधिसिद्धि द्वारा प्रकृति पर आधिपत्य करके कैसे एक प्रकृति दूसरी प्रकृतिमें बदली जासकती है इसका प्रमाण सहजही है और इसका विवरण पूर्व्वमें भी बहुत कुछ आचुका है। इस कारण सब प्रकारकी सिद्धियां ही प्रकृतिके द्वारा उसके परिणामसेही उत्पन्न होती हैं और असाधारण परिणाम द्वारा नन्दीश्वरकी तरह एकही जन्ममें जाति या शरीर बदल जाना भी इससे सिद्ध होता है। इस विषयको और भी स्पष्ट करनेके लिये यों समझ सकते हैं कि एक जीव जब जन्मान्तरके कारण मनुष्यसे देवता अथवा क्षत्रियसे ब्राह्मण बनता है तो उस समय उसके कर्मके वेगसे दूसरा शरीर प्राप्त होते समय उसको उसके परिवर्त्तित अवस्थाके अनुसार स्थूल शरीर मिल जाता है; क्योंकि स्थूल शरीर गुणोंका आधार है। जीवकी क्रमोन्नतिका यह क्रम साधारण है। योगी जब सिद्धियोंके द्वारा अपनी प्रकृतिका असाधारण परिवर्त्तन करना चाहता है और एकही जन्ममें मनुष्यसे देवता अथवा क्षत्रियसे ब्राह्मणकी प्रकृति और तदनुसार गुण प्राप्त करना चाहता है तो इसी जन्ममें मानस सृष्टिके सदृश अन्तःकरणके प्रबल वेगसे अपने शरीरके परमाणुओंमें जन्मान्तर प्राप्तिकी तरह परिवर्त्तन करनेमें समर्थ हो जाता है। तब वैसेही प्रकृति और वैसेही गुण स्वतःही प्रकट होजाते हैं॥ २॥

प्रकृतिके आपूरणमें धर्मादि प्रवर्तक हैं या नहीं इस शङ्काके समाधानार्थ कहा जाता है—

प्रकृतियोंका प्रयोजक धर्म्मादि निमित्त नहीं है; आवरणकी निवृत्ति कृषकके समान होती है ॥३॥

पूर्व्व-सूत्रमें यह प्रमाणित होचुका है कि सिद्धि द्वारा जो ऐश्वर्य्य प्राप्त होता है वह सबही प्रकृतिके परिणामसे होता है; अब यदि विचारवान् पुरुषोंमें ऐसा सन्देह उठे कि धर्म्म और अधर्म्मरूप जो निमित्त है प्रकृतिके परिणाममें वे प्रयोजक हो सकते हैं कि नहीं और प्रकृतिसे उनका कैसा सम्बन्ध है और धर्म्म और अधर्म्मरूप कार्य्यसे फल क्या हुआ ? ऐसे प्रश्नोंके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि धर्म्म और अधर्म्म रूप निमित्त प्रकृतियोंका प्रयोजक नहीं है, क्योंकि कार्य्यसे कारण उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसे कोई कृषक किसी ऊँची अथवा नीची क्यारीमें जल लेजाना चाहता है तब वह उस क्यारीकी ऊँचाई अथवा निचाईके अनुसार मेड़ बाँध देता है, तो मेड़ सीधी हो जाने पर क्यारीमें जल आपही आप बहकर पहुँच जाता है; वैसे ही प्रकृतिके आवरणरूप अधर्म्मको जब प्रकृतिके धर्म्म काटकर प्रकृतिके पथको सरल कर देंगे, तब प्रकृति अपने-आपही कार्य्य-उपयोगी परिणामको धारण करके अवस्थानुरूप हो जायगी। अधर्म्मके नाश होनेसे धर्म्मकी सहायता द्वारा प्रकृति परिणामको धारण करती है, इस कारण धर्म्म ही अधर्म्मकी निवृत्तिका कारण हुआ; अर्थात् किसी सिद्धिके प्राप्त करनेमें धर्म्म द्वारा अधर्म्मका नाश होकर प्रकृति सिद्धिके ऐश्वर्य्य प्राप्त करनेके उपयोगी हो गई; इसमें धर्म्मादिक यथार्थमें कारण नहीं हो सकते। धर्म्म अधर्म्म-निवृत्तिका साक्षात् कारण है; परन्तु प्रकृति-परिणामका साक्षात्-कारण नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

अनेक शरीरके साथ अनेक चित्त कैसे प्राप्त होते हैं सो बताया जाता है—

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

चित्त को उत्पन्न करनेवाली केवल अस्मिता है ॥४॥

अब यदि ऐसा प्रश्न हो कि जब योगीको तत्वोंका साक्षात् ज्ञान होजाता है तब कई कर्म्मोंका एकही समय फल भोगनेके लिये यदि वे अपनी सिद्धियोंको प्रकाश करके एकही समयमें अनेक शरीर धारण करनेकी इच्छा करें तो उनका एक अन्तःकरण अनेक अन्तःकरण कैसे होजायगा ? इस प्रश्नके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि केवल अस्मिताही अन्तःकरणके कारणको धारण करके अन्तःकरण उत्पन्न किया करती है; अर्थात् अस्मितासेही प्राणी अन्तःकरणयुक्त होजाता है। इसी कारणसे जैसे एक अग्निशिखा द्वारा अनेक अग्निशिखाएँ उत्पन्न होसकती हैं वैसेही एक अन्तःकरण द्वारा योगबलसे अनेक अन्तःकरण भी होसकते हैं; जब योगी महत्तत्वपर अधिकार जमा लेते हैं तो स्वतःही वे जितने अन्तःकरण चाहें उतने ही अन्तःकरणोंकी भी सृष्टि कर सकते हैं; नाना प्रकारके शरीर धारण करना तो प्रमाणितही था, अब इस सूत्र द्वारा इतना और प्रमाणित हुआ कि अन्तःकरण भी जितने चाहें उतने उत्पन्न कर सकेंगे। सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध, इन तीनों कर्मोंमेंसे प्रारब्ध कर्महो मनुष्यपिण्डका कारण है। इस कारण साधारणतः यही नियम है कि एक पिण्ड अर्थात् एक शरीरके अन्तमें दूसरा शरीर मिलता है; परन्तु योगदर्शनके सिद्धान्तके अनुसार जब योगिराज अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मको दृष्टजन्मवेदनीय कर्मोंमें परिणत कर सकता है तो उसको एकही जन्ममें सञ्चित कर्मोंको प्रारब्ध कर्म बनाकर अनेक शरीर धारण करनेकी योग्यता अवश्यही होती है इसमें सन्देह नहीं। शङ्का इतनीही हो सकती है कि स्थूल शरीर तो बन जायगा परन्तु उसका केन्द्र अन्तःकरण कैसे बनेगा, उसका समाधान इस सूत्रमें किया गया है। आत्मा तो व्यापकही है, केवल स्वतन्त्र स्वतन्त्र अन्तःकरणरूपी आत्माके प्रतिबिम्बधारक यन्त्र यदि बनजायं तो आत्माका अलग अलग प्रतिबिम्ब उनमें प्रतिफलित होकर स्वतन्त्र स्वतन्त्र बनही सकता है। अपने अन्तःकरणमें संयम करके योगी अपने अन्तःकरणकी अस्मिताको यदि कई भागोंमें

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

विभक्त कर दे सके तो स्वतःही उतनेही अन्तःकरण बन जायँगे, उनमें चित्प्रतिबिम्ब अपने आपही अलग अलग पड़ जायगा और इन स्वतन्त्र स्वतन्त्र केन्द्रोंमें सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीरके चलानेके उपयोगी कर्म तो अदृष्टजन्मवेदनीयसे खिंचकर दृष्टजन्मवेदनीयमें पहुंच ही जायंगे; अस्तु अस्मिताके द्वारा अलग अलग कारण शरीर बनना भी सिद्ध हुआ ॥ ४ ॥

अनेक चित्तोंमें अनेक अभिप्रायोंके होनेसे व्यवहार कैसा होगा इसके लिये कहते हैं—

प्रवृत्तिके भेदसे एकही चित्त अनेक चित्तोंका प्रयोजक होता है ॥ ५ ॥

जब एक योगीकी सिद्धिद्वारा अनेक प्राणी हुए और उन प्राणियोंमें अनेक अन्तःकरण भी हुए; तो यह प्रश्न होसकता है कि उन सब अन्तःकरणोंके कार्य्य करनेके लिये या तो सबमें स्वतन्त्र २ संस्कार हों अथवा योगीही और किसी प्रकारसे उनमें प्रेरणा सम्पादन करता हो ? ऐसे प्रश्नोंके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि नये अन्तःकरणोंमें स्वतन्त्र २ संस्कार तो होना असम्भव है; परन्तु एकही अन्तःकरण अनेक अन्तःकरणोंका प्रयोजक होसकता है; अर्थात् सब अन्तःकरणोंका अधिष्ठाता योगीका अन्तःकरण ही है, तो जैसे योगीकी शक्तिसेही जब अनेक इन्द्रिय, अनेक शरीर और अनेक अन्तःकरण बने वैसेही उसका अन्तःकरण उन और और अन्तःकरणोंमें भी कार्य्य आरम्भ कर सकता है। योगिराज इस दशामें अपनी संयमशक्ति द्वारा अपने कर्माशयसे सञ्चित कर्मका बहुतसा अंश आकर्षण करके प्रारब्धरूपमें परिणत करता है। तत्पश्चात् उस नये आए हुए प्रारब्धकर्मराशिको अपनी इच्छाशक्तिसे स्वतन्त्र स्वतन्त्र शरीरके भोगनेके उपयोगी विभागोंमें विभक्त कर देता है। सुतरां योगिराजका एकही अन्तःकरण वास्तवमें प्रथममें संयमशक्ति और तत्पश्चात् इच्छाशक्तिके प्रयोग द्वारा अपनेही कर्मोंके विभागसे अनेक शरीरोंका प्रयोजक बन सकता है ॥ ५ ॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

परासिद्धिके अधिकारीको प्राप्त समाधिसंस्कृत चित्तका वैलक्षण्य बताया जाता है—

उनमें जो चित्त ध्यानसे उत्पन्न हुआ है वही रागद्वेषसे रहित होसकता है॥ ६॥

संयम धारणाभूमिसे उत्पन्न होता है और एकतत्त्व ध्यानभूमिसे उत्पन्न होता है। सकाम योगी जब अपरा सिद्धियोंमें प्रवृत्त होता है तो धारणासे उत्पन्न हुई धारणाध्यानसमाधिरूपी संयमशक्तिके बलसे अपरा सिद्धियोंकी प्राप्ति करता है; परन्तु जो योगिराज निष्काम और उन्नत होते हैं वे संयमका प्रयोग न करके केवल एकतत्त्वके आश्रय द्वारा ध्यानयोगसे युक्त होकर समाधिकी उन्नत दशाको प्राप्त होते हैं। यही परासिद्धिकी अवस्था है। इस दशामें रागद्वेषका रहना असम्भव है। जो अन्तःकरण समाधि-सिद्धि द्वारा योगयुक्त होजाता है, वह अन्तःकरणही राग-द्वेष आदि वृत्तिसे रहित होसकता है, क्योंकि क्लेशोंके नाश करनेकी शक्ति समाधिमेंही होसकती है। इसकारण योगयुक्त समाधिस्थ अन्तःकरण जब पाप और पुण्यका भान, सुख और दुःखका अनुभव, प्रवृत्ति और निवृत्तिका सम्बन्ध छोड़कर निर्मलताको प्राप्त करलेता है तबही उसमें पूर्वोक्त उन्नत सिद्धियोंका होना सम्भव होसकता है; अर्थात् तबही वे मुक्तयोगी ईश्वर-शक्तिको प्राप्त करके ईश्वरेच्छासे जो चाहे सो कर सकते हैं। वैसे योगिराज, वैसे उन्नत परासिद्धिके अधिकारी जीवन्मुक्त महापुरुषोंमें संयमक्रियासे उत्पन्न अपरासिद्धिकी आवश्यकता नहीं रहती। उनमें यदि कभी कोई सिद्धिका आविर्भाव होता है तो ईश्वरेच्छासे सहज रूपसे होता है। वह दशा एक विलक्षणही है॥ ६॥

चित्तकी तरह कर्मकी भी विशेषता बताई जाती है—

अन्य लोगोंके कर्म्म शुक्लसे लेकर कृष्ण तक तीन प्रकारके होते हैं; परन्तु योगियोंके कर्म्म अशुक्ल अकृष्ण होनेसे विलक्षण ही हैं॥ ७॥

तत्र ध्यानजमनाशयम्॥ ६॥

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥ ७॥

पूर्व्व सूत्रमें समाधिस्थ योगीके अन्तःकरणकी अपूर्वताका वर्णन करके, अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार समाधिस्थ योगीके कर्म्मोंकी अपूर्वताका वर्णन कर रहे हैं। पूर्व्व यह कहही चुके हैं कि यदिच बहुतसी सिद्धियोंकी प्राप्ति जन्म आदि पांच प्रकारसे हुआ करती हैं; परन्तु जो विलक्षणता समाधिस्थयोगीके अन्तःकरणकी होती है वह और और सिद्धियोंमें नहीं होसकती। उसी प्रकार अब यह प्रमाणित किया जाता है कि जिस प्रकारके कर्म्म और और जीवगण करते हैं उस प्रकारसे परासिद्धिप्राप्त समाधिस्थ योगिगण नहीं करते, उनका कर्म्म कुछ विलक्षणही होता है। सत्त्व, रज और तम, त्रिगुणके भेदसे साधारण जीवोंसे कर्म्म तीन प्रकारके हुआ करते हैं, यथा—शुक्ल, मिश्रित और कृष्ण; सात्त्विक मनुष्य अर्थात् पुण्यात्मागणके कर्म्म शुक्लकर्म्म, राजसिक अर्थात् मध्यवर्त्ती मनुष्यगणके कर्म्म मिश्रितकर्म्म और तामसिक अर्थात् अधम-मनुष्यगणके कर्म्म कृष्णकर्म्म कहाते हैं। इसी त्रिविध गुण-विचारसे लोकादिकी भी सृष्टि हुई है, यथा—शुक्ल-कर्म्मविशिष्ट ऊर्द्ध्वलोक, मिश्रित-कर्म्म-विशिष्ट मृत्युलोक और कृष्ण-कर्मविशिष्ट अधोलोक है। यह जो कर्म्मोंका विभाग है वह गुण-भेदसेही हुआ करता है और वासनासेही संस्कारोंकी स्थिति होकर उनकी उत्पत्ति और स्थिति हुआ करती है; परन्तु योगिगणमें ऐसा नहीं होता, जब समाधि-साधन द्वारा उनका अन्तःकरण निर्मल होजाता है तो वासना-रहित होनेसे इन त्रिविध कर्म्मोंका नाममात्र भी नहीं रहता और उनके कर्म्मोंकी एक विलक्षण अवस्था होजाती है। अस्मितासेही अन्तःकरणमें संस्कारोंका संग्रह हुआ करता है; अर्थात् अस्मिताके कारणही जीवगण शरीर और अन्तःकरण आदिको अपनाही जानते हैं इसकारण उनके किये हुए सब कर्म्मोंका संस्कार उनके चित्तों पर रहजाता है, यही त्रिविध-कर्म्म की सृष्टिका कारण है; परन्तु समाधिस्थ जीवन्मुक्त महात्मागणमें ऐसा नहीं होता; अस्मिताके नाशसे उनका अन्तःकरण नपुंसकता को प्राप्त हो जाता है और पुनः उनमें वासनाका नाश होजानेसे संस्कार संग्रह ही नहीं हो सकते। समाधिस्थ महात्मागण सब कुछ करते हैं परन्तु उनके कर्म्म दग्ध-बीज की नाईं अङ्कुरोत्पत्तिके उप-

योगी नहीं रहते; अर्थात् वे भी कर्म्म करते हैं परन्तु संस्कारावद्ध होनेके कारण जैसे सब सबीज-कर्म्म जीवके पीछे लग जाते हैं वैसे ही इनके निर्बीज-कर्म्म होनेके कारण कर्म्मसमूह इन योगियोंको आश्रय नहीं कर सकते । श्रीभगवान्‌ने कहा है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म यः ।
सबुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

निष्काम कर्ममें जो कर्मका न होना समझता है और बलपूर्वक कर्म्मके रोकनेसे जो मनमें वासना रहनेके कारण कर्मका होना समझता है वही मनुष्योंमे बुद्धिमान्, युक्त और यथार्थ कर्म करनेवाला है । और भी—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

जो पुरुष योगयुक्त है, जिसका आत्मा विशुद्ध है, जिसने आत्मा और इन्द्रियोंको जीत लिया है और सर्वभूतोंमें एकही आत्माको देखता है वैसा पुरुष कर्म करने पर भी बन्धनको प्राप्त नहीं होता । फलकी इच्छाको त्याग करके सब कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करता हुआ जो योगी काम करता है सो जलस्थित कमल-पत्रकी तरह पाप में लिप्त नहीं होता है । इसीलिये सूत्रमें उनके कर्मको अशुक्ल कहा गया है और उनकी शुद्धबुद्धिके द्वारा तामसिक कर्मका नाममात्र भी न होनेसे उनका कर्म अकृष्ण भी है । भगव-द्विभूतियोंको धारण करने पर महात्मागण भगवद्रूप ही होजाते हैं; जैसे समस्त ब्रह्माण्ड भगवानमें स्थित है । ईश्वरही ब्रह्माण्डके कर्त्ता हैं परन्तु ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड का कर्म्म उनको आश्रय नहीं कर सकते, वैसेही निष्कामी, जितेन्द्रिय, अस्मिताशून्य, जीवन्मुक्त योगिगणका भी उनके किये हुए कोई कर्म्म आश्रय नहीं कर सकते । इस कारण योगिगणका कर्म्म करना कुछ विलक्षणही है; चाहे उनके द्वारा शारीरिक-कर्म्म हो, चाहे आध्यात्मिक, चाहे नाना विभूतियाँ, नाना ऐशी-सिद्धियोंका प्रकाश उनके

द्वारा क्यों न हो परन्तु इस विलक्षणताके कारण वे सब कर्म्म ही उनकी इच्छा-अनिच्छासे अर्थात् वह सबही भगवद् इच्छासे होता हुआ संसारका कल्याण करेगा, किन्तु उनको स्पर्श नहीं कर सकेगा। जैसा कि ईशकोटिके महात्माओंके सम्बन्धमें कहा गया है। इस विषयमें भगवदुक्ति यथा—

त ईशप्रतिमाः सन्तो भगवत्कार्य्यरूपतः।
संरक्ता विश्वकल्याणे सन्तिष्ठन्ते महीतले॥
विश्वमेवं विधैरेव ह्येकमात्रं स्वधाभुजः।
भवत्युपकृतं धन्यं जीवन्मुक्तैर्महात्मभिः॥
सन्ति भागवता एवं भगवद्रूपिणो ध्रुवम्।
तेषां सततयुक्तानां मय्येव पितृपुङ्गवाः॥
चित्ते सर्वज्ञताबीजं भवत्यारोपितं खलु।
मत्कार्यतत्परांस्तांश्च सर्वथा मत्परायणान्॥
देशकालौ न बाधेते कथञ्चित् किल कर्हिचित्।
जीवन्मुक्ताः महात्मान ईशकोटिं समाश्रिताः॥
यत्किञ्चनेह संसारे कार्यं कुर्वन्ति सन्ततम्।
कार्यं ममैव तत्सर्वं कुर्वते पितृपुङ्गवाः॥
यतोऽन्तःकरणं तेषां जैवाहङ्कारवर्जितम्।
पूर्य्यते समदर्शित्वनिरासक्त्यादिभिस्तदा॥
भगवत्कार्यबुद्ध्यैव निरीक्ष्यन्ते निरन्तरम्।
सर्वस्मिन् समये ते च परार्थे केवलं रताः॥

ईशकोटिके जीवन्मुक्त ईश्वर-प्रतिनिधिरूप होकर भगवत्कार्य रूपसे जगत् कल्याणमें रत रहते हैं। केवलमात्र ऐसे ही जीवन्मुक्त महापुरुषोंके उपकारसे उपकृत होकर जगत् धन्य होता है। हेपितृ-गण! इस प्रकारसे भागवतगण भगवद्रूप हो जाते हैं। मुझमें ही सदा युक्त रहनेसे सर्वज्ञता का बीज उनके अन्तःकरणमें आरोपित हो जाता है। सर्वथा मत्परायण और मेरे कार्यमें तत्पर होनेसे देश और काल उनको किसी प्रकार कभी बाधा नहीं दे सकते। ईशकोटि के जीवन्मुक्त इस संसारमें जो कुछ कार्य करते हैं सो मेरा ही कार्य करते हैं, क्योंकि उस समय इनका अन्तःकरण समदर्शिता और निरासक्तिसे पूर्ण होकर जैव अहङ्कारसे रहित हो जाता है। तब वे

सब अवस्थाओंमें भगवान्का कार्य समझ कर केवल परार्थ कार्यमें ही निरन्तर रत देख पड़ते हैं ॥७॥

त्रिविध कर्मोंका फल बताया जाता है—

पूर्वोक्त त्रिविध कर्म्मोंके विपाकके अनुसार वासना प्रकट होती है॥ ८॥

योगियोंके कर्म्मोंकी विलक्षणता कहकर अब इस सूत्रसे महर्षि सूत्रकार कर्म्मोंका कुछ विस्तारित विवरण कर रहे हैं। कर्मकी गतिके अनुसार कर्म तीन प्रकारका है, यथा-सहज, ऐश और जैव। उद्भिज्जादि की स्वाभाविक सृष्टिप्रद सहजकर्म, ऐशशक्तिसे सम्बन्ध-युक्त ऐशकर्म्म और मनुष्यादिसे सम्बन्धयुक्त जैव कर्म कहाता है। जैव कर्मके तीन भेद हैं, यथा-सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध। ये तीनों ही कर्म कृष्ण, शुक्ल और मिश्र रूपसे तीन भागमें विभक्त होते हैं। उन कर्म्मोंमेंसे जिस कर्म्मकी प्रबलता होती है वही कार्य्यकारक होजाता है, अर्थात् यदि शुक्ल-कर्म्म प्रबल हुआ तो उस समयमें मिश्रित और कृष्ण-कर्म्म दबे रहेंगे और शुक्लकर्म्मका ही फल प्रकाशित होता रहेगा। पूर्व्वमें दृष्ट और अदृष्ट कर्म्म-भेदसे दो प्रकारकी कर्म्मकी गतिका वर्णन विस्तारितरूपेण आचुका है। कर्मका बीज संस्कार कहाता है। जैसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे फिर बीज प्रकट होता है और सृष्टिकी धारा चलती है उसी प्रकार कर्मसे संस्कार और संस्कारसे कर्म उत्पन्न होता रहता है। संस्कार-रूपी बीजसे अङ्कुरोत्पत्ति आदिका जो क्रम है उसको विपाक कहते हैं। उस विपाकका क्रम इस प्रकारसे होता है। पहले वासना उत्पन्न होती हैं। उसके बाद प्रवृत्ति होती है। वासना जहां प्रबल नहीं है वहां प्रवृत्ति आगे नहीं बढ़ती है। जहां वासना प्रबल है वहां प्रवृत्ति अग्रसर होती है। स्मृति भी संस्कारसेही उत्पन्न होती है; परन्तु कर्मविपाकसे फल तभी उत्पन्न होता है जब प्रवृत्ति अग्रसर होती है। अदृष्टसे दृष्ट उत्पन्न होने पर यह सब होता है। इसप्रकार सत्त्व, रज और तमोगुणविशिष्ट शुक्ल, मिश्रित और कृष्णकर्म्म

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

नवीन वासना और नवीन कर्म्मोंकी सृष्टि करते हुए आगे बढ़ते रहते हैं; यही वासनारूप कर्मकी अनन्तता है; इसी भूलभुलैयासे निकलना जीवका असम्भव है और निकल जाना ही मुक्ति कहाती है ॥ ८ ॥

शक्तिभेदानुसार संस्कारोदयक्रम बताया जाता है—

जो कर्म्म-वासनाएँ जन्म, देश और कालसे व्यवहित हैं उनका भी क्रमपूर्व्वक उदय हुआ करता है, क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप हैं ॥९॥

यह पूर्व्व ही कह चुके हैं कि कर्म्मकी तीव्रता और मंदताके कारण जिस प्रकार कर्म्म दृष्ट और अदृष्ट हुआ करता है; उसी प्रकार शक्तिभेदके कारण सब कर्म्म ही स्मृति और संस्कार दशाको प्राप्त करेंगे। जो कर्म जीव करता है उसकी स्मृति जीवके चित्तमें बनी रहती है और उसका संस्कार चित्तमें अङ्कित हो जाता है। यद्यपि चित्तका अर्थ इस दर्शनमें अन्तःकरण है परन्तु विशेषरूपसे अन्तःकरणके उसी विभागको चित्त कहते हैं जहां संस्काररूपी बीज जमा रहता है। उस बीजका स्मृतिरूप दृश्य बनता है। वह स्मृतिरूप दृश्य किसी दशामें उदित होता है और किसी दशामें नहीं भी होता है। जैसे बहुत दिनोंकी बात जीव भूल जाता है अथवा जन्मान्तरके कर्मोंकी स्मृति जीवको नहीं रहती है; परन्तु उसके संस्कारका स्थायी रहना अवश्यम्भावी है। यही स्मृति और संस्कारका भेद है और केवल कर्म्मोंके शक्ति-भेद मात्रसे यह अवस्था-भेद हुआ करता है। इस कारण महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि यदिच कर्म्मोंमें जन्म, देश और कालका भेद पड़जाने से वे अलग होजाते हैं; तत्रच उनमें स्मृति और संस्कार-दृष्टिसे ऐक्य रहनेके कारण वे सब अपने क्रमके अनुसार उदय होते ही रहेंगे। इसके उदाहरणमें ऐसा समझना उचित है कि यदि एक जीव गुण-भेदसे शुक्ल अर्थात् देव-शरीर-उपयोगी कर्म्म, मिश्रित अर्थात् मनुष्ययोनि-उपयोगी कर्म्म और कृष्ण अर्थात् पशु आदि योनिउपयोगी कर्म्मसंग्रह

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्य्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

करता हुआ कर्म्मांशयको भरता जाता है और जैसे ऊष्मताके प्रभावसे आकाश-स्थित वायुका तरल-अंश ऊपर और गंभीर-अंश नीचे हो जाता है; वैसे ही कर्म्मकी शक्तिके तारतम्यके कारण कोई कर्म्म प्रबल और कोई कर्म्म दुर्बल होता हुआ, उन कर्म्मोंमें जन्म देश और कालका अन्तर पड़ता जाता है तत्रच संस्कार तीव्र हो अथवा मन्द परन्तु संस्कार ही है, इस कारण वे अपने समय और क्रम पर उदय होते ही रहते हैं। एक जीव के साथ देव-योनिके कुछ कर्म्म, मनुष्य-योनिके कुछ कर्म्म और पशु-योनिके कुछ कर्म्म सभी उपस्थित हैं; परन्तु एक शरीर से दूसरे शरीरके ग्रहणके समय तीव्र-संस्कार होनेके कारण उसको मनुष्य-जन्म मिला और तब उसको मिश्रित कर्म्मोंका ही भोग होने लगा और यदिच इन मिश्रित-कर्म्मोंकी प्रबलताके कारण उस जीवके और और शुक्ल और कृष्ण-कर्म्मोंके साथ इन मिश्रित-कर्म्मोंका जन्म, देश और काल से बहुत ही भेद पड़गया, तत्रच जब कभी इस तरंग-क्रम से पुनः उसको देवता अथवा पशु-शरीर प्राप्त होगा तभी वे छिपे हुए शुक्ल अथवा कृष्ण-कर्म्म अपने अपने क्रम पर उदय होकर फल प्रकाशित करने लगेंगे। इस प्रकार संस्कार से स्मृति और स्मृतिसे संस्कार और स्मृतिके तरंगके अनन्तर संस्कारके तरंग और संस्कारके तरंगके अनन्तर स्मृतिके तरंग उठते हुए जीवको अनादि और अनन्त कर्म्म-समुद्रमें बहाते रहते हैं। यही अनन्तसृष्टि का अनन्त विस्तार है ॥ ९ ॥

क्रमविन्याससिद्धि के लिये वासना का स्वरूप कहा जाता है-

वासना अनादि है; क्योंकि अपने कल्याण की इच्छा नित्य है ॥ १० ॥

यह पूर्व्व ही सिद्ध होचुका है कि जैसे तरङ्गके घातप्रतिघातसे अनन्त तरङ्ग उठते हुए जलाशयको तरङ्ग-समूहसे आच्छादित कर देते हैं और पुनः घातप्रतिघातसे क्रमागत तरंग उठते ही रहते हैं वैसे ही वासनाकी उत्पत्ति होते हुए दृष्ट और अदृष्टकर्म्मोंके घातप्रतिघातसे

तासामनादित्वञ्चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

जीव कर्म्म-स्रोतमें बहता ही रहता है; परन्तु यदि ऐसा प्रश्न उठे कि पूर्व्वापर सम्बन्ध रहनेसे अवश्य ही सबसे प्रथममें जो वासना हुई थीं उस वासना की कौन कारण रूप वासना थी? इसप्रकारके प्रश्नके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि वासना अनादि है, क्योंकि प्रत्येक जीवमें अपनी कल्याण-इच्छारूप वासना स्वाभाविक ही हुआ करती है; इसकारण वासनाका अनादि होना सिद्ध होता है "मैं सर्वदा रहूँ, मेरा कल्याण हो" इसप्रकारकी जो आत्म-आशीर्वादक वासना हुआ करती है, वह मनुष्यसे लेकर पिपीलिका तक और मुमूर्षु वृद्धसे लेकर सद्यःप्रसूत बालक तकमें देखनेमें आती है। यदि विचारा जाय कि ऐसी स्वाभाविक सर्व्वव्यापक वासनाका आदि कारण क्या है तो विचारते विचारते यही पता लगेगा कि यह आत्मआशीर्वादक वासना अनादि ही है। इसकारण वासनाको अनादि समझनेसे पूर्व्व उल्लिखित प्रश्न उठ ही नहीं सकता। कोई कोई बुद्धिमान्‌गण इसी प्रकारसे सृष्टिका आदि कारण अर्थात् क्यों ईश्वरने यह सृष्टि उत्पन्नकी? ऐसा सन्देह उठाया करते हैं। यदि वासना अनादि-सिद्ध होती है तो उन बुद्धिमान्‌गणका भी यह प्रश्न उठ ही नहीं सकता। जैसे दीपक जब घटमें स्थापन किया जाता है तो उसकी ज्योति घटके आकाशको ही प्रकाशित करती है; परन्तु ज्योति व्यापक है इसलिये जब वह घटसे बाहर निकाली जायगी तबही वह फैल जायगी; ऐसे ही अन्तःकरण भी संकोच और विकाशको प्राप्त हुआ करता है। यह योगिगणका ही मत है कि मन अर्थात् अन्तःकरण व्यापक है इस कारण अन्तःकरणकी वासना भी व्यापक है; केवल गतिके प्रभावसे वह संकोच और विकाशको प्राप्त हुआ करती है। जैसे प्रकृति अनादि है वैसे ही वासना अनादि है, जब वासना है तभी संसार है इसी प्रकार प्रकृति और वासनाका अनादित्व सिद्ध होता है ॥ १० ॥

अनादि होनेसे वासनाका अभाव नहीं हो सकता है इस शंकाके निवारणमें कहते हैं—

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके द्वारा वह संगृहीत हुआ करती है और इन सबके अभावसे-

उसका भी अभाव होता है ॥ ११ ॥

पूर्व्व सूत्रसे यह सिद्ध ही होचुका है कि वासना अनादि है; इसकारण यदि ऐसा प्रश्न उठे कि अनादि-वासनाका नाश कैसे हो सकता है ? और जब वासनाका नाश नहीं होगा तो मुक्ति भी होना असम्भव है ? इस प्रकारके प्रश्नोंके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि यदिच वासना मूलकारणसे अनादि है तत्रच वह हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके द्वारा संगृहीत होती हुई आगे बढ़ा करती है; जब यही उसके संग्रहके कारण हैं तो इनके नाशसे उस वासनाका भी नाश हो सक्ता है। जिस प्रकार स्थूल-शरीरमें जो चेतन है वह अजर और अमर है परन्तु चेतनका सम्बन्ध शरीरके साथ और शरीरका सम्बन्ध अन्नके साथ रहनेसे, यदि स्थूल-शरीर अन्नद्वारा पोषण न किया जाय तो वह चेतनयुक्त स्थूल-शरीर मृत्युको प्राप्त हो जावेगा; वैसेही यदिच वासना अनादि है तत्रच हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन द्वारा उसका पोषण होता है, यदि उसके पोषणका कारण निवृत्त होजायगा तो वह आपही नाश को प्राप्त होजायगी। वासना का हेतु अनुभव, अनुभवका हेतु रागादिक और रागादिकोंका हेतु (मूलकारण) अविद्या है; इसी प्रकार वासनाका फल शरीर आदि हुआ करते हैं; स्मृति और संस्कार उस वासनाके आश्रय कहाते हैं और बुद्धिही आलम्बन है; इस प्रकार वासना अनादि और अनन्त होने पर भी वह हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके द्वाराही जीवित रहती है; परन्तु जब समाधि द्वारा वासनाके इस पोषकगणका नाश होजाता है तो उनके विरहसे वह भी नाशको प्राप्त होजाती है। इसप्रकार वासनाके नाशसे कैवल्यकी प्राप्ति हुआ करती है। जैसे अविद्या अनादि और सान्त है वैसे वासना भी अनादि और सान्त है। ज्ञानहीन जीवके लिये अनादि वासना सदा बनी रहती है; परन्तु आत्मज्ञानके उदय होनेसे सूर्यके उदयसे अन्धकारके समान वासनाका नाश हो जाता है। वासनाका नाश होतेही मनका मनस्त्व नष्ट होजाता है। मनके नाशसे चित्तकी वृत्तियां नहीं रहती हैं। वृत्तिसे रहित

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

चित्तमें स्वस्वरूपका उदय होना स्वभावसिद्ध है। यही मुक्ति पद है ॥ ११ ॥

सद्रूपसे विद्यमान वासनाओंका नाश कैसे होसकता है इस शंकाके समाधानार्थ कहा जाता है—

भूत भविष्यत् धर्म धर्मीके स्वरूपसे सूक्ष्मरूपमें रहता है क्योंकि धर्मके अतीत, अनागत और वर्तमानरूप काल या अवस्था भेद हैं ॥ १२ ॥

अब यदि ऐसा प्रश्न हो कि वासना और वासना-फल जो कार्य्य-कारण-भावसे रहनेवाले हैं और भिन्न भिन्न हैं वे कैसे एक हो सकते हैं ? अर्थात् अन्तःकरण जब प्रतिक्षण वासनाकी उत्पत्ति और लयसे विनष्ट होता रहता है तो उसका एकही बना रहना कैसे सम्भव है ? अथवा जब भूत वासना और भविष्यत् वासनामें कार्य्य-कारण-भाव सदा बना रहता है तो एकदमसे वासनाका नाश होकर मुक्ति होना कैसे सम्भव है ? इसप्रकारके प्रश्नोंके उत्तरमें महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल गुणसे भिन्न भिन्न हैं, नहीं तो काल एक ही है और जिस अन्तःकरणमें वह काल प्रकाशित होता है वह अन्तःकरण भी एकही है और मोक्ष पर्यन्त वह एकही बना रहता है। गुण-भेद मिटजानेसे भविष्यत् और वर्त्तमान काल भूतकालमें रहजाते हैं और तभी मुक्तिपदका उदय होता है; क्योंकि तत्त्वज्ञान द्वारा वासनाका नाश हो जानेसे जब वर्त्तमान काल और भविष्यत् कालके लिये कोई इच्छा योगीके अन्तःकरणमें उत्पन्नही नहीं होगी तो तत्त्वतः वर्त्तमान और भविष्यत्काल भूतमेंही लयको प्राप्त होगया ऐसा समझना होगा। काल आकाशके समान निर्लिप्त पदार्थ है। जैसे अन्य तत्त्वोंके सम्बन्धसे आकाश नीलवर्णसा दिखाई देता है; परन्तु तत्त्वतः वह रङ्गसे रहित है, उसी प्रकार धर्म्मद्वारा तीनों काल अलग अलग दिखाई देते हैं, तत्त्वतः वे एक ही हैं। उस समय धर्म्मका अभाव हो

अतीतानागतस्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

जानेसे तीनों एकही होजाते हैं। बीते हुए कालको भूतकाल कहते हैं अर्थात् जिसका अनुभव होचुका है, वर्त्तमान-काल उसे कहते हैं कि जो अपनी क्रिया कर रहा है और अनागत-कालको ही भविष्यत्‌काल कहते हैं। इन तीनों वस्तुओंके ज्ञानमें प्रथम ज्ञेय है, अर्थात् विना काल-ज्ञानके किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता; परन्तु विचारनेसे ऐसा अनुभव होता है कि गुणी कोई अपूर्व्व गुणकी उत्पत्ति नहीं करता, एकही गुणमें अनेक गुण प्रकाशित हुआ करते हैं, और इसी प्रकार भूतकालका गुण वर्त्तमानकालमें और वर्त्तमामानकालका गुण भविष्यत् कालमें प्रकाशित होजाता है। इस सिद्धान्तसे यही तात्पर्य्य है कि प्रत्येक-काल प्रत्येक-कालमें उपस्थित है। अन्तःकरण कालभेदसे गुणभेदको तबही अनुभव करता है जब कारणसे कार्य्यकी उत्पत्ति होती है; परन्तु यह अवस्था-भेद और कुछ भी नहीं है किन्तु केवल भविष्यत्‌को भूतकालका परिणाम समझना उचित है। यदि समाधि-साधन द्वारा ऐसा हो कि यह परिणाम हुआही न करे अर्थात् वर्त्तमान और भविष्यत्‌काल भूतकालमेंही लय होजाया करें, तो जैसे दग्ध-बीज अङ्कुरोत्पत्तिके उपयोगी नहीं रहते, वैसेही वासनासे वासना उत्पन्न करनेकी शक्ति तत्त्वज्ञान द्वारा गत वासनामें ही लय हो रहेगी। इन परिणामक्रमोंसे यही सिद्ध हुआ कि मोक्ष-पर्य्यंत धर्म्मी धर्म्मके नानारूपको प्राप्त करने पर भी एकही बना रहता है; अर्थात् अन्तःकरण यदिच नानावृत्तियोंको धारण करता रहता है तत्रच कार्य्य-कारण-भावसे मोक्ष-अवस्थाकी प्राप्तिपर्य्यंत वह एकही बना रहता है और यह भी सिद्ध हुआ कि वह गुण-विकार-रहित होजानेसे कालविकारसे भी रहित होजाता है यही मनोनाशकी दशा कहाती है; अर्थात् जब भूतकालही वर्त्तमान और भविष्यत्‌कालका उत्पादक है तो चित्त-विमुक्ति-अवस्थामें जब भूतकालसे वासनाका परिणाम होगा ही नहीं, तो आपही आप वासनाका पूर्णलय होजायगा। इसी अवस्थामें अन्तःकरण पूर्णरूपेण मुक्त होजाता है और इसी अवस्थासे कैवल्यपद की प्राप्ति होती है॥ १२॥

अब पूर्वोक्त धर्मका स्वरूप कहा जाता है—

धर्मसमूह व्यक्त और सूक्ष्म तथा त्रिगुणात्मक होते हैं ॥ १३ ॥

अब इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकार धर्म्म और धर्म्मीके विस्तृत स्वरूपको वर्णन कर रहे हैं। जिस पदार्थमें जिस सत्ताके न रहनेसे उस पदार्थका अस्तित्व नहीं रहता है उसको धर्म कहते हैं। इस प्रकारसे जड़से लेकर चेतन पर्यन्त और परमाणुसे लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त सबमें ही धर्मकी सत्ता विद्यमान है और सबमें ही धर्म्मकी सत्तासे धर्मीकी सत्ता अनुभूत होती है। रूपान्तरमें धर्माधर्म्मका विराट् स्वरूप भी इसी विज्ञानसे निर्णीत हुआ है; अर्थात् जिस वस्तुकी सत्ता स्थायी रखनेके लिये जो शक्ति कार्यकारी है वही धर्म कहाता है और जो उसकी सत्ताको नष्ट करे वही अधर्म कहाता है। धर्मीके धर्म जब बीजरूपसे रहते हैं तब सूक्ष्म कहाते हैं और जब वृक्षरूपसे विस्तारको प्राप्त होते हैं तब वे व्यक्त कहाते हैं। धर्म्ममें वर्त्तमान तीन मार्गोंका-विस्तारित विवरण पूर्व्व सूत्रमें आही चुका है, पुनः कहा जाता है कि धर्म्म पूर्व्व कही हुई रीतिके अनुसार प्रत्यक्ष और सूक्ष्मभावसे सत्त्व, रज और तमोगुणके साथ उनकेही परिणाम और उनकेही स्वभावको प्राप्त होते रहते हैं क्योंकि सत्त्व, रज और तमोगुणसेही धर्म्मीमें धर्म्म उन सब भावोंके रूपमें ही जो व्यक्त अर्थात् प्रकट और अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म भेदसे प्रकट होते हैं दिखाई दिया करते हैं। जो जिसका अनुगामी होता है वह उसकेही परिणामको प्राप्त होता है, जैसे मिट्टीके संग घटका सम्बन्ध; क्योंकि घट मिट्टीकाही परिणाम है। इस प्रकारसे सत्त्व-रज तमरूपी गुण परिणामसे धर्मका स्वरूप उदय होकर धर्ममें प्रकट रहता है। अस्तु धर्म्मसमूह व्यक्त और सूक्ष्म दो श्रेणीके रूपको धारण करते हुए त्रिगुणात्मक होते हैं ॥ १३ ॥

त्रिगुणपरिणामजन्य होने पर भी वस्तुका एकत्व क्यों है इस शंकाका समाधान किया जाता है—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

परिणाम की एकतासे वस्तुका तत्त्व जाना जाता है ॥ १४ ॥

परासिद्धिप्राप्त योगिराजकी बुद्धिको शुद्ध सत्त्वकी ओर पहुंचाकर एकतत्त्वकी सहायतासे निर्विकल्प समाधिमें पहुंचा देनेके अभिप्रायसे त्रिगुणसे धर्म्मकी एकता और तत्पश्चात् धर्म्मसे धर्मी और धर्मीसे पुरुषके स्वरूपमें पहुंचानेके लिये इस पादका पुरुषार्थ है। पूर्व्व सूत्रमें यह प्रमाणित होचुका है कि सत्त्व-रज और तम, ये तीन गुणही सब कार्य्योंमें कारणरूपसे हुआ करते हैं। अब इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकार यह कह रहे हैं कि यद्यपि गुण तीन हैं तथापि वे एकही अंग आदि भावको परिणाम रूपसे धारण किया करते हैं; अर्थात् कभी सत्त्वगुण अंगी और रज और तमोगुण अंग, कभी रजगुण अंगी और सत्त्व और तमोगुण अंग और कभी तमोगुण अंगी और रज और सत्त्वगुण अंग हुआ करते हैं। ऐसेही सबके परिणामकी एकता है। इससे यही तात्पर्य्य है कि एक गुण कभी स्वतंत्र-रूपसे कार्यकारी नहीं होता, वे तीनों मिलेजुलेही रहा करते हैं, भेद इतनाही है कि जो गुण प्रधान होता है वही अंगी और उस समय और दोनों गुण अंग-रूपसे दबे रहते हैं। इसके उदाहरणमें विचारना उचित है कि जैसे पृथिवीमें यद्यपि और चारों तत्त्व भी मिश्रित हैं तत्रच प्रधानताके कारण पृथिवी, पृथिवी-तत्त्वही है। पुनः विचारिये कि जैसे महत्में सत्त्वगुण प्रधान होनेके कारण रज और तमोगुण दबे रहते हैं, तदनन्तर महत्से अहंकारकी उत्पत्ति होनेपर जब सृष्टिका विस्तार होता है तो रज और तमोगुण क्रमशः प्रधानता को प्राप्त होते हैं तब स्वतः ही सत्त्वगुण दब जाता है; इसी प्रकार तीनों गुण मिलेहुए ही चलते हैं और अपनी २ प्रधानताके कारण स्वतंत्र स्वतंत्र भावको धारण करके स्वतंत्र स्वतंत्र संज्ञाको प्राप्त हुआ करते हैं। इन युक्तियोंसे यही विचारमें आया कि सब ही गुण एक हैं। ये तीन गुणके तीन प्रकारके परिवर्त्तन ही परस्पर सहायक-भावसे एक ही कहे जा सकते हैं क्योंकि इनमें परिणामकी

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

एकता सिद्ध ही है। जब तक गुणकी स्वतंत्र स्वतंत्र सत्तामें बुद्धि फँसी रहती है, तब तक एकतत्त्वके उदयमें सहायता नहीं होती है और न वस्तुका यथार्थ स्वरूप अनुभूत होता है इस कारण गुणपरिणामकी एकतासे ही वस्तुका यथार्थ तत्त्व ज्ञात होता है ॥ १४ ॥

और भी सूक्ष्म राज्यमें लेजानेके लिये वस्तु और ज्ञानकी पृथक्ता बताई जाती है—

वस्तुकी एकता होने पर भी चित्तके भेदसे वस्तु और ज्ञानका पथ भिन्न है ॥१५॥

वस्तुओंमें एकता होने पर भी अन्तःकरण-भेदके कारण उनमें भेद प्रतीत होने लगता है, यथा—किसी रूपलावण्यवती स्त्रीको देखनेसे कोई तो सुखको प्राप्त होता है, कोई ईर्षा और लोभ आदिके वशीभूत होकर दुःखको अनुभव करता है और कोई विचारयुक्त होकर वैराग्य रूपी निरपेक्ष वृत्तिकी सहायता लेता है। सुन्दरी युवती एकही पदार्थ है परन्तु अन्तःकरण-भेदके कारण भोग-लोलुप कामी उसे सुखका कारण मानता है, उसकी सौत उस स्त्रीको देख कर दुःखको प्राप्त होती है और संन्यासी उसही एक पदार्थको देखकर वैराग्ययुक्त हो उसकी ओर से मुंह फेर लेते हैं। इसी प्रकार से समझना उचित है कि प्रत्येक वस्तुमें अन्तःकरणभेदसे नानात्व प्रतीत हुआ करता है। इसप्रकार एक वस्तुमें नाना प्रकारका भान होना ही सृष्टिकी विलक्षणता है : यदि कार्यभेद न माना जाय तो जगत्की विलक्षणता भी नहीं रह सकती और यदि अन्तःकरण-भेद न माना जाय तो जगत् हेतु-रहित हो जायगा; परन्तु यदि यही बात हो तो विचारनेसे स्वतः ही सिद्ध होगा कि सत्त्व, रज और तमोगुण जैसे विषयमें हैं; अर्थात् जैसे विषय त्रिगुणात्मक है, वैसे ही अन्तःकरण भी त्रिगुणात्मक है, उसको पदार्थका ज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञानके धर्म्मादिक सहायकारी कारण हैं; अर्थात् उस धर्म्मके प्रादुर्भाव और तिरोभावसे अन्तःकरण भी उसी धर्म्मके रूपमें भान होने लगता है। इसी प्रकारसे वस्तुकी एकता होने पर भी अन्तःकरण-भेद होनेके कारण उनके मार्गमें भी भेद पड़जाता

वस्तुसाम्येऽपिचित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पंथाः ॥ १५ ॥

है। पुरुष एक है और प्रकृति भी एक है परन्तु प्रकृति त्रिगुणमयी है; किन्तु प्रकृतिके संगसे पुरुष प्रकृतिके भावको धारण करके अन्तःकरणविशिष्ट धर्म्मी होरहा है। अब प्रकृति त्रिगुणमयी होनेके कारण प्रत्येक अन्तःकरण और अन्तःकरणके वहिर्विषय सबही त्रिगुणमय हैं, इस कारण यदिच पूर्व्व प्रमाणसे वस्तुकी एकता होती है, तत्रच अन्तःकरणभेदके कारण वस्तु और ज्ञानका मार्ग भी विभिन्न अनुभव होने लगता है। पूर्व सूत्रोंमें महर्षि सूत्रकारने धर्मसम्बन्धसे एकतत्त्वकी प्रतिष्ठा की, तत्पश्चात् त्रिगुणमें ऐक्य उत्पन्न करके एकतत्त्वकी प्रतिष्ठा की, अब वस्तुकी एकता सिद्ध करके अन्तःकरणविशिष्ट धर्म्मीके ज्ञानके साथ वस्तुकी पृथक्ता दिखा रहे हैं और इस प्रकारसे एकतत्त्वकी प्रतिष्ठा अन्तर्जगतमें विशेषतर रूपसे करा रहे हैं ॥ १५ ॥

और भी सूक्ष्म राज्यमें एकतत्त्वको पहुँचाया जाता है—

वस्तु एकचित्ततन्त्र नहीं है; क्योंकि ऐसा होनेसे तब चित्तकी विषयान्तरमें आसक्ति या वृतिरहित दशामें प्रमाणरहित वस्तुकी क्या दशा होगी अर्थात् वह वस्तु नाश हो जायगी या पूर्ववत् अवस्था न करेगी ॥ १६ ॥

वृत्तिस्वरूपा दशामें अन्तःकरणमें चिदाभासपूर्ण धर्मी नानात्व भावको धारण किये रहता है। वही नानात्व भावसे पूर्ण अन्तःकरण जलाशयमें तरङ्ग पर तरङ्गोत्थान दशाके समान आलोड़ित और चञ्चल बना रहता है इसी कारण निर्लिप्त, निर्विकार पुरुष का स्वरूप अप्रकाशित रहता है। एकतत्त्व की सहायतासे क्रमशः योगिराज उस नानात्वके विस्तारको योगसाधन द्वारा प्रथमतः यथाक्रम घटाता है। तदनन्तर समाधिभूमिमें पहुंच कर एक तत्त्वको अन्तःकरणके सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म तर राज्यमें पहुंचाता हुआ अन्तमें एक तत्त्व की सर्वाङ्गीण पूर्ण प्रतिष्ठा करके अन्तःकरणको जब ही निर्मल कर लेता है तभी आत्म स्वस्वरूपमें अवस्थित हो

न चैकचित्ततंत्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

जाते हैं। अस्तु निर्विकल्प समाधिकी पूर्णता सम्पादनके अर्थ महर्षि सूत्रकार और भी सूक्ष्मराज्यमें पहुंच कर ज्ञानमें एकतत्वकी प्रतिष्ठा कर रहे हैं। पूर्व्व कथित विज्ञान को और स्पष्ट करनेके अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि बहिर्विषय एक ही अन्तःकरणका विषय है ऐसा भी नहीं कह सक्ते। एक समयमें जब एक अन्तःकरण उस ही विषयको देखता है तो ऐसा भी संभव होसकता है कि दूसरा अन्तःकरण भी उस वस्तु को उसी रीतिसे देखे और जब एक अन्तःकरण उस वस्तुको अनुभव करनेसे रहित होजाता है तब यह भी सम्भव है कि उसके अनन्तर दूसरा अन्तःकरण पुनः उसको अनुभव कर सकता है और यह भी सम्भव है कि एक ही अन्तःकरण उस पदार्थको प्रथम अनुभव करे तत्पश्चात् अनुभवकरनेसे रहित हो जाय औरतदनन्तर पुनः उसको अनुभव करने लगे। इन प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि नतो विषय एक अन्तःकरणका परिणाम है और न ऐसा ही कहा जा सकता है कि विषय अन्तःकरणसे कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है; अर्थात् त्रिगुणात्मक विषय भी स्वतंत्र है और त्रिगुणात्मक अन्तःकरण भी स्वतंत्र है इन दोनोंके सम्बन्धसे जो विलक्षण बोध होता है वही पुरुष का भोग है ज्ञानमें एकतत्व की प्रतिष्ठासे यही अनुभवमें आवेगा कि विषय त्रिगुणात्मक होनेसे अनेक हैं और अन्तःकरण भी अनेक हैं सुतराम् अनेकत्वभानका सम्बन्ध विषय और अन्तःकरणसे ही रहता है। अस्तु पुरुषके भोग का जो सम्बन्ध है वह केवल ज्ञानसे है। सुतरां पुरुषका भोगजन्य जो ज्ञान है वह एक है। ऐसा अनुभव जब योगीको होजाता है तब एकतत्त्व की प्रतिष्ठा ज्ञान तकमें होजाती है ॥ १६ ॥

नित्यज्ञानमय पुरुष की उपलब्धि करानेके अर्थ अन्तःकरण सम्बन्धसे ज्ञानाज्ञानदशाका वर्णन किया जाता है—

ज्ञेय-वस्तु का प्रतिविम्ब पड़नेसे चित्तको ज्ञान और अज्ञान रहता है ॥ १७ ॥

विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ चुम्बक पत्थरके समान होता है और

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

अन्तःकरण को लोहेके समान समझना उचित है। जैसे चुम्बक पत्थरका लोहेसे सम्बन्ध होते ही लोहा खिंचकर चुम्बक पत्थर में मिल जाता है, वैसे ही अन्तःकरणका सम्बन्ध विषयसे होते ही अन्तःकरण विषय की ओर खिंचकर विषयवत् होजाता है। जैसे लाल वस्त्र की ओरसे जब दर्पण का मुंह फिरा रहता है तो वह दर्पण अपनी स्वच्छताको प्राप्त किये रहता है; परन्तु रक्त-वस्त्रके सम्मुख दर्पण रखते ही दर्पण लाल रंगको धारण कर लेता है; वैसे ही अन्तःकरण और विषयके स्वतंत्र स्वतंत्र पदार्थ होनेपर भी अन्तःकरण अविद्याके कारण विषयको देखते ही विषयके रूपको धारण कर लेता है; जैसे रक्त-वर्ण की वस्तु अपना प्रतिबिम्ब डाल कर स्वच्छ दर्पणको लाल रंगका कर डालती है, वैसेही विषय भी स्वच्छ अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित होकर अन्तःकरणको अपने रूप कासा ही कर डालते हैं। जैसे दर्पणके सम्मुख लाल रंग रहनेसे दर्पण लाल हो जाता है और जब तक पुनः उसके सम्मुखसे वह लाल वस्तु हटाकर और कोई रंग की वस्तु न रक्खी जाय तब तक वह दर्पण लाल ही रहेगा और दूसरे रंगको धारण नहीं कर सकेगा वैसेही अन्तःकरण पर जिस विषयका प्रतिबिम्ब पड़ा है अन्तःकरण उस ही विषयको जानता है और उस समयमें जिनका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ रहा है उनको वह नहीं जान सकता है; इसी रीतिसे ज्ञेयरूपी वस्तुके प्रतिबिम्ब होने और न होनेसे अन्तःकरण वस्तु-ज्ञान और वस्तु-अज्ञानको प्राप्त किया करता है। अन्तःकरण व्यापक है और पूर्व्व सूत्रसे यह भी सिद्ध हो चुका है कि विषय अन्तःकरणसे स्वतंत्र हैं; इस कारण यदि ऐसा सन्देह उठे कि अन्तःकरण समस्त विषयोंको एक ही समयमें ग्रहण कर सकता है, तो अब इस सूत्रके विचारसे यह सन्देह नहीं उठ सक्ता क्योंकि अन्तःकरणसे जिस विषयका सम्बन्ध होजाता है अन्तःकरण केवल उस विषयकोही ग्रहण कर सकता है। इस विज्ञानको और रीति से भी इस प्रकार समझ सकते हैं कि पुरुषके प्रकाशसे एक ओर तो अन्तःकरण प्रकाशित रहे और दूसरी ओरसे जब विषयका प्रतिबिम्ब उस अन्तःकरणरूपी प्रकाशित यंत्रमें पड़े तब ही अन्तः करणको विषयका बोध होसकता है; और पुनः उस प्रतिबिम्बका

जो संस्कार अर्थात् दाग रहजाता है वही कर्म्म-संस्कार कहाता है और उस रहे हुए कर्म्म-संस्कारका पुनः अन्तःकरणमें जो अनुभव होता है उसीको स्मृति कहते हैं; परन्तु इतना अवश्य विचारना उचित है कि जब अन्तःकरण सावधान रहेगा और उससे विषयका सम्बन्ध होगा तब ही विषयका अनुभव अन्तःकरणको होसकता है और तब ही संस्कार और स्मृतिका भी उदय होसकता है, नहीं तो कुछ भी नहीं होसकता। इसकारण ज्ञेय वस्तुके प्रतिबिम्बित होने से ही अन्तःकरणमें वस्तुका ज्ञान और प्रतिबिम्बित न होनेसे वस्तुका अज्ञान हुआ करता है। ज्ञानमें एकतत्त्वकी प्रतिष्ठाका स्वरूप पूर्व्व सूत्रमें दिखा कर अन्तःकरणसे पुरुषकी स्वतन्त्रता अर्थात् "यो बुद्धेः परतस्तु सः" इस श्रुतिवचन की चरितार्थताके लिये इस सूत्र द्वारा यह दिखाया गया है कि ज्ञान होना और अज्ञान होना इस प्रकारसे जो द्वन्द्व की दशा है वह अन्तःकरणकी दशा है पुरुषकी स्थिति उससे परे है ॥ १७ ॥

नित्यज्ञानकी स्थिति कहां है सो कहा जाता है—

वृत्तियोंके स्वामी पुरुष सदा परिणामरहित हैं इससे सब कालमें ही चित्तकी वृत्तियां ज्ञात रहती हैं ॥ १८ ॥

पूर्व्व सूत्रोंमें अन्तःकरण और विषयरूप-प्रकृतिके विस्तार का भलीभांति वर्णन करके अब इस सूत्रमें महर्षि सूत्रकार नित्य ज्ञानमय पुरुषका स्वरूप ज्ञानसंबंधसे वर्णन कर रहे हैं, और यह भी दिखारहे हैं कि पुरुष सकल समयमें एकरूप और परिणामरहित है इस कारण ही चंचलस्वभाव अन्तःकरणकी वृत्तियाँ उन्हें ठीक ठीक ज्ञात हुआ करती हैं। यदि विपरीत विचार से ऐसा विचारा जाय कि अन्तःकरणके सदृश अन्तःकरणके स्वामी आत्मा भी परिणामी हैं अर्थात् जैसे विषयके संग और वृत्तियोंके प्रभावसे अन्तःकरण नाना भावोंको धारण करता रहता है वैसे ही यदि आत्मा भी चंचल होते रहते; तो यह निश्चय ही है कि उनकी ज्ञानवृत्तिमें भी फेर पड़ जाता और ऐसा होनेसे चित्तकी वृत्तियाँ

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

यथावत् जानी नहीं जा सकती थीं; परन्तु जब देखनेमें आता है कि अन्तःकरणकी वृत्तियाँ यथावत् ज्ञात होती रहती हैं; तब यह प्रमाणित ही है कि पुरुषमें कोई भी विकार होना सम्भव नहीं; क्योंकि यह अन्तःकरणके स्वामी पुरुषके परिणाम-रहित होनेका कारण है कि जिससे अन्तःकरणकी वृत्तियाँ यथावत् ज्ञात होती हैं। सत्त्वरूपी चैतन्य सदा अपरिणामी और एकरस हैं, उनके नित्य एक-रूप अधिष्ठानसे अन्तरंगमें निर्म्मल-सत्त्व सदा विराजा करता है; क्योंकि नित्य-वस्तुके गुण भी नित्य होते हैं, इसकारण वह सत्त्व-रूपी प्रकाश सदा एकरूप रहनेसे वहां जो कुछ होता रहता है वह भी यथावत् दिखाई दिया करता है। इस विज्ञानको और प्रकार से भी ऐसे समझ सकते हैं कि जब अन्तःकरण प्रकृतिमय है तो अन्तःकरण जड़ ही है, जड़में चेतन-सत्ता हो ही नहीं सकती; पुरुष-रूपी चेतनका ही रूप ज्ञान है, उनके ज्ञान-रूप प्रकाशसे अन्तःकरण जब प्रकाशित होता है तब ही अन्तःकरणमें चेतना आजाती है; वृत्तियां अन्तःकरणकी तरंग हैं और ज्ञान अचंचल सदा एकरूप रहनेवाले पुरुषका प्रकाश है, इस कारण अन्तः-करणके चंचल रहनेपर भी पुरुष सदा अचंचल होनेके कारण अन्तः-करणकी सब वृत्ति-रूपी तरंगें यथावत् दिखाई देती रहती हैं इसकारण यह सिद्ध हुआ कि अपरिणामी एकरूप रहनेवाले पुरुषके प्रभावसेही अन्तःकरण की नाना वृत्तियां यथावत् ज्ञात हुआ करती हैं ॥ १८ ॥

चित्तही स्वाभास और विषयाभास हो सकता है, अतिरिक्त पुरुष माननेकी आवश्यकता क्या है, इस शंकाका समाधान किया जाता है—

चित्त स्व-प्रकाश नहीं है क्योंकि वह दृश्य है ॥ १९ ॥

पूर्व्व सूत्रसे यह तो सिद्ध ही हो चुका है कि सदा अपरि-णामी पुरुष अन्तःकरणसे भिन्नही है; अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार विस्तारित रूपसे कह रहे हैं कि अन्तःकरणमें कोई अपने आप प्रकाश करनेकी शक्ति नहीं है यह पुरुष द्वाराही प्रकाशित

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

होता है और इसकारणही वह पुरुषका दृश्य अर्थात् ज्ञेय है। अन्तःकरणके दो प्रधान अङ्ग हैं, मन और बुद्धि। मेरा मन और मेरी बुद्धि इस समय ठीक है या नहीं है ऐसा विचार जब करनेमें आता है तो यह स्वतःही सिद्ध हुआ कि वैसा विचार करनेवाला मन और बुद्धिसे अर्थात् अन्तःकरणसे स्वतन्त्र है। सुतरां यह निश्चित हुआ कि अन्तःकरण पुरुषका दृश्य है। जैसे इन्द्रियां और तन्मात्रा आदि अन्तःकरणसे जाने जाते हैं इसकारण वे स्वप्रकाश नहीं कहा सकते; वैसेही अन्तःकरण भी पुरुष द्वारा ज्ञात होता है, इस कारण वह भी स्व-प्रकाश नहीं है। जैसे प्रकाश-रहित अग्नि अपने स्वरूपको प्रकाशित नहीं कर सकती, वैसेही अन्तःकरण भी अपने आप प्रकाशित नहीं होसकता। प्रकाश्य और प्रकाशकके संयोगसेही प्रकाश देखा जाता है, स्वरूपमात्रमें प्रकाशक नहीं देखा जाता; पुरुष और अन्तःकरणमें वही प्रकाश्य और प्रकाश सम्बन्ध है। इसका विस्तारित विवरण अगले सूत्रमें किया जायगा ॥ १९ ॥

अपिच—

एक कालमें दोनोंका ज्ञान नहीं होता ॥ २० ॥

एकही क्षणमें अन्तःकरणमें दोप्रकारका ज्ञान होना असम्भव है, क्योंकि एकही समयमें अन्तःकरण और पदार्थ इन दोनोंका बोध नहीं होसकता; या तो विषय-रूपी पदार्थकाही ज्ञान होगा या अपने मनकाही बोध एक समयमें होगा। यदि क्षणवादमता-वलम्बिगण ऐसा कहें कि जो उत्पत्ति है वही क्रिया है और वही कारक है, अर्थात् अन्तःकरण क्षणिक है, तो ऐसे प्रश्नोंके उत्तरमें यह कहा जासकता है कि यदि ऐसा होता तो एक चित्त दूसरे चित्तसे और वह किसी और चित्तसे संग्रहीत होता; परन्तु यदि एक चित्त किसी दूसरे चित्तका प्रकाशक माना जाय तो वह दूसरा चित्त एकही कालमें अपने और पराये चित्तको प्रकाशित करेगा, परन्तु इस सूत्रोक्त युक्तिसे यह असम्भव है; इसकारण

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

ऐसा प्रश्न उठही नहीं सकता। पूर्व्व सूत्रोक्त विचारके दृढ़ करनेके अर्थ और भी विचार कर सकते हैं कि जब पूर्वोक्त व्यापारोंको उत्पन्न करके उनके फल-ज्ञानसे चित्त बहिर्मुख होकर विस्तारित होजाता है उस अवस्थामें जान सकते हैं कि बुद्धिका ज्ञानही सुख अथवा दुःख अनुभवका हेतु है। "मैं इस सुख अथवा अमुक दुःख का भोगनेवाला हूं" इस ज्ञानका दायक बुद्धिमेंका ज्ञान नहीं है; क्योंकि सुख और दुःख परस्परमें अत्यन्त विरोधी हैं और वे एक कालमें अनुभव होही नहीं सकते, परन्तु चित्तकी वृत्तियोंमें सुख और दुःखकी परीक्षा एक-कालमें हुआ करती है इसकारण चित्त अर्थात् अन्तःकरण एक कालमें दो विरुद्ध-धर्म्मवाली वृत्तियोंकी परीक्षा जब नहीं कर सकता था तब यह कैसे हुआ। इसकारण यह और भी प्रमाणित हुआ कि इस विचारका देनेवाला कोई और ही है, अर्थात् अन्तःकरण स्वयं-प्रकाश नहीं है उसको प्रकाश करनेवाला कोई और ही है जिससे इन अवस्था-भेदोंका अनुभव होता है; वह अन्तः-करणके प्रकाशक अन्तःकरणसे भिन्न सचेतन पुरुष हैं। इस सूत्रकथित विचारसे प्रथममें स्वपक्ष और विपक्ष-विचारोंका सिद्धांत करके पुनः अब और भी विचार कर सकते हैं कि अन्तः-करण द्वारा विषयका अनुभव होता है और पुरुषके द्वारा अन्तः-करणका अनुभव होता है; जब कहा गया कि "कमल पुष्प अति सुन्दर है" तब कमल-पुष्पको अन्तः-करणने अनुभव किया और जब कहा कि "मेरा मन आज ठीक नहीं है" तब अन्तः-करणके अनुभवका भान पुरुषकोही हुआ; परन्तु जब देखा जाता है कि यह दोनों प्रकारका भानही स्वतन्त्र स्वतन्त्र है और इन दोनोंका अनुभव एक समयमें नहीं हो सकता तो इससे पुरुषका स्वतन्त्र होनाही निश्चय होता है ॥ २० ॥

इसमें यदि यह शंकाहो कि यद्यपि उसी चित्त द्वारा स्वप्रकाशता नहीं होती तथापि अन्य चित्तद्वारा ग्राह्यता सिद्ध हो सकती है और ऐसा होनेपर पृथक् पुरुष माननेकी आवश्यकता नहीं है इसके समाधानार्थ कहा जाता है—

एक चित्तको चित्तान्तरका दृश्य करके माननेसे वृत्ति-

ज्ञानमें अतिप्रसंग दोष और स्मरण-शक्तिमें सङ्कर दोष होजायगा ॥ २१ ॥

पूर्वोक्त विचारको स्पष्ट करनेके लिये महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि यदि अन्तःकरणको अनेक तथा एकको दूसरेका दृश्य करके माना जाय तो बुद्धिमें अतिप्रसंग दोष और स्मरण-शक्तिमें सङ्कर-दोष होजायगा; इसकारण ऐसा होही नहीं सकता। जब ऐसा कहा जायगा कि एक चित्त दूसरे चित्तसे ग्रहण किया जाता है तो यह सिद्धही है कि इस प्रकार पूर्वापर सम्बन्ध बढ़ जायगा, अर्थात् एक चित्तको दूसरा चित्त ग्रहण करता है, दूसरेको तीसरा करता है और तीसरेको चौथा करता है इत्यादि। जब एक अन्तःकरण दूसरे अन्तःकरणसे ग्रहण किया जाता है ऐसे माना जाय, तो एक बुद्धि भी दूसरी बुद्धिसे गृहीत हुई; इस प्रकार बुद्धिमें अतिप्रसङ्ग-दोष होजावेगा; इसही विचारसे अन्तःकरणकी संख्याका पता लगही नहीं सकता। जब अन्तःकरणका पता नहीं लग सकता तो ज्ञेय और ज्ञाताका कैसे पता लग सकता है; इस प्रकार मानःनेसे स्मृति-शक्तिमें भी विरोध पड़ेगा, और स्मृतिका ठीक ठीक उदय होना असम्भव होजायगा; क्योंकि जिस विषयका संस्कार नूतनरूपेण एक अन्तःकरणमें रहेगा तब अति-प्रसंग-दोष होनेके कारण एकसे दूसरे स्थान पर उस संस्कारका स्मृति-रूपेण उदय होना सब समयमें असम्भव होगा। जितनी बुद्धि उतने ही अनुभव होनेसे स्मरण-शक्ति आपही नष्ट होजायगी। और दूसरे प्रकारसे भी विचार कर सकते हैं कि रूप और रस आदिकोंका ज्ञान उत्पन्न करनेवाली बुद्धि जब उदय होंगी तब बुद्धिके अनन्त होनेके कारण स्मृति भी अनन्त होगी; जब कि अनेक-बुद्धि और अनेक-स्मृति एक कालमें उत्पन्न होगीं, तब यह परिज्ञात होना असम्भव होगा कि यह स्मृति रस-सम्बन्धिनी है अथवा रूप-सम्बन्धिनी; तो इस अनुभवसे यहांतक विप्लव होनेकी सम्भावना है कि जो अभी एक सत्त्वगुणावलम्बी योगी हैं दूसरे क्षणमें वह घोर तमोगुणाश्रित नास्तिक होजा सकेंगे अर्थात्

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥ २१ ॥

बुद्धिका और स्मृतिका विस्तार बहुत होनेके कारण पूर्व्वापर कुछ भी श्रृंखला नहीं रह सकती अतः एक चित्तको अन्य चित्तका दृश्य मानना विज्ञानविरुद्ध है ॥ २१ ॥

तब बुद्धिका संवेदन कैसे होगा—

चिद्रूप पुरुषका वृत्तिरुप सञ्चार न होने पर भी प्रतिविम्बद्वारेण वृत्तिसारूप्य प्राप्ति होनेसे स्वकीय बुद्धिवृत्तिका ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

पूर्व्व सूत्रोंमें महर्षि सूत्रकार यह सिद्ध करचुके हैं कि बुद्धि स्वयंप्रकाश नहीं है और नाना बुद्धियोंकी कल्पना भी नहीं हो सकती; इसकारण यदि जिज्ञासुगणको सन्देह हो कि ऐसा मानने से विषयसंवेदन कैसे हो सकता है ? तो इस प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर इस सूत्रमें दिया जारहा है। पुरुष चैतन्यरूप हैं और उनकी चैतन्य-सत्तामें कभी भी भेद नहीं पड़ता; जैसे एक गुण जब दूसरे प्रधान-गुणके अंग होते हैं तब उन अंगोमें सङ्कर-भाव अवश्य रहता है; परन्तु वैसे पुरुषके चैतन्य-भावमें भेद हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार प्रकृति चंचलता विकार और विस्तारको प्राप्त हुआ करती है, उस प्रकार चेतन्यरूपी पुरुष नहीं हुआ करते; वे सदा एकरूप चैतन्ययुक्त रहते हैं, इस कारण उनकी चित्शक्तिके सन्मुख जब बुद्धि आजाती है अर्थात् अन्तःकरण स्थिर होनेसे जब बुद्धिमें पुरुष का प्रकाश यथावत् भासमान होने लगता है, तब ही उसको अपने रूपका ज्ञान होजाता है और इसी प्रकारसे संवेदन होता है। इस विज्ञानको ऐसे भी समझ सकते हैं कि भोक्ता अर्थात् पुरुषकी शक्ति परिणाम-रहित है, परन्तु परिणामी और चंचलविषयमें पुरुषकी दृष्टि जानेसे वह चंचल प्रतीत होती है; इसी कारण उस वृत्तिके संयोग प्राप्त होनेसे बुद्धि-वृत्तिकी मलयुक्तताके कारण बुद्धि-वृत्तिसे ज्ञान-वृत्ति भिन्न प्रतीत होती है। बुद्धिसे परे पुरुष हैं अर्थात् बुद्धिसे ही पुरुषका साक्षात् सम्बन्ध है इस प्रकार वेदादि नानाशास्त्रोंमें सिद्ध किया गया है। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

अलंकारकी रीति पर कहा है कि ब्रह्म किसी स्थानविशेषमें बैठे नहीं हैं कि जीव इच्छा करते ही उनको देख लेवेगा; परन्तु केवल बुद्धिकी निर्म्मलतासे ही वे अनुभव किये जाते हैं। जब तक बुद्धि समल रहती है तब तक बुद्धिमें प्रकाशकी न्यूनताके कारण नाना विकार होते हैं; परन्तु अन्तःकरणके ठहरजानेसे जब पुरुषके समीप बुद्धि भी तदाकारको प्राप्त हो जाती है तब बुद्धिको अपने रूपका ज्ञान हो जाता है; अर्थात स्थिरता और निर्मलताके कारण बुद्धि चैतन्य पुरुषके समीप होजाती है, तब उस बुद्धिमें परमात्माका यथार्थ ज्ञान होता है। पूर्व्व सूत्रसे यह प्रमाणित हो चुका है कि अन्तःकरण पुरुषसे भिन्न है; अब इस सूत्रमें अन्तःकरणकी ज्ञान-शक्तिका वर्णन विस्तारित रूपेण किया गया है। पुरुष चैतन्ययुक्त और अपरिवर्तनशील हैं; वे केवल अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित हो कर अन्तःकरणको चैतन्ययुक्त अर्थात् प्रकाशित किया करते हैं, उसही शक्तिसे अन्तःकरण पुनः विषयोंके साथ युक्त हो कर नाना वृत्तियोंको धारण किया करता है। पुरुषके ही प्रतिबिम्बसे प्रकाशित होकर अन्तःकरण-स्थित बुद्धि चैतन्य-युक्त ज्ञान-क्रिया किया करती है। पुरुषके इस प्रतिबिम्बको साधारणरूपेण प्रतिबिम्ब न समझ कर यदि चुम्बक पत्थरकी भाँति आकर्षण-शक्ति-विशिष्ट प्रतिबिम्ब समझा जाय तो विचारनेमें सहायता होगी; अर्थात् जैसे जैसे बुद्धि निर्मल होती जाती है वैसे वैसे ही पुरुष बुद्धिको अपने समीपवर्त्ती करते हुए उसमें अपना रूप विकाशित किया करते हैं॥ २२॥

इस विज्ञानको और भी समझानेके लिये चित्तकी सर्वार्थता प्रतिपादित की जाती है—

द्रष्टा और दृश्यके द्वारा सम्बद्ध होकर चित्त सर्वावभासक होता है॥ २३॥

जैसे स्फटिक अथवा दर्पण जो निर्मल होते हैं वेही प्रतिबिम्ब-को ग्रहण करनेमें समर्थ हुआ करते हैं, वैसेही रज और तमोगुणसे

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥ २३॥

रहित शुद्ध-सत्त्वगुण-युक्त अन्तःकरण होनेके कारण बुद्धि निर्मल होकर प्रतिविम्बको यथार्थ-रूपेण ग्रहण कर सकती है। इससे ऐसा समझना उचित है कि जब रज और तमोगुण शुद्ध-सत्त्वगुणमें लय होजाते हैं तब निर्वात प्रदीपकी भांति अचल-बुद्धि सदा एक-रूप रहकर भगवत्-रूपदर्शनमें समर्थ रहती है और उसकी यह स्थिर-अवस्था मुक्तिपदमें पहुँचने तक बनी रहती है। परन्तु अन्तःकरणकी विपरीत-अवस्था वह है कि जब अन्तःकरण इन्द्रियोंके द्वारा विषयके साथ सम्बन्ध स्थापन करके विषयवत् होजाता है; जैसे स्फटिकमणि लाल रंगके सन्मुख रहनेसे लाल-रंगकीसी प्रतीत होती है, वैसेही अन्तःकरण विषयमें फँसनेसे विषयवत् जड़-रूप प्रतीत हुआ करता है। अन्तःकरणकी एक चेतन-अवस्था वह है कि जब अन्तःकरण शुद्ध होकर भगवद्-दर्शन करता है; यही एकतत्त्वकी अवस्था है जिसका वर्णन पहले अच्छी तरहसे होचुका है। और अन्तःकरण की दूसरी अचेतन अवस्था वह है कि जब अन्तःकरण विषयमें फंसकर जड़ होजाता है। अन्तःकरण एक बीचका स्थान है जिसके एक ओर पुरुष और दूसरी ओर विषय हैं, दोनोंसे सम्बन्ध रखता हुआ अन्तःकरणही सृष्टि-कार्य्यमें ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्यमूलक सकल प्रकारके विषयमें प्रवृत्त रहता है; पितामह ब्रह्मा जैसे चतुर्मुख धारण करके सृष्टि किया करते हैं वैसेही मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, इन चारों अंगोंको धारण करके अन्तःकरण भी सृष्टि-कार्य्यमें लगा रहता है; परन्तु वही अन्तःकरण जब नीचेकी ओर विषयमें फँसता है तब अचेतन हो-जाता है और जब योगसाधन-रूप पुरुषार्थसे ऊपरकी ओर देखकर नीचेके मलसे उपराम होजाता है तबही वह एकतत्त्वकी सहायतासे चेतनयुक्त होकर परमात्माके दर्शनमें समर्थ होता है ॥२३॥

यदि चित्तसेही सकल व्यवहार निष्पन्न हों तो स्वतन्त्र पुरुष स्वीकार करनेकी आवश्यकता क्या है इस शङ्काके समाधानार्थ कहा जाता है—

चित्त असंख्य वासना द्वारा चित्रित होने पर भी दूसरे के अर्थात् पुरुषके भोगापवर्ग निमित्तही है

क्योंकि वह दूसरेसे मिलकरही कार्य्य करता है ॥ २४ ॥

यदिच पूर्व्व सूत्रसे यही सिद्ध हुआ कि अन्तःकरणही सब कुछ किया करता है इससे पुरुषकी आवश्यकतामें यदि जिज्ञासुओंको सन्देह हो, इस कारण इस विज्ञानको और भी स्पष्ट करनेके अर्थ महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। अन्तःकरण संख्यातीत वासनाओंसे युक्त होनेपरभी वह जो कुछ करता है सो सब सेवकके समान दूसरे अर्थात् प्रभुके अर्थही करता है। जब पूर्व्व विचारोंसे यह सिद्ध ही होचुका है कि प्रकृति जो कुछ करती है वह पुरुषके भोगार्थही करती है तब यह निश्चयही है कि अन्तःकरण जो कुछ वासना करता है वह पुरुषके अर्थही करता है; यथार्थतः उस कार्य्यमें उसकी स्वार्थ-परता कुछ भी नहीं है। पूर्व्व विचारसे यह अनुभवमें आ चुका है कि यदिच नाना-रूपधारी अन्तःकरण नाना भोगोंकी उत्पत्ति किया करता है, तत्रच वह जो कुछ कर सकता है वह दूसरेसे मिलकर ही कर सकता है और जो कुछ करता है सो पुरुषके भोगसाधन-के अर्थ ही करता है। अन्तःकरण और कुछ नहीं है केवल पुरुषका भोग साधक ही है। जैसे शय्या आसन आदि पदार्थ गृहस्थके भोग-के अर्थ ही हैं, वैसेही अन्तःकरणका कार्य्यभी पुरुषके भोग-अर्थही है; अन्तःकरण जड़ है वह जो कुछ कार्य्य करता है सो पुरुषके चैतन्यसे युक्त होकर ही करता है, इस कारण उसका जो कुछ कार्य्य है सो अपने प्रभु पुरुषके अर्थ ही है। महर्षि सूत्रकार ने जो "चित्त" शब्दका प्रयोग किया है उससे अन्तःकरणसे ही तात्पर्य है; जैसे महर्षि कपिल ने प्रकृति-शब्दका प्रयोग सांख्यदर्शनमें बहुधा किया है वैसे ही चित्त-शब्दका प्रयोग महर्षि सूत्रकारजी ने इस शास्त्रमें जहाँ तहाँ किया है। वह चित्त अर्थात् अन्तःकरण और कुछ नहीं है केवल वासनाओंका आगार है, वह और कुछ नहीं है केवल पुरुषका भोग-उत्पादक स्थान है, वह और कुछ नहीं है केवल पुरुषरूपी

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

चेतनका प्रतिबिम्बधारक यन्त्र है, वह अन्तःकरण पुरुषके अर्थही है। एकतत्त्वकी सहायतासे बुद्धि तक कैवल्येच्छु योगीको पहुँचानेके अनन्तर पूर्व कई सूत्रोंमें नाना शङ्काओंके समाधान किये गये हैं। स्वरूप-ज्ञानसे युक्त पुरुष बुद्धिसे परे स्थित हैं यह वेदका सिद्धान्त है। अतः बुद्धिराज्यके परपारमें स्थित पुरुषका स्वरूप समझनेसे पहले यदि मुमुक्षु विचलित हो, उस समयमें जिनजिन विचारोंसे विचलित होना सम्भव है उनका समाधान पूर्व सूत्रोंमें किया गया है। पूर्व्व सूत्रोंमें महर्षि सूत्रकार नाना वैज्ञानिक विचारोंका निर्णय, अन्तःकरण और पुरुषका रूप और उभयकी स्वतन्त्रता आदिका विशेष वर्णन करके अब अगले सूत्रोंमें कैवल्यपदरूपी योगके लक्ष्यका विस्तारित वर्णन करेंगे। शुद्ध मुक्त चेतनयुक्त पुरुष यदिच अन्तःकरणसे अलग हैं, तत्रच अन्तःकरणसे सम्बन्ध स्थापन करके अपने आपको अन्तःकरण मानते हुए उस अन्तःकरणको प्रतिबिम्बित किया करते हैं, यही पुरुषके फँसनेका भी कारण है और यदिच अन्तःकरण पुरुषसे स्वतंत्र है तत्रच वह जो कुछ करता है सो पुरुषके भोगके अर्थ ही करता है, इससे यह भी सिद्ध होता है कि पुरुषको फँसानेवाला अन्तःकरण ही है और अन्तःकरण ही विषयके साथ पुरुषका संयोग किया करता है। इन सिद्धान्तोंसे महर्षि सूत्रकारजी ने ऐसा विचार किया है कि जबतक पुरुषका और अन्तःकरणका यथार्थरूप, दोनोंका सम्बन्ध और दोनोंकी स्वतंत्रताका ठीक ठीक जिज्ञासुगणके सन्मुख वर्णन न किया जायगा, तब तक पुरुषकी मुक्त-अवस्था अर्थात् कैवल्यपदका मर्म यथावत् समझमें नहीं आवेगा; इस कारण महर्षिजी पहले उनका विस्तारित वर्णन करके अब अगले सूत्रोंमें कैवल्यपदका विस्तारित वर्णन करेंगे। यदिच इनका विवरण पहले भी कुछ कुछ आचुका था तत्रच कैवल्यपदके विरुद्धमें पुरुषसे उन अवस्थाओंका साक्षात्-सम्बन्ध रहनेसे; उन विघ्नोंका प्रथम वर्णन करके अब योग-साधनके लक्ष्य, मुक्तिरूपी कैवल्यपदका वर्णन होगा; पहले प्रतिकूल अवस्था दिखाकर पीछे से अनुकूल स्वाभाविक अवस्था दिखानेसे वह शीघ्र समझमें आजायगा इस कारण ही पहले उनका विस्तारित रूप दिखाकर अब मुक्तिपदरूपी कैवल्यका रूप दिखाया जायगा ॥ २४ ॥

चित्तपुरुषविवेकशील योगीको क्या होता है सो बताया जाता है—

विशेषदर्शीको शरीर-भावोंकी भावनाकी निवृत्ति हो जाती है ॥ २५ ॥

नाना विषयोंमें बद्ध साधारणदर्शी अर्थात् जीव, विशेषदर्शी अर्थात् एकतत्त्वकी सहायतासे परासिद्धिप्राप्त योगी। साधारण जीवगण जैसा संसारको अनुभव करते हैं वैसा योगि-गण इस असार संसारको नहीं समझते; आत्मदर्शी योगि-गण पूर्व्वकथित रीतिके अनुसार संसारको कुछ और ही देखते हैं; इस कारण वे विशेषदर्शी कहाते हैं। योग-साधन द्वारा अन्तःकरणवृत्ति निर्म्मल होजानेसे जब योगीमें पूर्णज्ञानका उदय होता है तब वे इस ज्ञान पर भलीभांति आरूढ़ होजाते हैं कि "चित्त और पुरुष दोनों स्वतंत्र हैं" इस प्रकारके ज्ञानका उदय होनेसे उनके अन्तःकरणकी मिथ्याशरीरादि-विषयियिणी भावना निवृत्त होजाती है और तब वे अन्तःकरणको यन्त्ररूप और कर्त्ता समझने लगते हैं; इसकारण शनैःशनैः योगिराजकी शरीर-भावना निवृत्त होजाती है। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने कहा है कि जैसे वर्षाऋतुमें नवनीरद-पतित वारिबिन्दुसे जब नवदूर्व्वादल अङ्कुरित होने लगते हैं, उस समय उन दूर्व्वादलों की पुनरुत्पत्तिसे उनकी सत्ता अर्थात् उनके मूल नष्ट न होनेका अनुभव होने लगता है; वैसे ही मोक्षमार्गको समझनेवाले, प्रकृति पुरुषका भेद जानने वाले योगिगणके अन्तर और बहिर्भावोंसे वे पहचाने जाते हैं। प्रकृति पुरुषको स्वतंत्र अनुभव कर लेनेसे उनका देहाध्यास अर्थात् शरीर आदि बहिर्जगत्से सम्बन्ध रहित हो जाता है, संसारको वे तुच्छ और मिथ्या समझते हैं और परमात्माको ही केवल सत्य और नित्य करके जानते हैं; इस कारण परमात्माविषयक-ज्ञानचर्चा और भगवत्-कथा आदि उपासना और भक्ति कार्य्यमें नित्य रुचि और निष्काम जगत्सेवामें स्वाभाविक प्रवृत्ति उनमें देखनेमें आती है। जब महात्मागणमें ऐसा पाया जाय कि उनकी अन्तःकरण की वृत्ति आत्मज्ञान-विचार, तत्त्व-उपदेश, भगवद्-गुणगान और भगवत्-

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

महिमा-प्रचारमें ही सदा लगती है, जब योगिगणमें ऐसा पाया जाय कि मोक्षमार्ग-वर्णन और भगवत्गुण-श्रवण अथवा गान करते करते उनका शरीर रोमांचित होने लगता है, परमानन्दरूपी भगवद्भावके स्मरणमात्रहीसे जब आनन्द-अश्रु उनके नेत्रोंमें बहने लगते हैं; तबही समझना उचित है कि उन महात्मागणमें परमानन्दमय परमात्मा की ज्योति प्रकाशित हुई है; तब ही समझना उचित है कि वे महात्मागण मायाके अधिकारसे बचकर परमेश्वर परब्रह्मके सत् चित् आनन्दमय अधिकारमें पहुँच गये हैं। इस ही अवस्थामें पहुंच कर योगी कैवल्यरूपी मुक्तिपदका अधिकारी होजाता है; इस ही अवस्थामें पूर्णज्ञानके उदयसे योगी जानने लगता है कि "मैं कौन था, कौन होगया था, अब कौन हूं और मुझे कहां पहुंचना है" यही अवस्था योगी की विशेषदर्शन-अवस्था कहाती है, इसी अवस्थामें अविद्यारूपी भ्रमज्ञानका नाश होकर योगी दिव्य-ज्ञानको प्राप्त करके, चित्त-धर्म्मसे उपराम होते हुए कैवल्य-भूमिमें पहुंच जाते हैं; अर्थात् जब योगी जान लेते हैं कि यह पुरुष है और यह अन्तःकरण; तब स्वतः ही उनका अनुराग परमपद की ओर बढ़जाता है, और तब उनकी दृष्टि संसार की ओरसे एकवार ही फिर कर कैवल्यरूपी मुक्तिपद की ओर लगजाती है; परावैराग्यसे अन्तःकरण की वृत्तियां जब उठती ही नहीं तब अन्तःकरण आपही शान्त होजाता है, तब ही पुरुष अपने स्वरूपको प्राप्त होजाते हैं ॥ २५ ॥

उस समय चित्त की क्या दशा होती है?:—

तब उनका चित्त विवेकमार्गप्रवाही होकर कैवल्य की ओर युक्त होनें लगता है ॥ २६ ॥

तब अर्थात् जब योगी विशेष-दर्शी होता है, उस समय ज्ञानपूर्ण चित्त होजानेसे वह विवेकनिम्न अर्थात् विवेकपथवाही होकर कैवल्यप्राग्भार अर्थात् कैवल्यकी ओर ही झुका रहता है। जो चित्त अर्थात् अन्तःकरण उस पूर्व कथित अवस्थासे पहले नाना विषयोंके भारसे भाराक्रान्त होकर डूब रहा था, वह अब

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

विषयके नाश होजानेसे हलका होकर ज्ञानरूप आकर्षणके तेजसे खिचकर कैवल्यपद-रूपी परमात्माकी ओर झुक जाता है। इस विज्ञानको ऐसेभी समझना उचित है कि अन्तःकरणके एक ओर विषय और दूसरी ओर परमात्मा हैं; जबतक अन्तःकरण विषयकी ओर झुका रहता है तब तक उसकी दृष्टि पुरुषसे फिरकर विषयरूपी संसारकी ओरही फँसी रहती है; परन्तु जब अन्तःकरणमें विषय-वासना पूर्णरूपसे मिट जाती है, तब उस विशेषदर्शी योगीका चित्त विषयसे मुख फेरकर कैवल्यपदरूपी परमात्माके स्वरूपकी ओरही अनिमेष होकर निहारने लगता है। तभी चित्त कैवल्य-भोगी कहाता है। श्रीगीतोपनिषद्में कहा है:—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

कैवल्यलक्ष्यमसे युक्त कैवल्यभूमिकी ओर अग्रसर होनेवाले योगीके लिये कर्मही कारण है और योगारूढ़ अर्थात् परासिद्धिप्राप्त योगिराजके लिये समाधिही कारण है। समाधिकी इस उन्नत दशामें तीन अवस्थाएँ होती हैं, यथा-महर्षि अंगिराने कहा है—

तदेवेदम् ।
इदन्तत् ।
तदेवाहम् ।

पहली दशामें जगत्ही ब्रह्म है ऐसा भान होता है, दूसरीं दशामें ब्रह्मही जगत् है ऐसा भान होता है और तीसरी दशामें मैंही सच्चिदेकं ब्रह्म अर्थात् पुरुष हूँ ऐसा भान होता है ॥ २६ ॥

इस अवस्थामें अन्य दशा भी होती है—

योगिके पूर्व संस्कारोंसे इस समाधि-दशामें कभी कभी उसको मिथ्या ज्ञान भी होजाता है ॥ २७ ॥

इस समाधि अर्थात् कैवल्यपदकी प्रथम-अवस्थामें यद्यपि योगी ज्ञानपूर्ण होजाता है तथापि उसकी इस समाधि-दशामें अन्तःकरण

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

में संस्कारके कारण भगवत्-भावना अर्थात् कैवल्य-अनुभवके अतिरिक्त और दूसरे प्रकारके सृष्टिसम्बन्धिमिथ्याज्ञान भी कभी कभी प्रकट हुआ करते हैं। यद्यपि वे सब योग समाधि-विघ्न हैं तत्रच योगीको वे कुछ विशेष हानि नहीं पहुंचा सकते, दग्ध-बीजकी नाईं वे सब संस्कार निस्तेज होजानेके कारण कार्य्यकारी नहीं हो सकते। समाधिमें स्थित पुरुषको नाना पूर्व्व संस्कारोंसे जो क्षणिक मिथ्या ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है, उस अवस्थामें योगी अपने बहिर्लक्षणोंसे बद्ध जीवके सदृश प्रतीत होता है; परन्तु जैसे पक्षीपालनेवालेके हाथमें डोरीसे बंधा हुआ पक्षी आकाशमें उड़ता हुआ भी पीछे उसी हाथपर आकर विश्राम लेता है उसी प्रकार समाधिकी सिद्धिको प्राप्त किये हुए योगीके अन्तःकरणमें पूर्व संस्कारोंसे विषयप्रवृत्ति होनेपर भी दूसरे क्षणमेंही उसकी विषयमुखो गति नष्ट होजाया करती है। इस अवस्थाके विषयमें यदि ऐसा प्रश्न होकि उनके हानका उपाय करनेकी आवश्यकता है या नहीं? तो इस प्रकारके प्रश्नका उत्तर अगले सूत्रमें कहते हैं॥ २७॥

इस अवस्थाका नाश कैसे होगा? :—

इनका नाशभी क्लेशोंके समान कहा है॥ २८॥

जैसे प्रथमपादमें अविद्या आदि क्लेशोंके नाशकाविस्तारितरूपेण वर्णन कर चुके हैं, वैसे ही इस प्रकारकी विषयाकार वृत्तिकी अवस्थाके नाशको भी समझना उचित है। जिस प्रकार बीजके नाशसे क्लेश पुनः उत्पन्न नहीं होते, वैसेही ज्ञानरूपी अग्निसे संस्कारोंका बीज दग्ध होजानेसे वे संस्कार समाधिस्थ-योगीके अन्तःकरणमें पुनः नवीन संस्कार नहीं उत्पन्न कर सकते। निर्विकल्प समाधिभूमिमें आरूढ़ आत्मज्ञानप्राप्त योगिराजके अन्तःकरणमें विद्याका पूर्ण विकाश बना रहनेके कारण उसके पूर्व प्रबल संस्कारोंके बलसे यदि उसमें समय समय पर विषयाकार वृत्ति किसी क्षणमें उत्पन्न भी हो तो उसके अन्तःकरणमें विद्याकी

हानमेषां क्लेशवदुक्तं॥ २८॥

नित्य स्थिति रहनेसे दूसरे क्षणमेंही उस विषयाकार वृत्तिका अपने आपही हान होजाता है इसकारण उससे कोई भयकी सम्भावना नहीं ॥ २८ ॥

तदनन्तर समाधिका उदय होता है—

प्रसंख्यान अर्थात् विवेकज्ञानमें भी अकुसीद अर्थात् इच्छारहित योगीके चित्तमें सर्वथा विवेकख्यातिका प्रकाश रहनेसे उसको जिसमेंसे अपवर्गसाधक अशुक्ल अकृष्णरूप धर्मकी वर्षा हो इस प्रकारकी धर्ममेघ समाधिकी प्राप्ति होती है ॥२९॥

इस प्रकार पूर्व्व कथित रीति पर जब योगी विवेककी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है और परावैराग्यके कारण उस पूर्णज्ञानकी अवस्थामें भी अकुसीद अर्थात् इच्छारहित बना रहता है, तभी पूर्व्व कथित संस्कार-मिश्रित-अवस्था भी पूर्णरूपेण जाती रहती है। और तभी योगी निश्चल, अद्वितीय-भावको प्राप्तकरके ज्ञानरूप होजाता है। इसी अवस्था का नाम महर्षि सूत्रकार ने धर्ममेघ-समाधि रक्खा है; जिस प्रकार मेघ से जलवर्षण होता है उसी प्रकार उस समाधि से भी क्लेशकर्मादि क्षयकारी, अविद्यानाशक और अपवर्गसाधक धर्मकी वर्षा होती है इसलिये इस समाधिको धर्ममेघ समाधि कहा गया है। इसी उन्नत अधिकारके अधिकारियों के लक्षणके विषयमें शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है, यथा—

"तदन्तिके तदा सर्वे धर्ममार्गा भजन्त्यहो।
वात्सल्यं हि यथा पुत्राः पौत्राश्च सन्निधौ पितुः ॥
ममैव ज्ञानिनो भक्ता धर्मं साधारणं किल ।
अधिकर्त्तुं क्षमन्ते वै पूर्णतो नात्र संशयः ॥
मद्भक्ता ज्ञानिनो विज्ञाः ! धर्मज्ञानाब्धिपारगाः ।
सार्द्धं केनापि धर्मेण विरोधं नैव कुर्वते ॥
साधारणे विशेषे च धर्मेऽसाधारणे तथा ।
सम्प्रदायेषु सर्वेषु भक्ता ज्ञानिन एव मे ॥

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्व्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥२९॥

ममैवेच्छास्वरूपिण्या धर्मशक्तेः स्वधाभुजः ! ।
सर्वव्यापकमद्वैतं रूपं नन्वीक्षितुं क्षमाः ॥
संसारेऽत्राभिधीयन्ते श्रीजगद्गुरवो ध्रुवम् ॥

तब उसके निकट सब धर्ममार्ग वैसे ही वात्सल्यको प्राप्त होते हैं जैसे पिताके सम्मुख उसके पुत्र पौत्र वात्सल्यको प्राप्त हुआ करते हैं। मेरे ज्ञानी भक्त ही साधारण धर्मके पूर्णाधिकारी निश्चय ही हो सकते हैं इसमें सन्देह नहीं। हे विज्ञो ! मेरे धर्म्मज्ञानरूप समुद्रके पारगामी ज्ञानी भक्त किसी भी धर्म के साथ विरोध नहीं करते हैं। हे पितरो ! मेरे ज्ञानी भक्त ही विशेष धर्म, साधारण धर्म और असाधारण धर्म्म तथा सब धर्म सम्प्रदायोंमें मेरी ही इच्छा-रूपिणी धर्मशक्तिके एक सर्वव्यापक अद्वैतरूपका दर्शन करनेमें समर्थ होकर इस संसारमें निश्चय ही जगद्गुरु नामसे अभिहित होते हैं। यही समाधि पूर्णज्ञान और सार्व्वभौमरूपी पूर्णधर्म्मका हेतु है; यह भूमि ही कैवल्यपदका द्वार रूप है; यह अवस्था ही परावैराग्यका फल है; इस अवस्थामें और कोई योगविघ्न शेष नहीं रहता है; इस भूमिके अनन्तर ही कैवल्य भूमि है ॥ २९ ॥

तदनन्तर क्या होता है ? :—

तब क्लेश और कर्म्मों की निवृत्ति हो जाती है ॥ ३० ॥

अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार पूर्व्व कथित धर्म्ममेघ-समाधि से जो कुछ फल की प्राप्ति होती है उसका विस्तारित वर्णन कर रहे हैं; अर्थात् इस धर्म्ममेघ-समाधिके लाभ करनेसे पूर्व्व कथित जीवके सब क्लेश और सब कर्म्म स्वतः ही नष्ट होजाते हैं और तब कर्म्म और क्लेशके नाशसे योगी जीवन्-मुक्त होजाता है। क्लेश और कर्म्मका विस्तारित वर्णन, और महात्मागणकी जीवन्-मुक्ति-अवस्थाका विस्तारित विवरण पूर्व्वही भलीभांति आचुका है; इसकारण यहां उनकी पुनरुक्ति नहीं की गई। इस जीवन्-मुक्त अवस्था, को प्राप्त करके योगिगण पूर्ण-रूपेण मायाबन्धनमुक्त होजाते हैं, उस समयमें वे सब कुछ करते हैं परन्तु कुछ भी नहीं करते ॥ ३० ॥

ततः क्लेशकर्म्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

तदनन्तर क्या होता है ? :—

जब आवरण-रूपी सकल मल दूर होजाता है तब अनन्तता प्राप्त उसके अन्तःकरणमें जानने योग्य विषय कम रहजाता है,-अर्थात् नहीं रहता है ॥३१॥

जब समाधिस्थ योगीके सब आवरण अर्थात् मल दूर होजाते हैं तब उसका अन्तःकरण अनन्तज्ञानसे पूर्ण होजाता है। जब रज और तमोगुण शुद्ध-सत्त्वगुणमें पूर्णरूपेण लय हो जाते हैं तब उसके अन्तःकरणमें ज्ञान-विघ्नकारक और कुछ भी नहीं रहता, यही ज्ञानकी अनन्त और पूर्णावस्था है। इस अवस्थामें योगीको जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता, अर्थात् जाननेकी इच्छा ज्ञानकी पूर्णताके कारण लय होजाती है; परन्तु वह योगीकी सर्वज्ञ-अवस्था है, अर्थात् योगी तब जिस ओर दृष्टि फेरे उसी ओर सब कुछ देख सकता है। इन अवस्थाओंका विशेष वर्णन पूर्व्वमें भलीप्रकारसे आचुका है, इसकारण यहां उसकी पुनरुक्ति नहीं कीगई; केवल कैवल्यपादके वर्णन करनेमें जितने विवरणकी आवश्यकता है उतनाही इंगितमात्रसे दिखाया गया है ॥ ३१ ॥

तदनन्तर क्या होता है ?:—

तब कृतार्थ गुणोंके परिणाम-क्रमभी समाप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

ऐसी पूर्व्वोक्त पूर्णज्ञानकी अवस्था जब उदय होती है तब प्रकृतिके सत्त्व, रज और तमोगुणका जो क्रम है वह भी समाप्त होजाता है; अर्थात् बन्धन-अवस्थामें जिस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुण अपने भोगादि प्रयोजनको उत्पन्न करके परिणामसे अनुलोम विलोम भाव द्वारा सृष्टि स्थिति और लयक्रिया किया करते थे, उसप्रकार अब इस मोक्ष-अवस्थामें नहीं रहेगा; एकतत्त्वके पूर्ण उदय द्वारा योगिराजका बुद्धि तत्त्व मनरहित होकर जब उसमें विशुद्धज्ञानका पूर्ण विकाश होजाता है तब वह योगिराज शिवसा

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

युज्यको प्राप्त करके प्रकृतिका द्रष्टा बन जाता है। उस समय प्रकृतिके तीनों गुण उसको फंसानेमें असमर्थ होजाते हैं। प्रत्येक गुणकी उत्पत्ति और विलय और उसका क्रम जब योगिराजकी दृष्टिसे अतीत नहीं होसकते तो वे गुण उक्त महापुरुषको फंसा भी नहीं सकते; अर्थात् इन तीनों गुणोंकी शक्तिकी हीनता और क्रमका लय होकर तब पुरुष त्रिगुण-मुक्त होजाता है। यही पुरुषकी अवस्था प्रकृति-विमुक्त अवस्था कहाती है ॥ ३२ ॥

यह क्रम क्या वस्तु है?:—

क्रम उसे कहते हैं जो कालके सूक्ष्म भागद्वारा निरूपण करने योग्य हो और परिणामके अवसानसे जो जाना जाय ॥ ३३ ॥

पूर्व्व सूत्रार्थको सरल करनेके अर्थ अब महर्षि सूत्रकार क्रमका लक्षण वर्णन कर रहे हैं। अत्यन्त सूक्ष्म-कालको क्षण कहते हैं, उस क्षणके द्वारा जिसका अनुमान होता है; अर्थात् एकके पश्चात् दूसरा क्षण जो ग्रहण किया जाता है उसे क्षणका क्रम कहते हैं। अब इसमें कई शंकाओंका उदय होसकता है, इसकारण उनकी निवृत्ति की जाती है। वर्त्तमान क्षणके पश्चात् जो कालमें परिणाम होता है उस पूर्वापर गतिको क्रम कहते हैं; इससे यदि ऐसी शंका हो कि जैसे वस्त्रका पुरानापन वस्त्रके नाशरूपी परिणाममें नहीं जाना जाता वैसेही क्रमका लक्षण भी युक्ति-विरुद्ध होसकता है। ऐसी शंकाके उत्तरमें कहा जा सकता है कि अनित्य पदार्थके क्रममें जैसी विरुद्धता पड़ती है, वैसी नित्य पदार्थके क्रममें नहीं पड़ती; क्योंकि नित्य पदार्थोंमें नित्यताके कारण क्रम ठीक रीतिसे जाना जा सकता है। उदाहरणकी रीति पर कहा जाता है कि वस्त्रादि नाशवान् पदार्थके नाश होने पर वह मिट्टीके स्वरूपको धारण करता है किन्तु त्रिगुण परिणाम ऐसा नहीं होता है; क्योंकि त्रिगुण परिणाममें एक गुण प्रधान होता है और दूसरे गुण दबे रहते हैं और यथाक्रम उठते दबते रहते हैं। अब इसमें भी शंका हो सकती है कि नित्य पदार्थोंमें

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

जो क्रम है वह नित्य कैसे हो सकता है? इस शंकाका समाधान ऐसे कर सकते हैं कि नित्यता दो प्रकारकी है, एक कूटस्थ-नित्यता और दूसरी परिणाम-नित्यता; कूटस्थ-नित्यता पुरुषकी है और परिणाम नित्यता गुणोंकी है; पुरुषकी नित्यतामें तो विचार ही नहीं है, परन्तु गुणोंकी नित्यतामें इतना विचार है कि जब परिणामसे तत्त्व नष्ट नहीं होते तो उनको नित्य ही समझेंगे, जो कार्य्य वा कारणरूप तत्त्वका नाश न हो वह नित्य ही है। पुनः यह शंका हो सक्ती है कि जो परिणामी-वस्तु है वह कैसे नित्य हो सकती है? इस शंकाके उत्तरमें ऐसा कह सकते हैं कि नित्यता गुणोंमें रहती है और बुद्धि आदिकोंमें अन्तदशासे समझने योग्य क्रम रहता है। प्रकृति नित्या है, केवल साम्यावस्थामें तीनों गुण प्रकृतिमें लय हो कर रहते हैं और प्रकृतिकी वैषम्यावस्थामें तीनों गुण अलग अलग दिखाई देने लगते हैं। पुनः यह भी समझने योग्य है कि अग्निकी दाहिका शक्तिके समान प्रकृतिके साथ गुणोंका रहना अवश्यम्भावी है। केवल तीनों गुणोंमेंसे एक गुणकी प्रबलता होकर सामने आने पर बुद्धि उसीको ग्रहण करती है परंतु नित्य गुणोंमें जो क्रम रहता है उसका अंत होजाता है। गुणोंकी नित्यताके कारण वह परिणाम भी नित्य कहा जा सकता है। कूटस्थ अर्थात् विकार-रहित नित्य-पदार्थोंमें जो क्रम रहता है उनके क्रमकी नित्यतामें तो सन्देह ही नहीं। अब यह शंका हो सकती है कि संसारकी स्थिति और लयसे जो गुणोंमें क्रम रहता है उसकी समाप्ति होती है या नहीं? यह प्रश्न एकदेशीय है इसकारण इसका उत्तर भी एकदेशीय होगा; गुण-क्रमसे सृष्टि, स्थिति, लय क्रमानुसार हुआ ही करते हैं; सृष्टिके पश्चात् स्थिति, स्थितिके पश्चात् लय और लयके पश्चात् पुनः सृष्टिहोती आई है और होती रहेगी; परन्तु सिद्धान्त इतना ही है कि जिनकी विषय-सम्बन्धिनी-तृष्णा नष्ट होगई है वे ज्ञानवान् योगी पुनः उत्पन्न नहीं होंगे, उनके विभागकी त्रिगुणमयी प्रकृति क्रम सहित लय हो जायगी। इन विचारोंसे यदिच बहुतसी शंकाएं दूर होगई तत्रच एक बड़ी शंका यह उठ सकती है कि यदि कूटस्थकी नित्यता और परिणामकी नित्यता दोनों मानी जायँ तो इस संसारको अनन्त कहना उचित है अथवा सान्त; अर्थात् यह त्रिगुणमयी प्रकृति

का खेल, यह सृष्टि-क्रिया नाशवान् है अथवा नित्य है। यदिच यह शंका बहुत ही बड़ी और गहनतर शंका है, और ऐसी शंका जिज्ञासुगण में प्रायः ही उठा करती है और इस शंका से ही नाना मतोंमें विरोध होने लगता है, इस शंकासेही प्रायः मनुष्योंकी बुद्धिमें फेर पड़ने लगता है; तत्रच त्रिकालदर्शी महर्षिगणने कुछ भी नहीं छोड़ा है, जीव के हितार्थ वे सब कुछ कह गये हैं, केवल जो कुछ भूल, जो कुछ समझनेमें फेर और जो कुछ वृथा शंकाएँ उठती हैं वे जीवके अज्ञानसेही उठती हैं; वे अविश्वासी अधिकारिगणके ध्यान-पूर्व्वक शास्त्र न विचारनेसे ही उठती हैं। यदिच इस प्रश्नका विवरण कुछ पूर्व्व भी आचुका है तत्रच शंकासमाधानके अर्थ यह कहा जा सकता है कि कैवल्यपदभोगी मुक्तयोगीके अंशमें संसार की समाप्ति होजाती है, परन्तु साधारण जीवोंके अंशमें उसकी नित्यताही रहती है; जब जीव पुरुषार्थ करके अविद्या-बन्धनसे मुक्त होजाता है तब उसके अंशकी प्रकृति सान्त होकर महाप्रकृति में लय होजाती है; यही प्रकृतिका अन्त होना है; यही संसारका नाश होना कहता है ; परन्तु एक योगीके अंश की प्रकृति यदिच लयको प्राप्त हो जाती है, तत्रच अनन्त-रूपी अनन्त-ब्रह्माण्डके अनन्त जीवों की प्रकृति जैसी की तैसी ही अनन्त रहती है; यही प्रकृति की अनन्तता है, यही महामायारूपिणी महाशक्तिकी नित्यता है। इसी कारण महर्षि अङ्गिराने कहा है—

"अनाद्यनन्ताध्यात्मिकी सृष्टिः"
"प्रकृतेश्च तथात्वम्"
"आधिदैविकाधिभौतिकसृष्टिः सादिसान्ता ।"
"ततो ब्रह्माण्डपिण्डे नश्वरे ।"

ब्रह्मकी प्रकृति अनादि अनन्त होनेके कारण प्रवाहरूपी सृष्टिक्रियामय अनन्त कोटि ब्रह्माण्डलीला अनादि अनन्त है और पिण्ड तथा ब्रह्माण्डात्मक व्यष्टि सृष्टि सादिसान्त है। इस कारण 'प्रत्येक पिण्ड और प्रत्येक ब्रह्माण्ड का आदि अन्त है। इस कारण यह भी कहना यथार्थ है कि संसार अनन्त है और यह भी कहना यथार्थ है कि संसार सान्त है; इस गंभीर विचारसे सृष्टिकी नित्यता और अनित्यता दोनों ही स्पष्ट

रूपेण सिद्ध हुई। अथवा ऐसा भी कहसक्ते हैं कि इस विचारसे संसारको सान्त और अनन्त दोनोंही नहीं कह सक्ते और ऐसेही विचारसे सृष्टिको आदि अथवा अनादि समझनेमें कठिनता भी पड़ती है; अर्थात् क्षणके क्रम पर विचार करनेसे पूर्व्वापर क्षण ढूँढ़ते ढूँढ़ते आदिमें एक आदिक्षणका भी प्रयोजन होगा। इसका विचार पूर्व्वमें यद्यपि भलीभांति आ चुका है तथापि मूल-संदेहके निवारणार्थ यहां भी कहा जाता है कि विचारसे सृष्टि अनादि ही है क्योंकि सृष्टिका कारण प्रकृति अनादि है; परन्तु गंभीर विज्ञानके बोधार्थ ब्रह्मसे सृष्टि की उत्पत्ति और उसके साथ ही सृष्टिका आदित्व सिद्ध करना ही पड़ता है; जहां हमको जाना है वहांसे लेकर अपने निकट पर्य्यंत पथ यदि यथावत् अनुभव नहीं करेंगे तो कदापि गंतव्य स्थलको नहीं पहुंच सकेंगे। इसी प्रकार वेदोक्त विचारों पर जितनी बुद्धि लगाई जाती है उतना ही सिद्धांत होसक्ता है कि कहीं भी मत विरोध नहीं है, शास्त्रोंके कथनने कहीं भी लक्ष्यको नहीं छोड़ा है। सत्त्व, रज, तम, तीन गुण वैषम्यावस्था प्रकृतिमें दिखाई देते हैं। साम्यावस्था प्रकृतिमें तीन गुण अलग अलग दिखाई नहीं देते हैं। इस कारण यह विज्ञानसिद्ध है कि सम्यावस्था प्रकृति की दशामें गुणपरिणामक्रमका अस्तित्व नहीं रहता है। मुक्तात्मा की प्रकृति जब सम्यावस्थाको प्राप्त करती है तो उसमें गुणपरिणामक्रम की सम्भावना ही नहीं रहती है। उस साम्यावस्था प्रकृतिको प्राप्त करके प्रकृतिस्थ योगिराज स्वरूपोपलब्धि द्वारा जीवकी परमाराध्य जिस दशाको प्राप्त करता है सो आगेके सूत्रमें कहा जाता है॥ ३३॥

अब चरमफल कैवल्यका स्वरूप कहा जाता है—

पुरुषार्थरहित गुणोंका प्रतिलोम परिणाम द्वारा जो लय है उसको कैवल्य कहते हैं अथवा पुरुष की जो स्वरूपमें अवस्थिति है उसको भी कैवल्य कहते हैं॥ ३४॥

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिच्छक्तिरिति॥३४॥

मोक्ष और कैवल्यका एक ही भावार्थ है। जिन गुणोंके फल-भोग जीवको हुआ करते हैं उन सृष्टिकारक गुणोंको प्रतिलोमद्वारा लय करके उन गुणोंसे उपराम होनेको मोक्ष कहते हैं; अर्थात् प्रकृतिके त्रिगुणरूपी फन्देसे मोक्ष होना ही मोक्ष कहाता है। इस सूत्रोक्त स्वरूप-प्रतिष्ठाका अर्थ यह है कि, बुद्धिरूपी अन्तःकरणके सम्बन्धसे रहित होकर जो केवल पुरुषका भाव है वही पुरुषकी स्वतन्त्रता और वही पुरुषका निजरूपमें अवस्थान कैवल्य कहाता है। पूर्व सूत्रकथित अवस्थाओंमें प्रवेश करता हुआ योगी शेषमें असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् निर्विकल्प समाधिकी पूर्णावस्थामें पहुँच जाता है; यही अवस्था मोक्ष-अवस्था कहाती है और यही कैवल्यपद है। एकतत्त्वकी सहायतासे योगिराज क्रमशः अपनी ओर अन्तःकरणको अग्रसर करता हुआ अन्तमें अपनी वैषम्यावस्था प्रकृतिको जैसे ही साम्यावस्थामें परिणत कर लेता है वैसे ही तत्क्षणात् स्वरूपकी प्रतिष्ठा द्वारा उसको कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है। समाधि भूमिमें किस प्रकार एकतत्त्वकी वृद्धिकी जाती है इसका वर्णन भलीभांति करके तत्पश्चात् ज्ञानकी प्रतिष्ठाके लिये जो जो विचार प्रयोजनीय है उनके सिद्धान्तोंको निर्णय करके अब इस सूत्र द्वारा कैवल्यपदका यथार्थ स्वरूप कहा गया है। पुरुषार्थ-शून्य गुणोंका जो विलोम है वही कैवल्य है। इस विज्ञानके समझनेके लिये सबसे पहले यह विचारने योग्य है कि पुरुषार्थ युक्त गुणोंकी स्थिति कैसी होती है। जीव जबतक समष्टि ब्रह्माण्डके सम्बन्धसे व्यष्टिरूपमें अपना स्वतन्त्र सम्बन्ध स्थापन करके अद्वितीय पूर्णचेतनमय ब्रह्मसत्तासे अपनेको अलग समझ कर अलग एक जीवकेन्द्र स्थापन कर लेता है और जब तक वह केन्द्र स्थायी रहता है तभी तक पुषार्थकी स्थिति बनी रहती है। निर्लिप्त द्रष्टारूपी परम पुरुषमें पुरुषार्थकी कोई भी सम्भावना नहीं रहती है। सुतरां जबतक अज्ञानजनित जैवभावकी स्थिति है तभीतक पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता रहती है। जब तक अन्तःकरणवृत्तियोंके चाञ्चल्य द्वारा

इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे कैवल्यपादः ।

इति योगदर्शनं समाप्तम् ।

बुद्धि तरङ्गायित रहती है तभी तक द्रष्टारूपी पुरुष अपने स्वरूपमें अवस्थित नहीं हो सकते हैं। समाधिदशामें पुरुषार्थकी चरमदशाको प्राप्त करके योगिराज प्रकृततत्त्वके पूर्ण उदय द्वारा पुरुषार्थकी सीमासे अतीत होजाते हैं। तब उस समय उस योगिराजके अंशकी प्रकृति जो पुरुषार्थ द्वारा वैषम्यावस्थाको प्राप्त हुई रहती थी वह साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाती है और उसमेंके त्रिगुण अपने स्वभावसिद्ध विलोम दशाको प्राप्त होकर स्वभावमें लय हो जाते हैं, तब उसके अंशकी प्रकृति मूल प्रकृतिमें मिल जाती है और पुरुष द्रष्टारूपसे अवस्थान करने लगता है। इस दर्शन-शास्त्रोक्त-विज्ञानमें पुरुष और प्रकृतिकी स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता और स्वतन्त्र स्वतन्त्र गति वर्णन की गई है, प्रकृति पुरुषके अर्थही क्रिया किया करती है; जब इस कैवल्यपदके उदय होनेपर पुरुष अपने रूपको प्राप्त होजाता है, तब स्वतःही प्रकृति-पुरुषका सम्बन्ध विच्छिन्न होजानेसे प्रकृति आपही क्रियाहीन होकर लयको प्राप्त होजाती है। यही अवस्था वेदान्तका अद्वैत-भाव है, यही और शास्त्रोंकी अत्यन्तदुःखनिवृत्ति है, यही ज्ञानमार्गका ब्रह्मसद्भाव है, यही भक्तिमार्गकी पराभक्ति है और यही इस शास्त्रका कैवल्य है। पुरुषका अपने रूपको प्राप्त होजाना, सृष्टिके पूर्व वे जो थे, अब सृष्टिके लयमें भी उनका वही होजाना अर्थात् अपने पूर्वरूपको ही प्राप्त कर लेनेको मोक्ष अथवा कैवल्य कहते हैं। इस तटस्थ ज्ञानातीत परन्तु पूर्णज्ञानकी अवस्थाकोही कैवल्य कहते हैं, इस द्वैत-भावरहित अद्वैत-अवस्थाकोंही कैवल्य कहते हैं, इसी अवस्थाको प्राप्त करके जब अल्पज्ञानी जीव सर्वज्ञ परमपुरुषके साक्षात्कार द्वारा, "जैसे समुद्र-तरङ्ग समुद्रमेंही लय होजाते हैं," वैसेही जब परम पुरुषभावको प्राप्त हो परम पुरुषमें ही लय होजाता है, तब उस "यत्परोनास्ति" अवस्थाको ही कैवल्य कहते हैं; यही वाक्, मन, बुद्धिसे अगोचर अवस्थाही कैवल्य कहाती है, यही कैवल्य-अवस्था सब साधनोंका लक्ष्य है, यही कैवल्य अवस्था वेदका सिद्धान्त है और यही कैवल्य अवस्था योगसाधनकी चरमसीमाहै ॥३४॥

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिकृत सांख्यप्रवचनसम्बन्धी
योगशास्त्रके कैवल्यपादके संस्कृतभाष्यका
भाषानुवाद समाप्त हुआ।

श्रीयोगदर्शन के सूत्र, हिन्दी भाषा में
सूत्रार्थ और विस्तृत वैज्ञानिक
संस्कृत भाष्य का हिन्दी
भाषा में अनुवाद
समाप्त हुआ।

श्रीविश्वनाथो जयति ।

धर्मप्रचारका सुलभ साधन ।

समाजकी भलाई ! मातृभाषाकी उन्नति !!

देशसेवाका विराट् आयोजन !!!

इस समय देशका उपकार किन उपायोंसे हो सकता है? संसारके इस छोरसे उस छोरतक चाहे किसी चिन्ताशील पुरुषसे यह प्रश्न कीजिये, उत्तर यही मिलेगा कि धर्मभावके प्रचारसे ; क्योंकि धर्मने ही संसारको धारण कर रक्खा है। भारतवर्ष किसी समय संसारका गुरु था, आज वह अधःपतित और दीन हीन दशामें क्यों पच रहा है? इसका भी उत्तर यही है कि वह धर्मभावको खो बैठा है। यदि हम भारतसे ही पूछें कि तू अपनी उन्नतिके लिये हमसे क्या चाहता है ? तो वह यही उत्तर देगा कि मेरे प्यारे पुत्रो ! धर्मभाव की वृद्धि करो । संसारमें उत्पन्न होकर जो व्यक्ति कुछ भी सत्कार्य करनेके लिये उद्यत हुए हैं, उन्हें इस बातका पूर्ण अनुभव होगा कि ऐसे कार्यों में कैसे विघ्न और कैसी बाधाएँ उपस्थित हुआ करती हैं। यद्यपि धीर पुरुष उनकी पर्वाह नहीं करते और यथासम्भव उनसे लाभ ही उठाते हैं, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि उनके कार्योंमें उन विघ्न बाधाओंसे कुछ रुकावट अवश्य ही हो जाती है । श्रीभारतधर्म महामण्डलके धर्मकार्यमें इस प्रकार अनेक बाधाएँ होनेपर भी अब उसे जनसाधारणका हित साधन करनेका सर्वशक्तिमान् भगवान्ने सुअवसर प्रदान कर दिया है। भारत अधार्मिक नहीं है, हिन्दुजाति धर्मप्राण जाति है, उसके रोमरोम में धर्मसंस्कार ओतप्रोत हैं। केवल वह अपने रूपको—धर्मभावको—भूल रही है। उसे अपने स्वरूपकी पहिचान करा देना—धर्मभावको स्थिर रखना-ही श्रीभारतधर्ममहामण्डलका एक पवित्र और प्रधान उद्देश्य है । यह कार्य १६ वर्षोंसे महामण्डल कर रहा है और ज्यों ज्यों उसको अधिक सुअवसर मिलेगा, त्यों त्यों वह जोर शोर से यह काम करेगा । उसका विश्वास है कि इसी

उपायसे देशका सच्चा उपकार होगा और अन्तमें भारत पुनः अपने गुरुत्वको प्राप्त कर सकेगा।

इस उद्देश्य साधनके लिये सुलभ दो ही मार्ग हैं। (१) उपदेशकों द्वारा धर्मप्रचार करना और (२) धर्मरहस्य सम्बन्धी मौलिक पुस्तकोंका उद्धार और प्रकाश करना। महामण्डलने प्रथम मार्गका अवलम्बन आरम्भसे ही किया है और अब तो उपदेशक महाविद्यालय स्थापित कर महामण्डलने वह मार्ग स्थिर और परिष्कृत करलिया है। दूसरे मार्गके सम्बन्धमें भी यथायोग्य उद्योग आरम्भसे ही किया जा रहा है। विविध ग्रन्थोंका संग्रह और निर्माण करना, मासिक पत्रिकाओं का सञ्चालन करना, शास्त्रीय ग्रन्थोंका आविष्कार करना, इस प्रकारके उद्योग महामण्डलने किये हैं और उनमें सफलता भी प्राप्त की है; परन्तु अभीतक यह कार्य संतोषजनक नहीं हुआ है। महामण्डलने अब इस विभाग को उन्नत करने का विचार किया है। उपदेशकों द्वारा जो धर्मप्रचार होता है उसका प्रभाव चिरस्थायी होनेके लिये उसी विषयकी पुस्तकोंका प्रचार होना परम आवश्यक है; क्योंकि वक्ता एक दो बार जो कुछ सुना देगा, उसका मनन विना पुस्तकोंका सहारा लिये नहीं हो सकता। इसके सिवाय सब प्रकारके अधिकारियोंके लिये एक वक्ता कार्यकारी नहीं हो सकता। पुस्तकप्रचार द्वारा यह काम सहल हो जाता है। जिसे जितना अधिकार होगा, वह उतने ही अधिकारकी पुस्तकें पढ़ेगा और महामण्डल भी सब प्रकारके अधिकारियों के योग्य पुस्तकें निर्माण करेगा। सारांश देशकी उन्नतिके लिये, भारतगौरवकी रक्षाके लिये और मनुष्योंमें मनुष्यत्व उत्पन्न करनेके लिये महामण्डलने अब पुस्तक प्रकाशन विभागको अधिक उन्नत करनेका विचार किया है और उसकी सर्वसाधारणसे प्रार्थना है कि वे ऐसे सत्कार्यमें इसका हाथ बटावें एवं इसकी सहायता कर अपनी ही उन्नति कर लेनेको प्रस्तुत हो जावें।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल के व्यवस्थापक पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजकी सहायतासे काशीके प्रसिद्ध विद्वानोंके द्वारा सम्पादित होकर प्रामाणिक, सुबोध और सुदृश्यरूपसे यह ग्रन्थमाला निकलेगी। ग्रन्थमालाके जो ग्रन्थ छपकर प्रकाशित हो चुके हैं उनकी सूची नीचे प्रकाशित की जाती है।

स्थिर ग्राहकोंके नियम ।

(१) इस समय हमारी ग्रन्थमालामें निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं:—

मंत्रयोगसंहिता (भाषानुवादसहित)	१)
भक्तिदर्शन (भाषाभाष्यसहित)	१)
योगदर्शन (भाषाभाष्यसहित नूतन संस्करण)	२)
नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत	१)
दैवीमीमांसादर्शन प्रथम भाग (भाषाभाष्यसहित)	१॥)
कल्किपुराण (भाषानुवादसहित)	१)
उपदेश पारिजात (संस्कृत)	॥)
गीतावली	॥)
भारतधर्ममहामण्डल रहस्य	१)
सन्यासगीता (भाषानुवादसहित)	॥।)
गुरुगीता (भाषानुवादसहित नूतनसंस्करण)	।)
धर्मकल्पद्रुम प्रथम खण्ड	२)
„ द्वितीय खण्ड	१॥)
„ तृतीय खण्ड	२)
„ चतुर्थ खण्ड	२)
„ पञ्चम खण्ड	२)
„ षष्ठ खण्ड	१॥)
श्रीमद्भगवद्गीता प्रथम खण्ड (भाषाभाष्यसहित)	१)
सूर्य्यगीता (भाषानुवादसहित)	॥)
शम्भुगीता (भाषानुवादसहित)	॥।)
शक्तिगीता (भाषानुवादसहित)	॥।)
धीशगीता (भाषानुवादसहित)	॥)
विष्णुगीता (भाषानुवादसहित)	॥।)

(२) इनमें से जो कमसे कम ४) मूल्य की पुस्तकें पूरे मूल्यमें खरीदेंगे अथवा स्थिर ग्राहक होनेका चन्दा १) भेज देंगे उन्हें शेष और आगे प्रकाशित होनेवाली सब पुस्तकें ¾ मूल्यमें दी जायंगी।

(३) स्थिर ग्राहकोंको मालामें ग्रथित होनेवाली हर एक

पुस्तक खरीदनी होगी। जो पुस्तक इस विभाग द्वारा छापी जायगी वह एक विद्वानोंकी कमेटी द्वारा पसन्द करा ली जायगी।

(४) हर एक ग्राहक अपना नम्बर लिखकर या दिखाकर हमारे कार्यालयसे अथवा जहाँ वह रहता हो वहां हमारी शाखा हो तो वहांसे, स्वल्प मूल्य पर पुस्तकें खरीद सकेगा।

(५) जो धर्मसभा इस धर्म्मकार्य्यमें सहायता करना चाहे और जो सज्जन इस ग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहक होना चाहें वे मेरे नाम पत्र भेजनेकी कृपा करें।

गोविन्द शास्त्री दुगवेकर,

अध्यक्ष शास्त्रप्रकाश विभाग

श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय,

जगत्गंज, बनारस।

इस विभाग द्वारा प्रकाशित समस्त धर्मपुस्तकोंका विवरण।

सदाचारसोपान। यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंकी धर्म्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। उर्दू और बंगला भाषामें इसका अनुवाद होकर छपचुका है और सारे भारतवर्षमें इसकी बहुत कुछ उपयोगिता मानी गई है। इसकी पांच आवृत्तियां छपचुकी हैं। अपने बच्चोंको धर्म्मशिक्षाके लिये इस पुस्तकको हर एक हिन्दूको मँगवाना चाहिये। मूल्य -) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान। कोमलमति कन्याओंको धर्म्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। इस पुस्तककी बहुत कुछ प्रशंसा हुई है। इसका बंगला अनुवाद छप चुका है। हिन्दूमात्रको अपनी अपनी कन्याओंको धर्म्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक मँगवानी चाहिये। मूल्य -)

धर्म्मसोपान। यह धर्म्मशिक्षाविषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्म्मका साधारण ज्ञान भली भांति हो जाता है।

यह पुस्तक क्या बालक बालिका, क्या वृद्ध स्त्री पुरुष, सबके लिये बहुत ही उपकारी है। धर्म्मशिक्षा पानेकी इच्छा करनेवाले सज्जन अवश्य इस पुस्तकको मँगावें। मूल्य ।) चार आना।

ब्रह्मचर्य्यसोपान। ब्रह्मचर्य्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। सब ब्रह्मचारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रन्थकी पढ़ाई होनी चाहिये। मूल्य ≡)

राजशिक्षासोपान। राजा महाराजा और उनके कुमारोंको धर्म्मशिक्षा देनेके लिये यह ग्रन्थ बनाया गया है; परन्तु सर्वसाधारणकी धर्म्मशिक्षाके लिये भी यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। इसमें सनातनधर्म्मके अङ्ग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मूल्य ≡) तीन आना।

साधनसोपान। यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें बहुतही उपयोगी है। इसका बंगला अनुवाद भी छपचुका है। बालक बालिकाओंको पहलेहीसे इस पुस्तकको पढ़ना चाहिये। यह पुस्तक ऐसी उपकारी है कि बालक और वृद्ध समानरूपसे इससे साधनविषयक शिक्षा लाभ कर सक्ते हैं।

मूल्य =) दो आना।

शास्त्रसोपान। सनातनधर्म्मके शास्त्रोंका संक्षेप सारांश इस ग्रन्थमें वर्णित है। सब शास्त्रोंका कुछ विवरण समझनेके लिये प्रत्येक सनातनधर्म्मावलम्बीके लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। मूल्य ।) चार आना।

धर्म्मप्रचारसोपान। यह ग्रन्थ धर्मोपदेश देनेवाले उपदेशक और पौराणिक पण्डितोंके लिये बहुतही हितकारी है।

मूल्य ≡) तीन आना।

उपरि लिखित सब ग्रन्थ धर्म्मशिक्षाविषयक हैं इस कारण स्कूल, कालेज और पाठशालाओंको इकट्ठे लेने पर कुछ सुविधा से मिल सकेंगे और पुस्तक विक्रेताओंको इनपर योग्य कमीशन दिया जायगा।

उपदेशपारिजात। यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। सनातनधर्म्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं, सनातनधर्म्मके सब शास्त्रों में क्या विषय हैं, धर्म्मवक्ता होनेके लिये किन २ योग्यताओं के

होनेकी आवश्यकता है इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थ में संस्कृत विद्वान्मात्रको पढ़ना उचित है और धर्म्मवक्ता, धर्म्मोपदेशक, पौराणिक पण्डित आदिके लिये तो यह ग्रन्थ सब समय साथ रखने योग्य है। मूल्य ॥) आठ आना।

इस संस्कृत ग्रन्थके अतिरिक्त संस्कृत भाषामें योगदर्शन, सांख्यदर्शन, दैवीमीमांसादर्शन आदि दर्शन सभाष्य, मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता, हरिहरब्रह्मसामरस्य, योगप्रवेशिका, धर्म्मसुधाकर, श्रीमधुसूदनसंहिता आदि ग्रन्थ छप रहे हैं और शीघ्रही प्रकाशित होनेवाले हैं।

कल्किपुराण। कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है। वर्तमान समयके लिये यह बहुत हितकारी ग्रन्थ है। विशुद्ध हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। धर्म्मजिज्ञासुमात्रको इस ग्रन्थको पढ़ना उचित है।

मूल्य १) एक रुपया।

योगदर्शन। हिन्दीभाष्य सहित। इसप्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। सब दर्शनोंमें योगदर्शन सर्ववादिसम्मत दर्शन है और इसमें साधनके द्वारा अन्तर्जगत्‌के सब विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करादेनेकी प्रणाली रहनेके कारण इसका पाठन और भाष्य एवं टीका निर्माण वही सुचारु रूपसे करसक्ता है जो योगके क्रियासिद्धांशका पारगामी हो। इस भाष्यके निर्माणमें पाठक उक्त विषयकी पूर्णता देखेंगे। प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बनादिया गया है कि जिससे पाठकोंको मनोनिवेश पूर्वक पढ़ने पर कोई असम्बद्धता नहीं मालूम होगी और ऐसा प्रतीत होगा कि महर्षि सूत्रकारने जीवोंके क्रमाभ्युदय और निःश्रेयसके लिये मानो एक महान् राजपथ निर्माण करदिया है। इसका द्वितीय संस्करण छपकर तयार है, इसमें इस भाष्यको और भी सुस्पष्ट परिवर्द्धित और सरल किया गया है।

मूल्य २) रुपया।

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत। भारतके प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है।

मूल्य १) एक रुपया।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलरहस्य। इस ग्रन्थमें सात अध्याय हैं। यथा–आर्यजातिकी दशाका परिवर्त्तन, चिन्ताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञ-साधन। यह ग्रन्थरत्न हिन्दूजातिकी उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रन्थ है। प्रत्येक सनातनधर्म्मावलम्बीको इस ग्रन्थको पढ़ना चाहिये। द्वितीयावृत्ति छप चुकी है, इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है। इस ग्रन्थका आदर सारे भारतवर्ष में समान रूपसे हुआ है। धर्म्मके गूढ़ तत्त्व भी इसमें बहुत अच्छी तरह से बताये गये हैं। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। मूल्य १) एक रुपया।

निगमागमचन्द्रिका। प्रथम और द्वितीय भागकी दो पुस्तकें धर्म्मानुरागी सज्जनोंको मिल सकती हैं।

प्रत्येक का मूल्य १) एक रुपया।

पहले के पाँच सालके पाँच भागोंमें सनातनधर्म्मके अनेक गूढ़ रहस्यसम्बन्धी ऐसे २ प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं कि आजतक वैसे धर्म्मसम्बन्धी प्रबन्ध और कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए हैं। जो धर्मके अनेक रहस्य जानकर तृप्त होना चाहें वे इन पुस्तकोंको मँगावें। मूल्य पांचों भागों का २॥) रुपया।

भक्तिदर्शन। श्रीशाण्डिल्यसूत्रों पर बहुत विस्तृत हिन्दी भाष्यसहित और एक अति विस्तृत भूमिकासहित यह ग्रन्थ प्रणीत हुआ है। हिन्दीका यह एक असाधारण ग्रन्थ है। ऐसा भक्तिसम्बन्धी ग्रन्थ हिन्दीमें पहले प्रकाशित नहीं हुआ था। भगवद्भक्तिके विस्तारित रहस्योंका ज्ञान इस ग्रन्थके पाठ करनेसे होता है। भक्तिशास्त्रके समझनेकी इच्छा रखनेवाले और श्रीभगवान्में भक्ति करने वाले धार्मिकमात्रको इस ग्रन्थको पढ़ना उचित है। मूल्य १)

गीतावली। इसको पढ़नेसे सङ्गीतशास्त्रका मर्म्म थोड़ेमें ही समझमें आसकेगा। इसमें अनेक अच्छे अच्छे भजनोंका भी संग्रह है। सङ्गीतानुरागी और भजनानुरागियोंको अवश्य इसको लेना चाहिये। मूल्य ॥) आठ आना।

मन्त्रयोगसंहिता। योगविषयक ऐसा अपूर्व्व ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें मन्त्रयोगके १६ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण, साधनप्रणाली आदि सब अच्छीतरहसे वर्णन किये

गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे परम लाभ उठा सकते हैं। इसमें मंत्रोंका स्वरूप और उपास्यनिर्णय बहुत अच्छा किया गया है। घोर अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोध के दूर करनेके लिये यह एकमात्र ग्रन्थ है। इसमें नास्तिकोंके मूर्तिपूजा, मन्त्रसिद्धि आदि विषयोंमें जो प्रश्न होते हैं उनका अच्छा समाधान है।

मूल्य १) एक रुपयामात्र।

तत्त्वबोध। भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित। यह मूल ग्रन्थ श्रीशङ्कराचार्यकृत है। इसका बंगानुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। मूल्य =) दो आना।

दैवीमीमांसा दर्शन प्रथम भाग। वेदके तीन काण्ड हैं। यथाः—कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्डका वेदान्त दर्शन, कर्म्मकाण्ड का जैमिनी दर्शन और भरद्वाज दर्शन और उपासनाकाण्ड का यह अङ्गिरा दर्शन है। इसका नाम दैवी-मीमांसा दर्शन है। यह ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ था। इसके चार पाद हैं, यथाः—प्रथम रसपाद, इस पाद में भक्तिका विस्तारित विज्ञान वर्णित है। दूसरा सृष्टि पाद, तीसरा स्थिति पाद और चौथा लयपाद, इन तीनों पादोंमें दैवीमाया, देवताओंके भेद, उपासनाका विस्तारित वर्णन और भक्ति और उपासनासे मुक्तिकी प्राप्तिका सब कुछ विज्ञान वर्णित है। इस प्रथम भागमें इस दर्शन शास्त्रके प्रथम दो पाद हिन्दी अनुवाद और हिन्दी भाष्यसहित प्रकाशित हुए हैं। मूल्य १॥) डेढ़ रुपया।

श्रीभगवद्गीता प्रथमखण्ड। श्रीगीताजीका अपूर्व्व हिन्दी भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है जिसका प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका कुछ हिस्सा है प्रकाशित हुआ है। आज तक श्रीगीताजी पर अनेक संस्कृत और हिन्दी भाष्य प्रकाशित हुए हैं परन्तु इस प्रकारका भाष्य आज तक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। गीताका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक श्लोकका त्रिविध अर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य गीता-विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्यमें मौजूद है। मूल्य १) एक रुपया

मैनेजर, निगमागम बुकडिपो.

महामण्डलभवन, जगतगंज, बनारस।

सप्त गीताएँ।

पञ्चोपासनाके अनुसार पाँच प्रकारके उपासकोंके लिये पांच गीताएं-श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्य्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और श्रीशम्भुगीता एवं सन्न्यासियोंके लिये सन्न्यासगीता और साधकोंके लिये गुरुगीता भाषानुवाद सहित छप चुकी हैं। श्रीभारतधर्म महामण्डलने इन सात गीताओंका प्रकाशन निम्न लिखित उद्देश्योंसे किया है:-१ म, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको धर्मके नामसे ही अधर्म सञ्चित करनेकी अवस्थामें पहुंचा दिया है, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको अहंकारत्यागी होनेके स्थानमें घोर साम्प्रदायिक अहंकारसम्पन्न बना दिया है, भारतकी वर्तमान दुर्दशा जिस साम्प्रदायिक विरोधका प्रत्यक्ष फल है और जिस साम्प्रदायिक विरोधने साकार-उपासकोंमें घोर द्वेषदावानल प्रज्वलित कर दिया है उस साम्प्रदयिक विरोधका समूल उन्मूलन करना और २ य, उपासनाके नामसे जो अनेक इन्द्रियासक्तिकी चरितार्थताके घोर अनर्थकारी कार्य होते हैं उनका समाजमें अस्तित्व न रहने देना तथा ३ य, समाजमें यथार्थ भगवद्भक्तिके प्रचार द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस-प्राप्तिमें अनेक सुविधाओंका प्रचार करना। इन सातों गीताओंमें अनेक दार्शनिक तत्त्व, अनेक उपासनाकाण्डके रहस्य और प्रत्येक उपास्य देवकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सुचारुरूपसे प्रतिपादित किये गये हैं। ये सातों गीताएं उपनिषद्रूप हैं। प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवकी गीतासे तो लाभ उठावेगा ही, किन्तु, अन्य चार गीताओंके पाठ करनेसे भी वह अनेक उपासनातत्त्वोंको तथा अनेक वैज्ञानिक रहस्योंको जान सकेगा और उसके अन्तःकरणमें प्रचलित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंसे जैसा विरोध उदय होता है वैसा नहीं होगा और वह परमशान्तिका अधिकारी हो सकेगा। सन्न्यास गीतामें सब सम्प्रदायोंके साधु और सन्न्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। सन्न्यासिगण इसके पाठ करनेसे विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। गृहस्थोंके लिये भी यह ग्रन्थ धर्मज्ञानका भाण्डार है। श्रीमहामण्डलप्रकाशित गुरुगीताके सदृश ग्रन्थ आज तक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें गुरु शिष्य

लक्षण, उपासनाका रहस्य और भेद, मन्त्र हठ लय और राजयोगोंके लक्षण और अङ्ग एवं गुरुमाहात्म्य, शिष्यकर्त्तव्य, परम तत्त्वका स्वरूप और गुरुशब्दार्थ आदि सब विषय स्पष्टरूपसे हैं। मूल, स्पष्ट सरल और सुमधुर भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित यह ग्रन्थ छपा है। गुरु और शिष्य दोनोंका उपकारी यह ग्रन्थ है। इसका अनुवाद वंगभाषामें भी छप चुका है। पाठक इन सातों गीताओंको मंगाकर देख सकते हैं, ये छप चुकी हैं। विष्णुगीताका मूल्य ।॥) सूर्यगीताका मूल्य ॥) शक्तिगीताका मूल्य ।॥) धीशगीताका मूल्य ॥) शंभुगीताका मूल्य ।॥) सन्न्यासगीताका मूल्य ।॥) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पांचगीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव सूर्य्यदेव भगवती और गणपतिदेव तथा शिवजीका चित्र भी दिया गया है।

मैनेजर, निगमागम बुकडिपो,

महामण्डलभवन, जगतगंज बनारस।

धार्मिक विश्वकोष।

(श्रीधर्म्मकल्पद्रुम)

यह हिन्दूधर्म्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दू जातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है उनमें से सबसे बड़ी भारी ज़रूरत एक ऐसे धर्म्मग्रन्थकी थी कि, जिसके अध्ययन-अध्यापनके द्वारा सनातन धर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्ग उपांगोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथही साथ वेदों और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भलीभाँति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्म्म महामण्डलस्थ उपदेशक महाविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजीने इस ग्रन्थका प्रणयन करना प्रारम्भ किया है। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृत-रूपसे दिये जायंगे। अबतक इसके छः खण्डोंमें जो अध्याय

प्रकाशित हुए हैं वे ये हैं:—धर्म्म, दानधर्म्म, तपोधर्म्म, कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ, महायज्ञ, वेद, वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र (वेदोपाङ्ग) स्मृतिशास्त्र, पुराणशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, उपवेद, ऋषि और पुस्तक, साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्म, वर्णधर्म्म, आश्रमधर्म्म, नारी-धर्म्म (पुरुषधर्म्मसे नारीधर्म्मकी विशेषता), आर्य जाति, समाज और नेता, राजा और प्रजाधर्म, प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म, आपद्धर्म, भक्ति और योग, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग, गुरु और दीक्षा, वैराग्य और साधन, आत्मतत्त्व, जीवतत्त्व, प्राण और पीठतत्त्व, सृष्टि स्थिति प्रलयतत्त्व, ऋषि देवता और पितृतत्त्व अवतारतत्त्व, मायातत्त्व, त्रिगुणतत्त्व, त्रिभावतत्त्व, कर्म्मतत्त्व, मुक्ति-तत्त्व, पुरुषार्थ और वर्णाश्रमसमीक्षा, दर्शनसमीक्षा, धर्मसम्प्रदाय-समीक्षा, धर्मपन्थसमीक्षा और धर्ममतसमीक्षा । आगेके खण्डोंमें प्रकाशित होनेवाले अध्यायोंके नाम ये हैं:—साधनसमीक्षा, चतुर्दशलोकसमीक्षा, कालसमीक्षा, जीवन्मुक्ति-समीक्षा, सदाचार, पञ्च महायज्ञ, आह्निककृत्य, षोडश संस्कार, श्राद्ध, प्रेतत्व और परलोक, सन्ध्या तर्पण, ओंकार-महिमा और गायत्री, भगवन्नाम माहात्म्य, वैदिक मन्त्रों और शास्त्रोंका अपलाप, तीर्थ-महिमा, सूर्य्यादिग्रह-पूजा, गोसेवा, संगीत-शास्त्र, देश और धर्म सेवा इत्यादि इत्यादि । इस ग्रन्थसे आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञान रहित धर्म्मग्रन्थों और धर्म्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है वह सब दूर होकर यथार्थ रूपसे सनातन वैदिक धर्म्मका प्रचार होगा । इस ग्रन्थरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेशमात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि हिन्दूशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियोंके सिवाय, आजकलकी पदार्थ विद्या (Science) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये हैं जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। इसकी भाषा सरल, मधुर और गम्भीर है। यह ग्रन्थ चौसठ अध्याय और आठ समुल्लासोंमें पूर्ण होगा और यह वृहत् ग्रन्थ रायल साइजके चार हजार पृष्ठोंसे अधिक होगा तथा बारह खण्डोंमें प्रकाशित होगा। इसी के अन्तिम खण्डमें आध्यात्मिक शब्दकोष भी प्रकाशित करनेका विचार है।

इसके छः खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीय का१॥), तृतीयका२), चतुर्थका२), पंचमका२) और षष्ठका १॥) है। इसके प्रथम दो खण्ड बढ़िया कागज पर भी छापे गये हैं और दोनों ही एक बहुत सुन्दर जिल्दमें बांधे गये हैं। मूल्य ५) है। सातवाँ खण्ड यन्त्रस्थ है।

मैनेजर, निगमागम बुकूडीपो,

महामण्डलभवन, जगतगंज, बनारस।

अंग्रेजी भाषाके धर्म्मग्रन्थ।

श्री भारतधर्म्म महामण्डल शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा प्रकाशित सब संहिताओं, गीताओं और दार्शनिक ग्रन्थोंका अंग्रेजी अनुवाद तयार हो रहा है जो क्रमशः प्रकाशित होगा। सम्प्रति अंग्रेजी भाषामें एक ऐसा ग्रन्थ छप गया है जिसके द्वारा सब अंग्रेजी पढ़े व्यक्तियोंको सनातन धर्म्मका महत्त्व, उसका सर्वजीवहितकारी स्वरूप, उसके सब अङ्गोंका रहस्य, उपासनातत्त्व, योगतत्त्व, काल और सृष्टितत्त्व, कर्म्मतत्त्व, वर्णाश्रमधर्म्मतत्त्व इत्यादि सब बड़े बड़े विषय अच्छी तरह समझमें आजावें। इसका नाम, वर्ल्ड्स इटरनल रिलिजन है। इसका मूल्य रायलएडिशनका ५) और साधारणका ३) है। जिल्द बंधी हुई है और दोनोंमें सात त्रिवर्ण चित्र भी दिये हैं।

मैनेजर, निगमागम बुकूडीपो

महामण्डलभवन, जगतगंज, बनारस।

"The World's Eternal Religion."

A Unique work on Hinduism in one volume, containing 24 Chapters with tri-colour illustrations, glossary, etc. No work has hitherto appeared in English that gives in a suggestive manner the real expositon of the Hindu religion in all its phases. This book has perfectly supplied of long-felt want. The names of the

chapters are as follows:- 1. Foreword, 2. Universal Religion, 3. Classification of Religion, 4. Law of Karma, 5. Worship in all its phases, 6. Practice of Yoga through Mantras, 7. Practice of Yoga through physical exercise, 8. Practice of Yoga through finer force of Nature. 9. Yoga through power of reasoning. 10. The Mystic Circle. 11. Love and Devotion, 12. Planes of Knowledge, 13. Time, space, creation. 14. The Occult world, 15. Evolution and Reincarnation, 16. Hindu Philosophy, 17. The System of castes and stages of Life, 18. Woman's Dharma, 19. Image Worship, 29. The great Sacrifices, 21. Hindu Scriptures, 22. Liberation, 23. Education, 24. Reconciliation of all Religions.—The followers of all religions in the world will profit by the light the work is intended to give. Price cloth bound, superior edition, Rs. 5, postage extra.

Apply to the Manager, Nigamagam Book Depot, Mahamandal Buildings, Jagatganj, Benares.

विविध विषयोंकी पुस्तकें ।

असभ्यरमणी =) अनार्यसमाजरहस्य ≡) अन्त्येष्टिक्रिया ।) आनन्द रघुनन्दन नाटक ॥) आचारप्रबन्ध १) इङ्गलिशग्रामर ।) उपन्यास कुसुम ≡) एकान्तवासी योगी -) कल्किपुराण उर्दू ॥) कार्तिकप्रसादकी जीवनी =) काशीमुक्ति विवेक।-) गोवंशचिकित्सा।) गोगीतावली -) ग्वींलेफमेजिनी ।) जैमिनीसूत्र।) तर्कसंग्रह।-) दुर्गेश-नन्दिनी द्वितीय भाग =) देवपूजन) देशीकरघा ॥) धनुर्वेद संहिता।) नवीन रत्नाकर भजनावली)। न्याय दर्शन -) पारिवारिक प्रबन्ध १) प्रयाग महात्म्य ॥=) प्रवासी =) बारहमासी -) बालहित -)॥ भक्तसर्वस्व =) भजनगोरक्षाप्रकाश मञ्जरी)॥ मानस मञ्जरी ।) मेगास्थनीजका भारतवर्षीय वर्णन ॥=) मङ्गलदेव पराजय =) रागरत्नाकर २) रामगीता ≡) राशिमाला)॥ वसन्तशृङ्गार ≡) वारेन्हेस्टिङ्गकी जीवनी १) वीरबाला ॥।) वैष्णवरहस्य)॥ शारीरिक-भाष्य ।) शास्त्रीजीके दो व्याख्यान ॥=) सारमञ्जरी ।) सिद्धान्तकौमुदी २) सिद्धान्तपटल -) सुजान चरित्र -) सुनारी ।) सुबोध व्याकरण ।)

सुश्रुत संस्कृत ३) संध्यावन्दन भाष्य ॥) हनुमज्ज्योतिष =) हनुमान-चालीसा)। हिन्दी पहिली किताब)॥ क्षत्रियहितैषिणी -)

नोट—पचीस रुपयोंसे अधिककी पुस्तक खरीदनेवालेको योग्य कमीशन भी दिया जायगा।

शीघ्र छपने योग्य ग्रन्थ। हिन्दी साहित्यकी पुष्टिके अभिप्रायसे तथा धर्म्मप्रचारकी शुभ वासनासे निम्नलिखित ग्रन्थ क्रमशः हिन्दी अनुवाद सहित छापनेको तैयार हैं। यथा:-भाषानुवाद सहित हठयोग संहिता, भरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शनके भाषाभाष्य-का प्रथम खण्ड और सांख्यदर्शनका भाषाभाष्य।

मैनेजर, निगमागम बुकडीपो,
महामण्डलभवन, जगत्‌गंज, बनारस।

श्रीमहामण्डलका शास्त्रप्रकाशविभाग।

यह विभाग बहुत विस्तृत है। अपूर्व्व संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजीकी पुस्तकें काशी प्रधान कार्य्यालय (जगत्‌गंज) में मिलती हैं। बंगला सिरीज कलकत्ता दफ्तर(६२बहूबाजारस्ट्रीट) में और उर्दू सिरीज फीरोजपुर (पञ्जाब) दफ्तर में मिलती हैं और इसी प्रकार अन्यान्य प्रान्तीय कार्य्यालयोंमें प्रान्तीय भाषाओंके ग्रन्थोंका प्रबन्ध हो रहा है।

सेक्रेटरी
श्रीभारतधर्म्म महामण्डल,
जगत्‌गंज बनारस।

श्रीमहामण्डलस्थ उपदेशक-महाविद्यालय।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधानकार्यालय काशी में साधु और गृहस्थ धर्म्मवक्ता प्रस्तुत करनेके अर्थ श्रीमहामण्डल-उपदेशक महाविद्यालय नामक विद्यालय स्थापित हुआ है। जो साधुगण दार्शनिक और धर्म्मसम्बन्धी ज्ञान लाभ करके अपने साधु-जीवनको कृतकृत्य करना चाहें और जो विद्वान् गृहस्थ धार्मिक शिक्षा लाभ करके धर्म्मप्रचार द्वारा देशकी सेवा करते हुए अपना जीवन निर्वाह करना चाहें वे निम्नलिखित पते पर पत्र भेजें।

प्रधानाध्यक्ष, श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्यालय,
जगत्‌गंज, बनारस (छावनी)।

श्रीभारतधर्म्म महामण्डल
में
नियमित धर्म्म चर्चा ।

श्रीभारतधर्म महामण्डल धर्मपुरुषार्थ में जैसा अग्रसर हो रहा है, सर्वत्र प्रसिद्ध है । मण्डल के अनेक पुरुषार्थों में 'उपदेशक महाविद्यालय' की स्थापना भी गणना करने योग्य है । अच्छे धार्मिक वक्ता इसमें निर्माण हुए, होते हैं और होते रहेंगे ऐसा इसका प्रबन्ध हुआ है । अब इसमें दैनिक पाठ्यक्रम के अतिरिक्त यह भी प्रबन्ध हुआ है कि रात्रि के समय महीने में दस दिन व्याख्यान शिक्षा, दस दिन शास्त्रार्थ शिक्षा और दस दिन सङ्गीत शिक्षा भी दी जाया करे । वक्तृता के लिये संगीत का साधारण ज्ञान होना आवश्यक है और इस पञ्चम वेदका (शुद्ध सङ्गीत का) लोप हो रहा है । इस कारण व्याख्यान और शास्त्रार्थ शिक्षा के साथ सङ्गीत शिक्षा का भी समावेश किया गया है । सर्व साधारण भी इस धर्म चर्चा का यथा समय उपस्थित होकर लाभ उठा सकते हैं ।

निवेदक

सेक्रटरी महामण्डल,

जगत्गंज बनारस ।

हिन्दूधार्मिक विश्वविद्यालय ।

(श्री शारदामण्डल)

हिन्दू जातिकी विराट् धर्म्मसभा श्रीभारतधर्म्म महामण्डलका यह विद्यादान विभाग है । वस्तुतः हिन्दूजातिके पुनरभ्युदय और हिन्दूधर्म्मकी शिक्षा सारे भारतवर्षमें फैलानेके लिये यह विश्वविद्यालय स्थापित हुआ है । इसके प्रधानतः निम्न लिखित पाँच कार्य विभाग हैं ।

(१) श्री उपदेशक महाविद्यालय (हिन्दू कालेज ओफ डिविनिटी) इस महाविद्यालयके द्वारा योग्य धर्म्मशिक्षक और धर्मोपदेशक तयार किये जाते हैं । अंग्रेजी भाषाके बी. ए. पास अथवा संस्कृत भाषा के शास्त्री आचार्य्य आदि परीक्षाओंकी योग्यता रखने

वाले पण्डित ही छात्र रूपसे इस महाविद्यालयमें भरती किये जाते हैं। छात्रवृत्ति २५) माहवार तक दी जाती है।

(२) धर्म्मशिक्षाविभाग । इस विभागके द्वारा भारतवर्षके प्रधान प्रधान नगरोंमें ऊपर लिखित महाविद्यालयमे परीक्षोत्तीर्ण एक एक पण्डित स्थायीरूपसे नियुक्त करके उक्त नगरोंके स्कूल, कालेज और पाठशालाओंमें हिन्दूधर्म्मकी धार्मिक शिक्षा देनेका प्रबन्ध किया जाता है। वे पण्डितगण उन नगरोंमें सनातनधर्म्मका प्रचार भी करते रहते हैं। ऐसा प्रबन्ध किया जा रहा है कि जिससे महामण्डलके प्रयत्नसे सब बड़े बड़े नगरों में इस प्रकार धर्म्मकेन्द्र स्थापित हों और वहाँ मासिक सहायता भी श्री महामण्डलकी ओरसे दी जाय।

(३) श्री आर्यमहिलामहाविद्यालय भी इसी शारदामण्डलका अंग समझा जायगा और इस महाविद्यालयमें उच्च जातिकी विधवाओंके पालन पोषणका पूरा प्रबन्ध करके उनको योग्य धर्मोपदेशिका, शिक्षयित्री और गवर्नेस आदिके काम करनेके उपयोगी बनाया जायगा।

(४) सर्व्वधर्म्मसदन (हाल आफ आल रिलिजन्स) इस नामसे यूरोप-महायुद्धके स्मारक रूपसे एक संस्था स्थापित करनेका प्रबन्ध हो रहा है। यह संस्था श्रीमहामण्डलके प्रधान कार्य्यालय तथा उपदेशक महाविद्यालयके निकट ही स्थापित होगी। इस संस्थाके एक ओर सनातन धर्म्मके अतिरिक्त सब प्रधान २ धर्म्ममतोंके उपासनालय रहेंगे जिनमें उक्त धर्म्मोंके जाननेवाले एक एक विद्वान् रहेंगे। दूसरी ओर सनातनधर्म्मके पञ्चोपासनाके पाँच देवस्थान और लीलाविग्रह उपासना आदि देवमन्दिर रहेंगे। इसी संस्थामें एक बृहत् पुस्तकालय रहेगा कि जिसमें पृथिवी भरके सब धर्म्ममतोंके धर्मग्रन्थ रक्खे जायंगे और इसी संस्थासे संश्लिष्ट एक व्याख्यानालय और शिक्षालय (हाल) रहेगा जिसमें उक्त विभिन्न धर्म्मोंके विद्वान् तथा सनातन धर्म्मके विद्वान्गण यथाक्रम व्याख्यानादि देकर धर्म्मसम्बन्धीय अनुसन्धान तथा धर्मशिक्षाकार्य्यकी सहायता करेंगे। यदि पृथिवीके अन्य देशोंसे कोई विद्वान् काशीमें आकर इस सर्व्वधर्म्मसदनमें दार्शनिक शिक्षा लाभ करना चाहेगा तो उसका भी प्रबन्ध रहेगा।

(५) शास्त्र प्रकाश विभाग। इस विभागका कार्य स्पष्टही है। इस विभागसे धर्म्मशिक्षा देनेके उपयोगी नाना भाषाओंकी पुस्तकें तथा सनातनधर्म्मकी सब उपयोगी मौलिक पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं और होंगी।

इस प्रकारसे पाँच कार्य्यविभाग और संस्थाओंमें विभक्त होकर श्री शारदामण्डल सनातनधर्म्मावलम्बियोंकी सेवा और उन्नति करनेमें प्रवृत्त रहेगा।

प्रधान मंत्री

श्रीभारतधर्म्म महामण्डल

प्रधान कार्यालय, बनारस।

श्रीमहामण्डलके सभ्योंको विशेष सुविधा।

हिन्दू समाजकी एकता और सहायताके लिये विराट् आयोजन।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल हिन्दू जातिकी अद्वितीय धर्म्ममहासभा और हिन्दू समाजकी उन्नति करने वाली भारतवर्षके सकल प्रान्त व्यापी संस्था है। श्रीमहामण्डलके सभ्य महोदयोंको केवल धर्म्म शिक्षा देना ही इसका लक्ष्य नहीं है; किन्तु हिन्दू समाजकी उन्नति, हिन्दूसमाजकी दृढ़ता और हिन्दू समाजमें पारस्परिक प्रेम और सहायताकी वृद्धि करना भी इसका प्रधान लक्ष्य है इस कारण निम्नलिखित नियम श्रीमहामण्डलकी प्रबन्ध- कारिणी सभाने बनाये हैं। इन नियमोंके अनुसार जितने अधिक संख्यक सभ्य महामण्डलमें सम्मिलित होंगे उतनी ही अधिक सहायता महामण्डलके सभ्य महोदयोंको मिल सकेगी। ये नियम ऐसे सुगम और लोकहितकर बनाये गये हैं कि श्रीमहामण्डलके जो सभ्य होंगे उनके परिवारको बड़ी भारी एककालिक दानकी सहायता प्राप्त हो सकेगी। वर्त्तमान हिन्दूसमाज जिस प्रकार दरिद्र होगया है उसके अनुसार श्रीमहामण्डलके ये नियम हिन्दू समाजके लिये बहुत ही हितकारी हैं इसमें सन्देह नहीं।

श्रीमहामण्डलके मुखपत्रसम्बन्धी उपनियम ।

(१) धर्म्मशिक्षाप्रचार, सनातनधर्मचर्चा, सामाजिकउन्नति, सद्विद्याविस्तार, श्रीमहामण्डलके कार्य्योंके समाचारोंकी प्रसिद्धि और सभ्योंको यथासम्भव सहायता पहुँचाना आदि लक्ष्य रखकर श्रीमहामण्डलके प्रधान कार्य्यालय द्वारा भारत के विभिन्न प्रान्तोंमें प्रचलित देशभाषाओंमें मासिकपत्र नियमितरूपसे प्रचार किये जायँगे।

(२) अभी केवल हिन्दी और अँगरेजी–इन दो भाषाओंके दो मासिकपत्र प्रधान कार्य्यालयसे प्रकाशित हो रहे हैं । यदि इन नियमोंके अनुसार कार्य्य करने पर विशेष सफलता और सभ्योंकी विशेष इच्छा पाई जायगी तो भारतके विभिन्न प्रान्तोंकी देश भाषाओंमें भी क्रमशः मासिकपत्र प्रकाशित करनेका विचार रक्खा गया है । इन मासिकपत्रोंमें से प्रत्येक मेम्बरको एक एक मासिकपत्र, जो वे चाहेंगे, बिना मूल्य दिया जायगा । कमसे कम दो हजार सभ्य महोदयगण जिस भाषाका मासिक पत्र चाहेंगे, उसी भाषामें मासिकपत्र प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया जायगा, परन्तु जबतक उस भाषाका मासिकपत्र प्रकाशित न हो तब तक श्रीमहामण्डलका हिन्दी अथवा अंगरेजीका मासिकपत्र बिना मूल्य दिया जायगा।

(३) श्रीमहामण्डलके साधारण सभ्योंको वार्षिक दो रुपये चन्दा देने पर इन नियमोंके अनुसार सब सुविधाएँ प्राप्त होंगी। श्रीमहामण्डलके अन्य प्रकारके सभ्य जो धर्म्मोन्नति और हिन्दू-समाजकी सहायताके विचारसे अथवा अपनी सुविधाके विचारसे इस विभागमें स्वतन्त्र रीतिसे कमसे कम २ दो रुपये वार्षिक नियमित चन्दा देंगे वे भी इस कार्य्य विभागकी सब सुविधाएँ प्राप्त कर सकेंगे।

(४) इस विभागके रजिस्टरदर्ज सभ्योंको श्रीमहामण्डलके अन्य प्रकारके सभ्योंकी रीतिपर श्रीमहामण्डलसे सम्बन्धयुक्त सब पुस्तकादि अपेक्षाकृत स्वल्प मूल्य पर मिला करेंगी।

समाजहितकारी कोष।

(यह कोष श्रीमहामण्डलके सब प्रकारके सभ्योंके—जो इसमें

सम्मिलित होंगे—निर्वाचित व्यक्तियोंको आर्थिक सहायताके लिये खोला गया है)

(५) जो सभ्य नियमित प्रतिवर्ष चन्दा देते रहेंगे उनके देहान्त होने पर जिनका नाम वे दर्ज करा जायंगे, श्रीमहामण्डलके इस कोष द्वारा उनको आर्थिक सहायता मिलेगी।

(६) जो मेम्बर कमसे कम तीन वर्ष तक मेम्बर रहकर लोकान्तरित हुए हों, केवल उन्हींके निर्वाचित व्यक्तियोंको इस समाजहितकारी कोषकी सहायता प्राप्त होगी, अन्यथा नहीं दी जायगी।

(७) यदि कोई सभ्य महोदय अपने निर्वाचित व्यक्तिके नामको श्रीमहामण्डलप्रधानकार्यालयके रजिस्टरमें परिवर्त्तन कराना चाहेंगे तो ऐसा परिवर्त्तन एकबार बिना किसी व्ययके किया जायगा। उसके बाद वैसा परिवर्तन पुनः कराना चाहें तो ।) भेजकर परिवर्तन करा सकेंगे।

(८) इस विभागमें साधारण सभ्यों और इस कोषके सहायक अन्यान्य सभ्योंकी ओरसे प्रतिवर्ष जो आमदनी होगी उसका आधा अंश श्रीमहामण्डलके छपाई-विभागको मासिक पत्रोंकी छपाई और प्रकाशन आदि कार्य्यके लिये दिया जायगा। बाकी आधा रुपया एक स्वतन्त्र कोषमें रक्खा जायगा जिस कोषका नाम " समाजहित कारी कोष " होगा।

(९) " समाजहित कारी कोष " का रुपया बैंक ऑफ बंगाल अथवा ऐसे ही विश्वस्त बैंकमें रक्खा जायगा।

(१०) इस कोषके प्रबन्धके लिये एक खास कमेटी रहेगी।

(११) इस कोषकी आमदनीका आधा रुपया प्रतिवर्ष इस कोषके सहायक जिन मेम्बरों की मृत्यु होगी, उनके निर्वाचित व्यक्तियोंमें समानरूपसे बाँट दिया जायगा।

(१२) इस कोषमें बाकी आधे रुपयोंके जमा रखनेसे जो लाभ होगा, उससे श्रीमहामण्डलके कार्यकर्ताओं तथा मेम्बरोंके क्लेशका विशेष कारण उपस्थित होने पर उन क्लेशोंको दूर करनेके लिये कमेटी व्यय कर सकेगी।

(१३) किसी मेम्बरकी मृत्यु होने पर वह मेम्बर यदि किसी महामण्डलकी शाखासभाका सभ्य हो अथवा किसी शाखासभाके

निकटवर्ती स्थानमें रहने वाला हो तो उसके निर्वाचित व्यक्तिका फर्ज होगा कि वह उक्त शाखासभाकी कमेटीके मन्तव्यकी नकल श्रीमहामण्डल प्रधान कार्य्यालयमें भिजवावे। इस प्रकारसे शाखा सभाके मन्तव्यकी नकल आने पर कमेटी समाजहितकारी कोषसे सहायता देनेके विषयमें निश्चय करेगी।

(१४) जहाँ कहीं सभ्योंको इस प्रकारकी शाखासभाकी सहायता नहीं मिल सकती है या जहाँ कहीं निकट शाखासभा नहीं है ऐसी दशामें उस प्रान्तके श्रीमहामण्डलके प्रतिनिधियोंमेंसे किसीके अथवा किसी देशी रजवाड़ोंमें हो तो उक्त दर्बार के प्रधान कर्म्मचारीका सार्टिफिकेट मिलने पर सहायता देनेका प्रबन्ध किया जायगा।

(१५) यदि कमेटी उचित समझेगी तो खास २ खबर मंगाकर सहायताका प्रबन्ध करेगी, जिससे कार्य्यमें शीघ्रता हो।

अन्यान्य नियम।

(१६) महामण्डलके अन्य प्रकारके सभ्योंमेंसे जो महाशय हिन्दूसमाजकी उन्नति और दरिद्रोंकी सहायताके विचारसे इस कोषमें कमसे कम २) दो रुपये सालाना सहायता करने पर भी इस फण्ड से फायदा उठाना नहीं चाहेंगे वे इस कोषके परिपोषक समझे जायंगे और उनकी नामावली धन्यवादसहित प्रकाशित की जायगी।

(१७) हर एक साधारण मेम्बरको–चाहे स्त्री हो या पुरुष–प्रधान कार्यालयसे एक प्रमाणपत्र–जिसपर पञ्चदेवताओंकी मूर्ति और कार्यालयकी मुहर होगी–साधारण मेम्बरके प्रमाणरूपसे दिया जायगा।

(१८) इस विभागमें जो चन्दा देंगे उनका नाम नम्बरसहित हर वर्ष रसीदके तौर पर वे जिस भाषाका मासिकपत्र लेंगे उसमें छापा जायगा। यदि गल्तीसे किसीका नाम न छपे तो उनका फर्ज होगा कि प्रधान कार्यालयमें पत्र भेजकर अपना नाम छपवावें क्योंकि यह नाम छपना ही रसीद समझी जायगी।

(१९) प्रतिवर्ष का चन्दा २) मेम्बर महाशयों को जनवरी महीनेमें आगामी भेज देना होगा। यदि किसी कारण विशेषसे

जनवरीके अन्त तक रुपया न आवे तो और एक मास अर्थात् फरवरी मास तक अवकाश दिया जायगा और इसके बाद अर्थात् मार्च महीनेमें रुपया न आने से मेम्बर महाशयका नाम काट दिया जायगा और फिर वे इस समाजहितकारी कोषसे लाभ नहीं उठा सकेंगे ।

(२०) मेम्बर महाशयका पूर्व नियम के अनुसार नाम कट जानेपर यदि कोई असाधारण कारण दिखाकर वे अपना हक्क साबित रखना चाहेंगे तो कमेटीको इस विषयमें विचार करनेका अधिकार मई मास तक रहेगा और यदि उनका नाम रजिष्टरमें पुनः दर्ज किया जायगा तो उन्हें ।) हर्जाना समेत चन्दा अर्थात् २।) देकर नाम दर्ज करा लेना होगा ।

(२१) वर्षके अन्दर जब कभी कोई नये मेम्बर होंगे तो उनको उस सालका पूरा चन्दा देना होगा । वर्षारम्भ जनवरी से समझा जायगा ।

(२२) हर सालके मार्चमें परलोकगत मेम्बरोंके निर्वाचित व्यक्तियोंको 'समाजहितकारी कोष' की गतवर्षकी सहायता बांटी जायगी; परन्तु नं. १२ के नियमके अनुसार सहायताके बांटनेका अधिकार कमेटीको सालभर तक रहेगा ।

(२३) इन नियमोंके घटाने-बढ़ाने का अधिकार महामण्डल को रहेगा ।

(२४) इस कोष की सहायता 'श्रीभारतधर्म महामण्डल, प्रधान कार्यालय, काशी' से ही दी जायगी ।

सेक्रेटरी,
श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल,
जगत्‌गंज, बनारस ।

श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णा-दानभण्डार ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय काशीमें दीनदुःखियोंके क्लेशनिवारणार्थ यह सभा स्थापित की गई है । इस सभाके द्वारा अतिविस्तृत रीतिपर शास्त्र प्रकाशनका कार्य्य प्रारम्भ किया गया है । इस सभाके द्वारा धर्म्मपुस्तिका पुस्तकादि यथासम्भव बिना मूल्य वितरण करनेका भी विचार रक्खा गयाहै । इस दानभ-

ण्डारके द्वारा महामण्डलद्वारा प्रकाशित तत्त्वबोध, साधुओंका कर्तव्य, धर्म्म और धर्म्माङ्ग,दानधर्म्म,नारी धर्म्म, महामण्डलकी आवश्यकता आदि कई एक हिन्दीभाषाके धर्म्मग्रन्थ और अंग्रेजी भाषाके कईएक ट्रैक्स विना मूल्य योग्य पात्रोंको बांटे जाते हैं। पत्राचार करनेपर विदित हो सकेगा। शास्त्र प्रकाशनकी आमदनी इसी दानभण्डारमें दीनदुःखियोंके दुःखमोचनार्थ व्यय की जाती है। इस सभामें जो दान करना चाहें या किसी प्रकार पत्राचार करना चाहें वे निम्न लिखित पते पर पत्र भेजें।

सेक्रेटरी, श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णा-दानभण्डार,
श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल, प्रधान कार्य्यालय,
जगतगंज, बनारस (छावनी)

आर्य्यमहिलाके नियम।

१—श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्‌की मुखपत्रिकाके रूपमें आर्य्यमहिला प्रकाशित होती है।

२—महापरिषद्‌की सब प्रकारकी सभ्या महोदयाओं और सभ्य महोदयोंको यह पत्रिका विना मूल्य दीजाती है। अन्य ग्राहकोंको ६)वार्षिक अग्रिम देने पर प्राप्त होती है। प्रति संख्याका मूल्य१॥)है।

३-पुस्तकालयों (पब्लिक लाइब्रेरियों) वाचनालयों (रीडिंग रूमों) और कन्यापाठशालाओंको केवल ३) वार्षिकमें ही दी जाती है।

४-किसी लेखको घटाने-बढ़ाने वा प्रकाशित करने न करनेका सम्पूर्ण अधिकार सम्पादिकाको है।

५-योग्य लेखकों तथा लेखिकाओंको नियत पारितोषिक दिया जाता है और विशेष योग्य लेखकों तथा लेखिकाओंको अन्यान्य प्रकारसे भी सम्मानित किया जाता है।

६—हिन्दी लिखनेमें असमर्थ मौलिक लेखक लेखिकाओंके लेखोंका अनुवाद कार्यालयसे कराकर छापा जाता है।

७-माननीया श्रीमती सम्पादिकाजीने काशीके विद्वानोंकी एक समिति स्थापित की है; जो पुस्तकें आदि समालोचनार्थ कार्यालयमें पहुंचेंगी, उनपर यह समिति विचार करेगी। जो पुस्तकें आदि योग्य समझी जायँगी उनके नाम, पता और विषय आदि आर्य-महिलामें प्रकाशित कर दिये जायंगे।

८—समालोचनार्थ पुस्तकें, लेख, परिवर्तनकी पत्र-पत्रिकाएँ, कार्य्यालय-सम्बन्धी पत्र, छपने योग्य विज्ञापन और रुपया तथा महापरिषत्सम्बन्धी पत्र आदि सब निम्न लिखित पते पर आने चाहियें।

कार्य्याध्यक्ष, आर्यमहिला तथा महापरिषत्कार्यालय,

श्रीमहामण्डल भवन, जगत्गञ्ज, बनारस।

आर्यमहिला महाविद्यालय।

इस नामका एक महाविद्यालय (कालेज) जिसमें विधवा-आश्रम भी शामिल रहेगा श्रीआर्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद् नामक सभाके द्वारा स्थापित हुआ है जिसमें सत्कुलोद्भव उच्च जातिकी विधवाएँ मासिक १५) से २०) तक वृत्ति देकर भरती की जाती हैं और उनको योग्य शिक्षा देकर हिन्दू धर्म्मकी उपदेशिका, शिक्षयित्री आदि रूपसे प्रस्तुत किया जाता है। भविष्यत् जीविकाका उनके लिये यथायोग्य प्रबन्ध भी किया जाता है। इस विषयमें यदि कुछ अधिक जानना चाहें तो निम्न लिखित पते पर पत्र व्यवहार करें।

प्रधानाध्यापक

आर्यमहिला महाविद्यालय

महामण्डल भवन जगत्गंज बनारस।

एजन्टोंकी आवश्यकता।

श्रीभारतधर्म्म महामण्डल और आर्य्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्के मेम्बरसंग्रह और पुस्तकविक्रय आदिके लिये भारतवर्षके प्रत्येक नगरमें एजण्टोंकी जरूरत है। एजन्टोंको अच्छा पारितोषिक दिया जायगा। इस विषयके नियम श्रीमहामण्डल प्रधान कार्यालयमें पत्र भेजनेसे मिलेंगे।

सैक्रेटरी

श्रीभारतधर्म्म महामण्डल

जगत्गंज बनारस।

भारतधर्म्म प्रेस।

मनुष्यों की सर्वाङ्गीण उन्नति लिखने पढ़ने से होती है। पहिले समय में शिक्षा-प्रचारका कोई सुलभ साधन नहीं था; परन्तु वर्तमान समय में शिक्षा-वृद्धिके जितने साधन उपलब्ध हैं, उनमें 'प्रेस' सब से बढ़कर है।

सनातन धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये भी इस साधन का अवलम्बन करना उचित जानकर श्री भारतधर्म महामण्डल ने निजका

भारतधर्म्म नामक प्रेस।

खोल दिया है। इसमें हिन्दी, अँग्रेजी और उर्दू का सब प्रकार का काम उत्तमता से होता है। पुस्तक, पत्रिकाएँ, हेंडबिल, लेटरपेपर, वालपोस्टर्स, चेक, बिल, हुण्डी, रसीदें, रजिस्टर फार्म आदि छपवाकर इस प्रेस की छपाई की सुन्दरता का अनुभव कीजिये।

पत्र व्यवहार करने का पता:-

मैनेजर

भारतधर्म्म प्रेस

महामण्डल भवन

जगत्‌गंज, बनारस।

हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, काशी में मुद्रित।

श्री भारतधर्म्ममहामण्डलके
सभ्यगण और मुखपत्र।

श्री भारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय काशीसे एक हिन्दी भाषाका और दूसरा अंग्रेजी भाषाका, इस प्रकार दो मासिक-पत्र प्रकाशित होते हैं एवं श्रीमहामण्डलके अन्यान्य भाषाओंके मुखपत्र श्रीमहामण्डलके प्रान्तीय कार्य्यालयोंसे प्रकाशित होते हैं। यथाः—कलकत्तेके कार्य्यालयसे बंगला भाषाका मुखपत्र, फिरोजपुर (पञ्जाब) के कार्य्यालयसे उर्दू भाषाका मुखपत्र और मेरठके कार्य्यालयसे हिन्दीभाषाका मुखपत्र।

श्रीमहामण्डलके पांच श्रेणीके सभ्य होते हैं, यथाः—स्वाधीन नरपति और प्रधान प्रधान धर्म्माचार्य्यगण संरक्षक होते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंके बड़े बड़े ज़मींदार, सेठ, साहुकार आदि सामाजिक नेतागण उस उस प्रान्तके चुनावके द्वारा प्रतिनिधि सभ्य चुने जाते हैं। प्रत्येक प्रान्तके अध्यापक ब्राह्मणगणमेंसे उस उस प्रान्तीय मण्डलके द्वारा चुने जाकर धर्मव्यवस्थापक सभ्य बनाये जाते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंसे पांच प्रकारके सहायक सभ्य लिये जाते हैं। विद्यासम्बन्धी कार्य करनेवाले सहायक सभ्य, धर्म्म-कार्य्य करनेवाले सहायक सभ्य, महामण्डल प्रान्तीयमण्डल और शाखासभाओंको धनदान करनेवाले सहायक सभ्य, विद्यादान करने-वाले विद्वान् ब्राह्मण सहायक सभ्य और धर्म्मप्रचार करनेवाले साधु संन्यासी सहायक सभ्य। पाँचवीं श्रेणीके सभ्य साधारण सभ्य होते हैं जो हिन्दुमात्र हो सकते हैं। हिन्दु कुलकामिनीगण केवल प्रथम तीन श्रेणीकी सहायक-सभ्या और साधारण-सभ्या हो सकती हैं। इन सब प्रकारके सभ्यों और श्रीमहामण्डलके प्रान्तीय मण्डल, शाखा सभा और संयुक्त सभाओंको श्रीमहामण्डलका हिन्दी अथवा अंग्रेज़ी भाषाका मासिकपत्र विना मूल्य दिया जाता है। नियमितरूपसे नियत वार्षिक चन्दा २) दो रुपये देनेपर हिन्दू नर नारी साधारण सभ्य हो सकते हैं। साधारण सभ्योंको विना मूल्य मासिकपत्रिकाके अतिरिक्त उनके उत्तराधिकारियोंको समाज-हितकारी कोषके द्वारा विशेष लाभ मिलता है।

प्रधानाध्यक्ष, श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल, प्रधानकार्य्यालय।

जगत्‌गंज, बनारस।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद् ।

कार्य्यसम्पादिका:—भारतधर्मलक्ष्मी खैरीगढ़राज्येश्वरी महाराणी सुरथ कुमारी देवी. O. B. E. एवं हर हाईनेस धर्म्मसावित्री महारानी शिवाकुमारी देवी, नरसिंहगढ़ ।

भारतवर्षकी प्रतिष्ठित रानी-महारानियों तथा विदुषी भद्र महिलाओंके द्वारा, श्रीभारतधर्म-महामण्डलकी निरीक्षकतामें, आर्यमाताओंकी उन्नतिकी सदिच्छासे यह महापरिषद् श्रीकाशीपुरीमें स्थापित की गई है । इसके निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

(क) आर्यमहिलाओंकी उन्नतिके लिये नियमित कार्य्यव्यवस्थाका स्थापन, (ख) श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित पवित्र नारी-धर्मका प्रचार, (ग) स्वधर्मानुकूल स्त्रीशिक्षाका प्रचार, (घ) पारस्परिक प्रेम स्थापित कर हिन्दूसतियोंमें एकताकी उत्पत्ति, (ङ) सामाजिक कुरीतियोंका संशोधन और (च) हिन्दीकी उन्नति करना तथा (छ) इन्हीं उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये अन्यान्य आवश्यकीय कार्य करना ।

परिषद्के विशेष नियम—१म-इसकी सब प्रकारकी सभ्याओंको इसकी मुखपत्रिका, आर्यमहिला. मुफ्त मिलेगी । २ य-स्त्रियां ही सभ्याएँ हो सकेंगी । ३ य-यदि पुरुष भी परिषद्की किसी तरहकी सहायता करें तो वे पृष्ठपोषक समझे जायँगे और उनको भी पत्रिका मुफ्त मिला करेगी । ४ र्थ-परिषद्की चार प्रकारकी, सभ्याओंके ये नियम हैं:—

(क) कमसे कम १५०) एकवार देनेपर "आजीवन-सभ्या" (ख) १०००) एकही वार वा प्रतिमास १०) देने पर "संरक्षक-सभ्या" (ग) १२) वार्षिक देने पर "सहायक सभ्या" और (घ) ५) वार्षिक देनेपर वा असमर्थ हों तो ३) ही वार्षिक देने पर "सहयोगिसभ्या" आर्यमहिला मात्र बन सकती है ।

पत्रिका सम्बन्धी तथा महापरिषत्सम्बन्धी सब तरहके पत्र-व्यवहार करनेका यह पता है:-

महोपदेशक पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री
कार्याध्यक्ष
आर्यमहिला तथा आर्यमहिलाहितकारिणी महापरिषत्कार्यालय
श्रीमहामण्डल-भवन जगत्गंज, बनारस ।

THE ARYAN BUREAU OF SEERS & SAVANTS.

ESTABLISHED UNDER THE DISTINGUISHED PATRONAGE OF THE LEADERS OF SRI BHARAT DHARMA MAHAMANDAL.

A Committee (Bureau) of this name has been started with the object, amongst others, of establishing a connecting link, through the vehicle of correspondence with those Scholars and Literary Societies that take an interest in questions of Theology, Hindu Philosophy and Sanskrit literature all over the civilised world.

To fulfil the above objects the Bureau intends to take up the following:—

1. To receive and answer questions through *bona fide* correspondence regarding Hindu Religion and Science, Codes, Practical Yoga, Vaidic Philosophy and General Sanskrit Literature.

2. To exhibit to the enlightened world the catholicity of the Vaidic doctrines, and its fostering agency as universal helper towards moral and spiritual amelioration of nations.

3. To render mutual help as regards comparative researches in Science, Philosophy and Literature both Oriental and Occidental.

4. To welcome such suggestions as may emanate from learned source and all over the world conducive to the improvement and benefit of humanity.

5. And to do such other things as may lead to the fulfilment of the above objects or any of them.

RULES OF THE SOCIETY.

1. There are to be two classes of Members, General & Special.

2. The Memberships are to be all honorary.

3. Those who sympathise with the object, and enlist their names and addresses in the Register of the Bureau as Co-operators are considered as general Members.

4. Special members are to be those who shall be qualified to answer points of their respective religions.

5. The Membership of the Bureau will be irrespective of caste, creed and nationality.

6. The spiritual questions will be responded to through correspondence as well as in Debate, Meetings held in the office of the Bureau on dates fixed for the purpose.

7. There is a Secretary and an Assistant Secretary appointed by the Founder of the Bareau (both posts honorary.)

8. All the books, tracts and leaflets that are published concerning the Bureau will be forwarded free to all the Members of the Bureau.

All correspondence to be addressed to—

SWAMI DAYANAND, Secretary,

Aryan Bureau of Seers & Savants.

C/o Sri Mahamandal Office, Benares Cantt. (India.)

N. B.—Oriental scholars, all over the world, are invited to send their names and addresses to facilitate mutual communication and despatch of necessary Papers.